बौद्धभारतीग्रन्थमालायां

एकादशं पुष्पम्

न्यायदर्शनम्

[वात्स्यायनभाष्य-हिन्दीभाषान्तरसम्पन्नम्]

वाराणसी

१९७६

बौद्धभारती ग्रन्थमाला--११

Bauddha Bharati Series--11

न्यायदर्शनम्

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bhārati Series-11

NYĀYA DARŚANA

[NYĀYA-SŪTRAS]

OF

MAHARṢI GAUTAMA

&

BHĀSYA

OF

MAHARṢI VĀTSYĀYANA

Critically edited & Translated by

SWĀMĪ DWĀRIKĀDĀS ŚASTRĪ

Ācārya (Vyākaraṇa, Pāli & Bauddha Darśana)

BAUDDHA BHARATI

VARANASI

1976

थमाला-११

वात्स्यायनभाष्यसंवलितम्

गौतमीयं

न्यायदर्शनम्

[हिन्दीभाषान्तरसम्पन्नम्]

(टिप्पण्यादिसमलंकृतञ्च)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

व्याकरणपालि-साहित्यबौद्धदर्शनाचार्यः

[... खिष्टाब्दः] वाराणसी [२५१९ बुद्धाब्दः

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

न्यायदर्शन के प्रथम संस्करण का विद्वानों ने इतना आदर किया—इसका हमें अपार हर्ष है। इसीसे उत्साहित होकर आज हम इस ग्रन्थ का द्वितीय परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

यह ग्रन्थ बौद्धदर्शन के पूर्वपक्ष के रूप में प्रथम कोटि में आता है। आचार्य दिङ्नाग, आचार्य धर्मकीर्ति तथा आचार्य शान्तरक्षित आदि सभी बौद्ध विद्वानों ने इसी ग्रन्थ को आधार मानकर न्यायमत का खण्डन-मण्डन किया है। विशेषतः आचार्य धर्मकीर्ति ने तो इस ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय द्वितीय आह्निक पर अपने वादन्याय प्रकरणग्रन्थ में अक्षरशः विचार किया है। अतः हमारी यह धारणा उचित ही है कि यह ग्रन्थ बौद्धभारती से प्रकाशित होकर बौद्धदर्शन के अध्ययन-अध्यापन में भी पूर्ण सहायक होगा।

साथ ही हमारी योजना यह भी है कि बौद्धभारती से अन्य दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थों का भी प्रामाणिक हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया जाय, ताकि बौद्धदर्शन के अध्ययन की सुदृढ परम्परा पुनरुज्जीवित हो सके।

इस योजना में विद्वानों का सहयोग अपेक्षित है।

बुद्धपूर्णिमा, २०३३ वि०
वाराणसी

सम्पादकीय

त्रीन् गकारान्नमस्कृत्य गुरुं गां चैव गौतमम् ।
न्यायदर्शनमाश्रित्य वक्ष्ये किञ्चिद् यथामति ।।

दर्शन की उपयोगिता

मनुष्य क्या है ? कौन है ? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है ? यह संसार क्या है ? इसकी सृष्टि कैसे होती है ? इसका स्रष्टा कौन है ? मनुष्य को कैसा जीवन बिताना चाहिये ? ईश्वर तथा कर्म क्या है ? इत्यादि अनेक विचार मानव को प्रारम्भ से ही, जब से भी उसमें विचार करने की शक्ति आयी हो, द्वैविध्य में डालते रहे हैं । तत्त्वदर्शियों के मत में मानव को इन विषयों का तत्त्वज्ञान हो सकता है । इसी को भारतीय तत्त्वदर्शी 'सम्यग्दृष्टि' या 'दर्शन' कहते हैं । सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते, परन्तु जिनको यह 'सम्यग्दर्शन' नहीं है वे भवबन्धन में ही फँसे रहते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि 'दर्शन' उक्त सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देकर मानव को लक्ष्य तक पहुँचा देता है ।

भारतीय दर्शनों की विचार-प्रणाली व्यापक है, प्राचीन या आधुनिक, वैदिक या अवैदिक, आस्तिक या नास्तिक—सभी भारतीय तत्त्वदर्शी स्वपक्षस्थापन के समय परपक्ष पर अवश्य विचार करते आये हैं । इसी लिये सर्वदर्शनसंग्रहकार ने जहाँ वैदिक धर्मानुयायी तथा ईश्वरवादी भारतीय दर्शनों का संग्रह किया है वहाँ उन्होंने चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का भी अपने ग्रन्थ में संग्रह किया है । यह बात दूसरी है कि स्वयं माधवाचार्य एक वैदिक दार्शनिक थे, अतः उन्होंने उक्त नास्तिक दर्शनों को सर्वप्रथम (पूर्वपक्ष के रूप में) ही रखा । फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतीय दार्शनिकों की विचार-दृष्टि व्यापक तथा उदार रही है ।

इसी व्यापक दृष्टि के कारण, प्रत्येक भारतीय दर्शन की शाखा अपने आप में सम्पन्न है । निदर्शन के रूप में, हम इस न्यायदर्शन को ही लें—इस न्यायदर्शन में चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक, तथा वेदान्त आदि सभी अन्य दर्शनों पर यथास्थान विचार किया गया है । यों, भारतीय दर्शनों में प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक स्वतन्त्र कोष है । हम यह प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि जिस विद्वान् को भारतीय दर्शनों का सम्यक्तया ज्ञान है, वह पाश्चात्त्य दर्शनों की जटिल प्रणाली का भी सुगमतया अवगमन कर सकता है ।

दर्शनों का विभाग

भारतीय दर्शनों का विभाजन करने से पूर्व हम यह मान लेते हैं कि सभी दर्शन 'वेद' तथा 'ईश्वर' को वृत्त मानकर चले हैं । इसी वृत्त के सहारे वे आस्तिक या नास्तिक तथा वैदिक या अवैदिक यों दो स्थूल भागों में विभक्त हो गये । वेद को न माननेवाले दर्शन तीन हैं—१. चार्वाक, २. जैन, तथा ३. बौद्ध । इन तीनों को वेद का प्रामाण्य न

मानने के कारण दार्शनिक लोग अवैदिक या वेदविरोधी संज्ञा से उद्बोधित करते है। और वेदानुकूल दर्शनों में हम प्रधानतः इन दर्शनों को रखते हैं—१. मीमांसा २. वेदान्त, ३. सांख्य, ४. योग, ५. न्याय, तथा ६. वैशेषिक।

'नास्तिक' शब्द का अर्थ दो तरह से लिया जाता है, पहला प्रामाणिक अर्थ यह है कि 'जो परलोक को न माने'। इस अर्थ के अनुसार चार्वाक दर्शन को छोड़कर अवशिष्ट सभी दर्शन 'आस्तिक' कहलाते हैं। परन्तु इस 'नास्तिक' का आज यह भी प्रचलित अर्थ है कि 'जो ईश्वर को न माने'। इस अर्थ में वे ही दर्शन 'नास्तिक' हैं जो अवैदिक हैं। तथा आस्तिक दर्शनों में साधारणतः हम उनकी गणना करते हैं, जिन्हें हम पहले 'वैदिक' कह आये हैं।

वेदानुकूल दर्शनों में भी दो स्थूल भेद हैं; एक तो वे जो वेदवचन को ही एकान्ततः प्रमाण मानते हैं, दूसरे वे जो वेदों के साथ-साथ लौकिक विचारों (युक्तियों) को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। इनमें प्रथम कोटि में मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन का स्थान है; क्योंकि मीमांसा वेद के कर्मकाण्ड पर आधृत है तथा वेदान्त उसके ज्ञानकाण्ड उपनिषदों पर। दूसरी विचार-कोटि के दर्शन हैं, जैसे—न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा योग। ये वेदवचन के साथ-साथ तर्क को भी उतना ही महत्त्व देते हैं। इनमें भी न्यायदर्शन तो तर्क का सर्वाधिक आश्रय लिये हुए है। यह अपनी छोटी से छोटी या वड़ी से वड़ी वात विना तर्क के कहना-सुनना चाहता ही नहीं। इसी लिये इसका एक दूसरा नाम 'तर्कशास्त्र' भी है।

'आप्तवचन को प्रमाण' मानने के आधार भी दर्शनों के दो भेद हैं—एक वे जो सृष्टि के मूल कारण, ईश्वर की सत्ता या स्वरूप, आत्मा की सत्ता या स्वरूप-आदि विषयों पर विचार करते समय आप्तवचन को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, जैसे—मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक दर्शन तथा जैन, बौद्ध आदि अवैदिक दर्शन। जैसे मीमांसा या वेदान्त दर्शन श्रुतिवाक्यों को 'आप्तवचन' के रूप में प्रयुक्त करते हैं उसी तरह बौद्ध दार्शनिक भगवान् बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हुए उनके वचनों को आप्तवचन के रूप में प्रयुक्त करते हैं। जैनदर्शन भी अपने तीर्थङ्करों की सर्वज्ञता स्वीकार कर उनके वचन प्रमाणरूप से उपस्थित करता है। परन्तु न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों के लिये यह वात नहीं कही जा सकती; ये दर्शन श्रुति को 'आप्तवचन' तो मानते हैं, किन्तु उसी को सव कुछ मान कर इसी के सहारे अपनी वात पर आग्रह नहीं करते, अपितु अपनी बात को तार्किक युक्तियों के आधार पर रखते हैं। हाँ, तार्किक युक्तियों के साथ-साथ श्रुतिवचनों को भी ये प्रमाणत्वेन उपस्थित करते हैं। यह एक वड़ा भेद है।

न्यायशास्त्र नाम क्यों ?

यह न्यायदर्शन 'प्रमाण' पर सर्वाधिक बल देता है; क्योंकि प्रत्यक्ष, परोक्ष पदार्थों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर सकने का साधन एकमात्र वही है। यद्यपि यह बात कही जा सकती है कि योगियों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सभी तरह का ज्ञान होता रहता है,

परन्तु योगिज्ञान में भी तरतम-भेद के कारण वह सब के लिए सर्वथा प्रमाण नहीं हो सकता। अथच, पूर्ण योगी की बात 'आप्तवचन' में ही सम्मिलित मानी जायेगी। जब कि हम कह चुके हैं कि यह दर्शन 'आप्तवचन' को ही एकान्ततः प्रमाण नहीं मानता, अपितु साधारण जन को बोधगम्य बनाने के लिये, कोई भी बात प्रमाण के आधार पर कहता है। प्रमाणों में भी यह दर्शन 'अनुमान प्रमाण' को अधिक महत्त्व देता है; क्यों कि आध्यात्मिक विषय (जो कि इस दर्शन के लक्ष्य हैं) अनुमानप्रमाणैकगम्य हैं।

अनुमान प्रमाण में परार्थानुमान की प्रतिज्ञादि-पञ्चावयवकल्पना 'अक्षपाद' की अपनी है। यह कल्पना तर्कशास्त्र में ऐसी खरी उतरी कि अक्षपाद के बाद सभी दार्शनिक इसी कल्पना के सहारे स्वपक्षस्थापन का प्रयास करते रहे हैं। इसी से इस कल्पना का महत्त्व सिद्ध है।

इस कल्पना में अनुमान तथा तर्क गणित की तरह रखे जाने से, वह साधारणजन को भी समझ में आ जाती है। उदाहरण के लिये—सामने पर्वत पर कहीं धूम दिखायी दे रहा है, हम समझ गये कि वहाँ अग्नि है; परन्तु अपने सहयोगी को यह बात समझाने के लिये कि उसे भी पर्वतस्थ अग्नि का हमारी तरह पूर्ण विश्वास हो जाये, हम इस बात को पाँच वाक्यावयवों में रखेंगे। उन वाक्यावयवों को क्रमशः—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय तथा ५. निगमन कहते हैं। जैसे—'यह पर्वत अग्निमान् है, क्योंकि वहाँ धूम दिखाई दे रहा है, महानस की तरह—जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है जैसे महानस, उसी तरह का यह है, अतः यह पर्वत अग्निमान् है'। इस वाक्य में पहले अपनी बात की प्रतिज्ञा की गयी कि 'पर्वत अग्निमान् है,' फिर उसमें हेतु दिखाया गया—'क्योंकि वहाँ धूम दिखायी देता है'; फिर उस प्रतिज्ञा तथा हेतु में अन्यत्र धूमदर्शन का व्यापक दृष्टान्त दिया गया—'महानस की तरह, जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है जैसे महानस'; अब फिर प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त का उपनय (संगमन) किया गया कि 'उसी तरह का यह है'; यों कह कर पर्वत में अग्निमत्त्व सिद्ध करके अन्त में फिर निगमन कर दिया (अपनी प्रतिज्ञा दुहरा दी)—'अतः यह पर्वत अग्निमान् है'। अपनी बात को यों तर्क के साथ रखने से हमारे सहयोगी को भी विश्वास हो गया कि पर्वत में अग्नि है।

अपरोक्ष पदार्थों के विषय में यह प्रणाली अपनायी जाये तो हम किसी भी बात का सुगम रीति से तत्त्वनिर्णय कर सकते हैं; क्योंकि यह तर्कप्रधान है। अक्षपाद ने अपने दर्शन में आदि से अन्त तक यही प्रणाली अपनायी है, अतः इस तर्कप्रधान प्रणाली के आधार पर इस दर्शन का नाम ही 'तर्क' या 'न्याय' पड़ गया। इसी लिए वात्स्यायन ने भी कहा है—'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्; साऽन्वीक्षा' अर्थात् प्रमाणों से अर्थपरीक्षण 'न्याय' कहलाता है, वह प्रमाण है प्रत्यक्ष तथा आगम के अनुकूल अनुमान; इस अनुमान को ही 'आन्वीक्षिकी विद्या' कहते हैं। इसकी प्रशस्ति में वे कहते हैं—

'प्रदीप: सर्वविद्यानाम्, उपाय: सर्वकर्मणाम् ।
आश्रय: सर्वधर्माणाम्, विद्योद्देशे प्रकीर्तिता' ।।

न्यायदर्शन का वर्ण्य विषय

महर्षि गौतम का यह न्यायदर्शन एक वस्तुवादी दर्शन है। इस में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन तर्क (युक्ति) द्वारा ही हुआ हैं। इस दर्शन के अनुसार चार प्रमाण हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।

१. विषय का साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। यह विषय तथा इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्षज्ञान 'वाह्य' भी हो सकता है और 'आभ्यन्तर' भी। विषय का किसी इन्द्रिय से संयोग होने से जो प्रत्यक्ष होता हो वह 'वाह्य' प्रत्यक्ष तथा उसका केवल मन से संयोग हो तो 'आभ्यन्तर' कहलाता है।

२. 'अनुमान' केवल इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता, वह किसी ऐसे लिङ्ग या साधन के ज्ञान पर निर्भर करता है जिससे अनुमीयमान वस्तु या साध्य का एक नियत सम्बन्ध रहता है। इस नियत सम्बन्ध को हम 'व्याप्ति' कहते हैं। 'साध्य' उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व पक्ष में सिद्ध करना हो। 'साधन' उसे कहते हैं जिसका साध्य के साथ नियत साहचर्य देखा गया हो तथा जो पक्ष में वर्तमान हो। साधारणतः अनुमान में कम से कम तीन लघु पद होते हैं। इनमें प्रथम 'पक्ष', द्वितीय 'साध्य' तथा तृतीय 'साधन'का बोधक होता है। जैसे यह अनुमान प्रयोग लें—'पर्वत वह्निमान् है, धूमवान् होने से'। यहाँ पर्वत 'पक्ष' है, वह्नि 'साध्य' है तथा धूम 'साधन' है।

३. उपमान में संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। सादृश्यज्ञान द्वारा जो संज्ञा तथा संज्ञी का सम्बन्ध-ज्ञान होता है उसे 'उपमान' कहते हैं। उदाहरण के लिए—यदि 'गवय' की संज्ञा (नाम) हमें ज्ञात रहे तथा हम उसके आकार के विषय में भी यह जानते रहें कि वह गोसदृश होता है तो किसी दिन उसके सामने आने पर हम उसे पहचान सकते हैं कि वह गवय है। यह गवयज्ञान हमें 'उपमान' प्रमाण से होता है।

४. आप्त (विश्वसनीय) पुरुषों के उपदेश (कथन) से भी हमें अज्ञात विषयों के वारे में ज्ञान होता है। जैसे—राम, कृष्ण या अशोक, चन्द्रगुप्त आदि के वारे में हम प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं जानते कि वे कब हुए हैं; परन्तु ऐतिहासिकों ने जो कुछ उनके वारे में लिखा है उससे हम मानते हैं कि वे सब उक्त-उक्त समय में हुए थे। या हम नहीं जानते कि हरीतकी विवन्धघ्न है, परन्तु वैद्य के उपदेश से हम उसे खाते हैं और हमारा विवन्ध समाप्त हो जाता है।

न्यायदर्शनकार इन चार प्रमाणों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण को नहीं मानते; अन्यमतावलम्वी दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति, अभाव-आदि को वे इन्हीं चारों में से किसी न किसी के अन्तर्गत सिद्ध करते हैं।

इस न्यायदर्शन में इन विषयों को 'प्रमेय' (प्रमाणों से जानने योग्य) माना है— आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, तथा इन्द्रियों के अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव,

फल, दुःख तथा अपवर्ग। इनमें 'आत्मा' मन तथा शरीर से भिन्न है। ('न्यायदर्शन' का लक्ष्य इस आत्मा को शरीर, इन्द्रिय तथा उनके विषयों के बन्धन से मुक्त कराना है।) 'शरीर' का निर्माण पृथ्वीप्रधान होता है। 'मन' अणु, सूक्ष्म तथा नित्य है; यह आत्मा के लिये सुख, दुःख आदि गुणों के अनुभव के लिए एक निमित्त है। यद्यपि अक्षपाद ने मन का इन्द्रियत्व स्वोक्त्या सिद्ध नहीं किया, परन्तु 'समानतन्त्रसिद्धान्त' से उसको 'अन्तरिन्द्रिय' माना है। जब आत्मा का मन तथा इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु से सम्बन्ध होता है तो उसे एक सुखानुभूति होती है, यह सुखानुभूति आत्मा का नित्य गुण नहीं है। जब मन तथा इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु से सम्बन्ध होता है तभी उस विषय का सुखानुभव या ज्ञान आत्मा को होता है। 'अपवर्ग' दशा में आत्मा इन सम्बन्धों से मुक्त रहता है। मन परमाणु है; परन्तु आत्मा अमर तथा नित्य है। आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त होता है, यही विषयों में राग या द्वेष करता है, यही कर्मों के शुभाशुभ फलों का भोक्ता है। मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष तथा मोह से प्रेरित हो कर आत्मा शुभाशुभ कर्म करता है। इन्हीं के कारण यह 'आत्मा' जन्म-मरण के जाल में फँसता है। 'तत्त्वज्ञान' द्वारा जब इसके सभी दुःखों का अन्त हो जाता है तो इस को मुक्ति मिल जाती है।

इसी अवस्था को 'अपवर्ग' कहते हैं। अन्य दार्शनिकों की तरह नैयायिक इस अवस्था को आनन्दमयी न मानकर सुखानुभवहीन मानते हैं। इनके मतमें, अपवर्गावस्था में आत्मा को कोई सुख या दुःख की अनुभूति नहीं होती।

न्यायदर्शन 'ईश्वर' को अनेक युक्तियों से सिद्ध करता है। जैसे—पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत आदि सभी पदार्थ कार्य हैं, अतः इन पदार्थों का निर्माण किसी अन्य कर्ता द्वारा अवश्य हुआ है। मनुष्य संसार का निर्माता नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी बुद्धि तथा शक्ति अत्यल्प है। वह सूक्ष्म तथा अदृश्य वस्तुओं का निर्माण इतनी कलात्मक तथा सूक्ष्म पद्धति से करने में समर्थ नहीं हो सकता। वह निर्माता (ईश्वर) सर्वशक्तिमान्, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्यसम्पन्न तथा सर्वज्ञ है। न्यायदर्शन यह मानता है कि ईश्वर ने इस संसार को अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये नहीं; अपितु प्राणियों के कल्याण के लिये बनाया है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वह दयालु होने के कारण मनुष्य के लिये सुख ही सुख के साधन बना दे, तथा दुःख का सर्वथा अभाव कर दे। मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता है, अतः वह शुभ या अशुभ कोई भी कर्म कर सकता है; तदनुकूल ही उसे सुख-दुःख भोगना पड़ेगा। हाँ, यहाँ आकर, उस ईश्वर के अनुग्रह या मार्गदर्शन से मनुष्य उपर्युक्त प्रमेयों का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर इस भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। इस तरह ईश्वर इस जगन्निर्माण का यथेच्छ सामर्थ्य रखते हुए भी प्राणियों के शुभाशुभ अदृष्टों के अनुकूल ही सृष्टि करता है। फिर भी उसका अनुग्रह अवश्य रहता है कि प्राणी शुभ की ओर ही प्रवृत्त हों तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ले।

न्यायदर्शन की विशेषताएँ

न्यायदर्शन अपनी प्रमाण-विचार की इस विलक्षण पद्धति के कारण ही उच्च तथा महान् है। प्रमाण-विचार पर ही उसका समग्र दार्शनिक मत आधृत है। प्रायः अन्य दर्शनों पर पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा यह आक्षेप किया जाता है कि ये दर्शन केवल श्रुति-वाक्यों (शब्दप्रमाण) पर आधृत हैं, इनके पास अपना मत सिद्ध करने के लिये कोई दृढ तर्क (युक्ति) नहीं; परन्तु न्यायदर्शन पर यह आक्षेप लगाने का कौन साहस कर सकता है! न्यायदर्शन में प्रमाण तथा प्रमेय सम्बन्धी सभी छोटे-बड़े प्रश्नों का तर्कप्रसूत समाधान मिलता है। यह दर्शन अपने प्रमाण-विचार की सूक्ष्म पद्धति से ही तत्त्वज्ञान तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, इसी के द्वारा विरोधिमतों का खण्डन भी करता है।

इस दर्शन के अनुसार इस संसार में परमाणु, मन, आत्मा तथा ईश्वर नामक अनेक स्वतन्त्र सत्तायें हैं जो दिक्, काल तथा आकाश में परस्पर भिन्नतया स्थित हैं। यह समग्र विश्व में ईश्वर की ही परम सत्ता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, अतः इसे अद्वैतवादी दार्शनिक भले ही अपने से कुछ हीन समझ लें; परन्तु इस दर्शन ने जो बातें युक्तियों द्वारा रखी हैं उसके विरुद्ध वे केवल आप्त वचन के आधार पर प्रतिज्ञामात्र से कैसे सिद्ध कर सकते हैं! हम तो यह मानते हैं कि न्यायदर्शन का यह आस्तिकवाद ही आज के युग में हम लोगों के लिये अत्यधिक शिक्षाप्रद तथा एक प्रकार से मार्ग-दर्शक है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में साम्य

महर्षि कणाद-प्रणीत वैशेषिक दर्शन भी न्यायदर्शन का 'समान तन्त्र' है। वह भी सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयसाधिगम मानता है। यों कहिये कि उस दर्शन के भी अभिधेय, प्रयोजन तथा सम्बन्ध वही हैं जो न्यायदर्शन के हैं, अतः दार्शनिकों के समूह में ये दोनों एक ही कहलाते हैं। अर्थात् वैशेषिकदर्शन में आत्मादि प्रमेयों की सिद्धि मुख्यतः अनुमान से की गयी है, अतः अन्य दार्शनिक वैशेषिक को भी न्याय-शास्त्र ही कह देते हैं। परन्तु उस दर्शन में पदार्थनिरूपण में सामान्य तथा विशेष पदार्थों का विशेष (अधिक) निरूपण है, अतः उसे इसी आधार पर 'वैशेषिक' कहते हैं।

एक बात और, कणाद अपने 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इस सूत्र के आधार पर यह मानते हैं कि वेदविहित धर्म के श्रवण-मनन के साथ-साथ पदार्थ तत्त्वज्ञान से 'अपवर्ग' होता है, केवल पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नहीं। जबकि अक्षपाद अपने दर्शन में 'धर्म' का ऐसा कोई बन्धन नहीं लगाते। 'न्याय' से यह धर्म-विशेषता होने के कारण भी उस दर्शन का नाम 'वैशेषिक दर्शन' पड़ा।

सूत्रकार की शैली

अक्षपाद अपनी बात कहने के लिये उनके समय में प्रचलित सूत्रपद्धति ही अपनाते हैं। फिर भी हम देखते हैं कि अन्य सूत्रकारों की अपेक्षा उतने लघु वाक्यों में भी

वे अधिक सफल हुए हैं। सम्पूर्ण न्यायसूत्रों में सब मिलाकर १०-१५ सूत्र ही ऐसे हैं जहाँ उस सूत्र का 'अर्थादापन्न' वाक्यावयव छूटा हो; अन्यथा आचार्य ने प्रत्येक सूत्र में यह ध्यान रखा है वह अपने आप में विना किसी 'अर्थापत्ति' के ही अपना असन्दिग्ध अर्थ बताये। यह आवश्यक भी था; क्योंकि ज्ञात होता है कि न्याय-सूत्रों का प्रणयन उस समय हुआ, जब विरोधी दार्शनिक (जैन, बौद्ध आदि) अपनी बात को जनता की सरल भाषा में जनता की विचारणा के ढंग से जनता के सामने रखने में समर्थ हो रहे थे, तथा उसमें उन्हें सफलता भी मिलती जा रही थी। इस पृष्ठभूमि के रहते अक्षपाद के सामने भी यही मार्ग था कि वह भी जनता की भाषा में, जनता के हितार्थ, जनता की विचारणा के ढंग से ही जनता के सामने अपनी बात को रखते।

यह तो स्पष्ट है कि अक्षपाद के प्रधान विरोधी बौद्ध दार्शनिक थे; वे ईश्वर, बाह्यार्थ तथा नित्यता आदि का खण्डन प्रवलतम युक्तियों से कर रहे थे; उधर चार्वाक उसके साथ-साथ 'कर्म' को भी 'अर्धचन्द्रिका' दे रहे थे। वह समय मीमांसकों या वेदान्तियों की तरह वेद की शपथ खाने का नहीं था; अपितु उन्हीं की तरह, उन्हीं की भाषा में, [illegible]त्रीं की युक्तियों से जनता को यह समझाना आवश्यक था कि 'ईश्वर' तथा 'कर्म' भ[illegible] [illegible]नव जीवन में 'कुछ' हैं। यही कारण ज्ञात होता है कि अक्षपाद ने विरोधी तथा स्वपक्ष (मीमांसा, वेदान्त)—दोनों का ही मार्ग छोड़कर एक मध्यम मार्ग पकड़ा, जो 'ईश्वर' को सब कुछ का कर्ता-धर्ता बताकर मानव को 'अलस' न बना दे, न जैन या बौद्धों की तरह उसे कुछ भी न मानकर मानव को 'उद्दण्ड' बना दे, और न चार्वाकों की तरह 'कर्म' को कुछ भी न मानकर मानव को एक 'शिश्नोदर-परायण पशु' बना दे। अतः अक्षपाद ने समय को पहचान कर 'ईश्वर' की सत्ता प्रबल तर्कों से सिद्ध करके भी उसे सृष्ट्युपादान कारण नहीं माना, उसे 'सर्वस्वतन्त्र' नहीं माना; अपितु यों कहिये कि उसे जनतन्त्र के संवैधानिक सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित किया, दूसरे अपने ही वर्ग के दार्शनिकों की तरह उसे 'अधिनायक' कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ नहीं माना, यह पद उन्होंने 'कर्म' को दिया। यह उचित भी था, क्योंकि यही बात तर्क से सिद्ध होती है। यह तर्क इस ग्रन्थ में यथाप्रसङ्ग अनेकधा देखने को मिलेगा।

भाष्यकार वात्स्यायन

'सूत्रपद्धति' में संक्षिप्तादोष तो है ही। वाक्य कितना भी स्पष्टार्थ क्यों न हो यदि वह लघु है तो यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधारण जन उसका वही अर्थ समझे जो सूत्रकार को अभिप्रेत हो। इसके लिये उस सूत्र की अधिकारी पुरुष द्वारा कुछ व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है, जो सूत्रकार के हृदय को सम्यक्तया समझ चुका हो। न्यायसूत्रों की व्याख्या वात्स्यायन ने अपने भाष्य के रूप में जैसी की है, उससे प्रत्येक जिज्ञासु सन्तुष्ट हो सकता है। यह शैली 'नातिह्रस्वा, नातिदीर्घा' है, इससे जिज्ञासु अर्थानवबोध के कारण न तो असन्तुष्ट होता है, न अतिविस्तार के कारण घबराता ही

हैं। वात्स्यायन ने प्रश्नोत्तर के रूप में, वादी प्रतिवादी के संवाद-रूप में जैसे सूत्रकार का अभिप्राय समझाया है, ऐसा उदाहरण 'पातञ्जल महाभाष्य' के अतिरिक्त अन्य भाष्यों में अधिक नहं मिलता। विषय पर पूर्ण अधिकार, भाषा सरल, नपे-तुले शब्द, स्थान-स्थान पर लौकिक उपमा तथा मुहावरों का स्वच्छन्द प्रयोग—ये सब मिल कर विषय की शुष्कता को अपसारित किये रहते हैं। इतने पर भी सूत्रकार के प्रति अगाध श्रद्धा कि समग्र भाष्य में किसी भी सूत्र के किसी भी शब्द के खण्डन के लिए एक वाक्य भी प्रयुक्त नहीं। यह विनय हम इस भाष्यकार में ही देखते हैं, या फिर महाभाष्यकार पतञ्जलि में। अस्तु।

न्याय-सूत्रों की रचना

वात्स्यायन ने अपने भाष्य में अत्यधिक स्थलों पर ऐसे लघु वाक्यों का प्रयोग किया है कि उन वाक्यों के सूत्र होने का सन्देह होता है। भाष्यकार की यह शैली है कि वे सूत्र का अक्षरार्थ कर पुनः विस्तृत व्याख्यान करने के लिए अपनी बात को पहले संक्षेप (एक वाक्य) में रखते हैं, फिर उसका अनेक वाक्यों में व्याख्यान करते हैं। ये संक्षिप्त वाक्य प्रारम्भ में जैसे रहे हों आगे चलकर न्यायदर्शन के सूत्रों को नियत रखने में बाधक बन बैठे। कारण कि, प्रतिपक्षी दार्शनिक जब नैयायिकों के तर्कों से पराभूत होने लगे तो उन्होंने भी इन न्यायसूत्रों में स्वमतपोषक सूत्र बना बनाकर प्रक्षिप्त करने आरम्भ कर दिये।

अन्त में **वाचस्पति मिश्र** ने अपनी अनुपम प्रतिभा तथा प्रगाढ पाण्डित्य का प्रयोग कर इन सूत्रों का प्रामाणिक संग्रह 'न्यायसूची-निबन्ध' नाम से प्रकरणानुसार निबद्ध कर दिया। इस तरह विरोधियों के आक्रमण पर तो अर्गला लग गयी, परन्तु घर में ही ऐसा विवाद हो गया कि जो आजतक शान्त नहीं हो सका। विरोधियों की बात जाने भी दें तो भी हम नहीं समझ पाये कि नैयायिकपरम्परा के प्रामाणिक व्याख्याताओं के भी सूत्रसंग्रह क्यों नहीं मिल पाते। वार्तिककार **उद्द्योतकर** के व्याख्यात सूत्र उतने ही नहीं हैं जितने उसके व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र** ने माने हैं; यही दशा **उदयन** की है, 'तात्पर्यपरिशुद्धिकार' **उदयन** को प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर लिखना पड़ा है कि 'यह सूत्र नहीं भाष्य है' या 'यह भाष्य नहीं सूत्र है'। **विश्वनाथ चक्रवर्ती** भी उतने सूत्रों को नहीं लेते, जितनों के लिये वाचस्पति मिश्र प्रतिज्ञा करते हैं कि 'इतने सूत्र हैं'। यही मनोदशा भाष्यचन्द्रकार **रघूत्तम** की है।

दूर क्यों जायें—हम अपनी ही कहें, हमने यह अनुवाद करते समय यह धारणा बनायी थी कि **वाचस्पति मिश्र** का 'सूत्रसंग्रह' प्रामाणिक है, हमें इसी के अनुसार सूत्र रखने हैं, तथापि पञ्चाधिक स्थलों पर हम भी उस पिच्छिल राजपथ से विचलित हो गये; क्योंकि वहाँ हम प्रकरणानुसार उन्हें सूत्र मानने के लिये विवश हैं, परन्तु वे सूत्र 'न्यायसूचीनिबन्ध' में परिगणित नहीं हैं। बहुत कुछ ऊहापोह के बाद हम इसी निष्कर्ष

पर पहुँचे हैं कि **वाचस्पति मिश्र** का मुख्य लक्ष्य इतना ही था कि विरोधियों द्वारा प्रक्षिप्त दर्शनविरोधी सूत्रों को निकाल कर प्रामाणिक सूत्रसंग्रह बनाया जाये। यदि कोई विद्वान् कहीं सूत्रानुकूल भाष्यवाक्य को सूत्र समझकर व्याख्यान कर ही दे तो उससे वस्तुतत्त्व में क्या अन्तर आयेगा !

भाषान्तर के विषय में दो बात

हम कोई बहुत बड़े नैयायिक नहीं, न सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् हैं; फिर भी न्याय-दर्शन ऐसे महत्त्वशाली ग्रन्थ को स्पर्श कर हमने कोई बहुत अधिक मूर्खता नहीं की ! विचारशील मानव अपने प्रारम्भ के क्षणों (अध्ययनकाल) में अपने जीवन के कुछ लक्ष्य निर्धारित करता है, उन्हें पूर्ण करने के लिये वह तभी से प्रयास प्रारम्भ कर देता है। अपनी भी यही मनोदशा थी। विद्यालयों में बैठ कर जब अध्ययन होता था तो स्थल-स्थल पर यह भाव उठते थे कि विवादास्पद विषयों (शास्त्रार्थ) को छोड़ कर कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन इतना भी करा देता कि ग्रन्थ का तत्त्वबोध भी हो जाता और व्यर्थ के भार से भी बच जाते।

तभी हमने यह निश्चय किया था कि इन पुस्तकों का ऐसा हिन्दी रूपान्तर या संस्कृत की सरल टीका कर देनी है जो व्युत्पन्न विद्यार्थी को अत्यधिक स्वावलम्वी बना सके।

इस अनुवाद को लिखते समय हमने अपनी विद्यार्थिकाल की मनोदशा को प्रतिक्षण ध्यान में रखा है। हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमारा यह प्रयास हमारे ही समानधर्मा विद्याव्यसनियों के लिये है। हो सकता है, एकाधिक स्थलों पर हम से कुछ प्रमाद हो गया हो; परन्तु यदि मित्रगण अध्ययन-अध्यापन के समय आयी असुविधाओं को हमें सूचित करते रहेंगे तो इसके आगामी संस्करण तथा अन्य दर्शनों के हिन्दी-रूपान्तर में उनका परिमार्जन अवश्य कर देंगे।

अनुवाद को आद्योपान्त पढने पर अनुवाद की भाषा के विषय में हमारे विचार स्पष्टतः आप के सामने आ जायेंगे--ऐसी हमें आशा है। हम मिश्रित हिन्दी (सरल हिन्दी) में विश्वास नहीं रखते। दर्शन के कुछ गूढ तथा पारिभाषिक शब्द हैं, कुछ श्रद्धेय वाक्य हैं, कुछ प्रबल तर्क हैं जो चालू भाषा में प्रयुक्त किये जाने पर अपना महत्त्व विनष्ट कर बैठते हैं, उनकी गुरुता समाप्त हो जाती है। अतः हम विवश थे कि भाषा को निम्नस्तर तक न पहुँचने दें। फिर भी हमने भाषा को प्रवाहित रखने का प्रयास किया है। हमारा सौभाग्य यह था कि **वात्स्यायन** भाष्य, जिसका हमें अनुवाद करना था, बहुत प्राञ्जल भाषा में है; उससे भी अत्यधिक अवलम्ब मिला।

कार्तिकी पूर्णिमा, २०२३ वि०
वाराणसी

विद्वद्वशंवद
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

विषय-सूची

अत्राक्षपादसूत्राणां विषयाः परिदर्शिताः ।
विषयादिश्च पृष्ठान्तः क्रमोऽयमवलोक्यताम् ॥

वात्स्यायनभाष्यसंवलितम्

न्यायदर्शनम्

[हिन्दीभाषान्तरसहितम्]

❀ तस्मै श्रीगुरवे नमः ❀

वात्स्यायनभाष्यसंवलितम्

न्यायदर्शनम्

[हिन्दीभाषान्तरसहितम्]

प्रथमोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

अनुबन्धचतुष्टयप्रकरणम् [१-२]

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम् ।

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति, जिहासति वा । तस्येप्सा-जिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाऽभि-सम्बन्धः । समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा ।

अर्थस्तु—सुखं सुखहेतुश्च, दुःखं दुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात् ।

प्रमाण से उपादेय, हेय स्वरूप द्विविध अर्थों (इच्छाओं) की प्रतीति होनेपर ही कायिक (वाह्य, आभ्यन्तर) प्रयत्नों का सामर्थ्य देखा जाने से प्रमाण सप्रयोजन कहा जाता है ।

प्रमाण के विना अर्थ-प्रतीति नहीं होती, अर्थ-प्रतीति के विना प्रयत्न-सामर्थ्य नहीं हो सकता । निश्चय ही विज्ञजन प्रमाण से उस अर्थ को यथार्थ जानकर या तो ईप्सित (ग्राह्य) को चाहते हैं या जिहासित (त्याज्य) को छोड़ देते हैं । इस ईप्सा और जिहासा को लेकर जो प्रयत्न किया जाता है, वही 'प्रवृत्ति' कहलाता है । इस प्रवृत्ति का फल से अभिसम्बन्ध (फलसाधकत्व) 'सामर्थ्य' कहलाता है । प्रयत्न करता हुआ पुरुष यदि उस अर्थ को चाहता है तो प्राप्त कर लेता है, और छोड़ना चाहता है तो छोड़ देता है ।

यह प्रवृत्तिविषय अर्थ चार प्रकार का होता है—१. सुख, २. सुखहेतु, ३. दुःख, ४. दुःखहेतु । इस प्रमाण से गम्य अर्थ का वस्तुतः हम संख्या से विभाजन नहीं कर सकते; क्योंकि प्राणियों की संख्या असीम है । [प्रत्येक प्राणी अपनी स्थिति रखता है,

अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेयम्, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति। कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते।

किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावः, असतश्चासद्भावः। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्च असदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।

कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति? सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्। यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति; 'यद्यभविष्य-

---

जो अर्थ एक के लिये सुख का साधन हो सकता है, वही दूसरे के लिये दुःख का साधन बन सकता है। जैसे—बकरी के लिये वृक्ष के कोमल पत्ते मृदु होने से सुख के साधन (सुखोत्पादक) हैं, परन्तु वे ही ऊँट के लिये दुःखोत्पादक हो जाते हैं। उसी तरह ऊँट के लिये काँटेदार-झाड़ियों के पत्ते सुखोत्पादक हैं, वही बकरी के लिये दुःखोत्पादक। इसी प्रकार एक साधारण गृहस्थ के लिये स्त्री-पुत्रादि सुखोत्पादक हैं, परन्तु वे ही एक संन्यासी के लिये दुःखरूप हैं। उसी तरह विवेक, वैराग्य आदि से युक्त एक गृहस्थ स्त्री-पुत्रादि को दुःख समझ लेता है और उद्बुद्धपापकर्मा संन्यासी मठ-मन्दिरादि के परिग्रह में पड़ जाता है।]

इस सप्रयोजन (अर्थवान्) प्रमाण में प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति—ये तीनों मिलकर होते हैं; क्योंकि इनमें से किसी एक के न होनेपर, अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। जिस पुरुष की ईप्सा या जिहासा को लेकर प्रवृत्ति होती है, वह 'प्रमाता' कहलाता है। वह पुरुष जिस ईप्सा या जिहासा को जिससे याथात्म्येन समझता है, वह 'प्रमाण' कहलाता है। जो अर्थ (ईप्सित या जिहासित) समझा जाता है, वह 'प्रमेय' कहलाता है। उस ईप्सित या जिहासित का यथार्थ ज्ञान ही 'प्रमिति' कहलाता है। इन चार प्रकारों में ही अर्थ का समग्र तत्त्व परिसमाप्त हो जाता है। (अर्थात् इन चारों द्वारा ईप्सित को ग्रहण किया जाता है, जिहासित को छोड़ दिया जाता है या उपेक्षित की उपेक्षा कर दी जाती है।)

यह अर्थ-तत्त्व क्या है? सत् का सद्भाव और असत् का असद्भाव। अर्थात् सत् वह तत्त्व है, जो 'सत्' ऐसा जाना जाते हुए अविरुद्ध (अनुकूल या उदासीन) भी हो और यथार्थ भी हो। इसी तरह 'असत्' वह तत्त्व है, जो 'असत्' ऐसा जाना जाते हुए अनुकूल, उदासीन तथा यथार्थ हो।

अन्तिम पक्ष (असतश्चासद्भावः) के प्रमाण की उपलब्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि जो है ही नहीं, वह हजार प्रमाणों से भी कैसे जाना जा सकेगा? सत् के मिल जानेपर (उपलभ्यमानता सिद्ध रहते हुए) भी उसके न मिलने से वह जाना जा सकेगा,

दिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्ति' इत्येवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति; 'यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत, विज्ञानाभावान्नास्ति' इति। तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति।

सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते। तासां खल्वासां सद्विधानाम्—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

निर्देशे यथावचनं विग्रहः। चार्थे द्वन्द्वसमासः। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानम्, निःश्रेयसस्याधिगमः—इति कर्मणि षष्ठ्यौ।

त एतावन्तो विद्यमानार्थाः, येषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः। सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थं उद्दिष्टो वेदितव्यः।

जैसे—प्रदीप से। जैसे द्रष्टा पुरुष दीपक हाथ में लेकर दीखने योग्य (सत्) वस्तु को ग्रहण कर लेने की क्षमता रखते हुए भी उसी दृश्य वस्तु की तरह उस (असत्) को नहीं ग्रहण कर पाता है तो समझ लेता है कि वह नहीं है; क्योंकि वह (असत् वस्तु) होती तो अवश्य उसके द्वारा सत् की तरह जानी जाती; जानी नहीं गयी, इसलिये (योग्यानुपलब्धि प्रमाण से समझता है कि) वह नहीं है। इस तरह प्रमाण द्वारा सत् के जान लिये जानेपर उसकी तरह जो नहीं जाना जाता है तो समझ लिया जाता है कि वह नहीं है, यदि होता तो उसी तरह जाना जाता; जाना न जाने के कारण वह नहीं है। इस प्रकार 'सत्' का ज्ञान करानेवाला (प्रकाशक) प्रमाण 'असत्' का भी ज्ञान करा देता है।

इस 'सत्' का संक्षेप में १६ प्रकार से उपदेश किया जायगा। सत् के इन प्रकारों में से

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान (होते हैं इन) के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इस सूत्र में (प्रमाण से ले कर निग्रहस्थान तक) पदों का विग्रह लक्षणसूत्रोक्त लिंग-वचन के अनुसार रखना चाहिये। यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' (२-२-२९) इस पाणिनि सूत्र से द्वन्द्वसमास होता है, जिसमें कि सभी पदार्थ प्रधान होते हैं। 'प्रमाण............ स्थानानां तत्त्व—' यहां शेषषष्ठी समझें ('शेषषष्ठी' उसे कहते हैं जहाँ किसी भी कारक की विवक्षा न हो)। 'तत्त्वस्य ज्ञानम्' तथा 'निःश्रेयसस्य अधिगमः' यहाँ उभयत्र कर्म में षष्ठी समझना चाहिये।

ये इतने विद्यमान (सत्) अर्थ हैं, जिनके अविपरीत ज्ञान के लिये इस सूत्र में उपदेश किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र में किये जाने वाले समग्र उपदेश का उद्देश (नाम मात्र से संकेत) कर दिया गया है—ऐसा समझना चाहिये।

आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः। तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यत इति। हेयं तस्य निर्वर्तकम्, हानमात्यन्तिकम्, तस्योपायः, अधिगन्तव्यः—इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्, संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति? सत्यमेतत्; इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथा—उपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते। तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि? संशयितेऽर्थे। यथोक्तम्—'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' (१. १. ४१) इति। विमर्शः = संशयः, पक्षप्रतिपक्षौ = न्यायप्रवृत्तिः। अर्थावधारणम् = निर्णयः, तत्त्वज्ञानमिति। स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थो पृथगुच्यते।

आत्मा-आदि प्रमेयों के तत्त्व-ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है। यह बात अनुपद (१.१.२ सूत्र) में स्पष्ट कर दी जायेगी १. हेय (दुःख और उसके उत्पादक अविद्या, तृष्णा आदि), २. आत्यन्तिक हान (जिससे दुःख सदा के लिये क्षीण हो जाये अर्थात् तत्त्वज्ञान), ३. उसके जानने का उपाय (शास्त्र), तथा ४. अधिगन्तव्य (मोक्ष)—इन चार अर्थपदों (पुरुषार्थ-स्थानों) को ठीक से जानकर अधिकारी पुरुष मोक्ष पा जाता है।

शङ्का—सूत्र में संशयादि का अलग से पढ़ना निरर्थक है; क्योंकि संशयादि के प्रमाण या प्रमेयों में अन्तर्भूत होते हुये अलग से उनकी गणना नहीं होती?

बात तो ठीक है; परन्तु ये चारों विद्यायें (त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी) पृथक् विषयबोधक व्यापार वाली है, जिनमें यह चौथी आन्वीक्षिकी (न्यायविद्या) है। जिसके कि संशयादि पदार्थ पृथग्विषय माने गये हैं। इन संशयादिकों का यदि अलग से पाठ न करेंगे तो यह आन्वीक्षिकी भी अध्यात्मविद्यामात्र रह जायेगी; जैसे कि उपनिषद्। इस लिये यहाँ सूत्रकार द्वारा संशयादि पदार्थों से एक अलग ही बोध कराया गया है; क्यों कि इस तर्कशास्त्र का विषय न तो अनुपलब्ध अर्थ ही है, न निर्णीत अर्थ ही, अपितु संशयित अर्थ है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—'विमर्श कर के पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण 'निर्णय' कहलाता है' (१.१.४१)। विमर्श = संशय। पक्ष प्रतिपक्ष = न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति। अर्थावधारण = निर्णय, तत्त्वज्ञान। 'यह क्या होगा?'— ऐसा वस्तु में सन्देहमात्र अनिर्णीत ज्ञान ही 'संशय' कहलाता है। इस संशय का वस्तुतः प्रमेय में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु न्यायशास्त्र की सुलभ प्रवृत्ति के लिये सूत्रकार ने पृथक् पाठ किया है।

अथ प्रयोजनम् । येन प्रयुक्तः प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम् । यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते, तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते ।

कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा । प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी = न्यायविद्या, न्यायशास्त्रम् । यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति ।

तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ ।

वितण्डा तु परीक्ष्यते—वितण्डया प्रवर्तमानो वैतण्डिकः । स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते ?सोऽस्य पक्षः, सोऽस्य सिद्धान्तः इति वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते ? नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते । अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति ? एतदपि तादृगेव; 'योज्ञापयति, यो जानाति, येन ज्ञाप्यते, यच्च ज्ञाप्यते'–एतच्च प्रतिपद्यते यदि ? तदा वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते ? 'परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनम्' इत्येतदस्य वाक्यमनर्थकं

प्रयोजन—जिससे प्रेरित होकर पुरुष अर्थ में प्रवृत्त होता है, उसे 'प्रयोजन' कहते हैं । जिस अर्थ को चाहता हुआ या छोड़ने की इच्छा करता हुआ क्रिया प्रारम्भ करता है, उसी (प्रयोजन) से सब प्राणी, सब कर्म तथा सभी विद्यायें सम्बद्ध हैं । और उसी के अधीन न्याय भी प्रवृत्त होता है ।

यह न्याय क्या है ? अनुमानादि प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण (परिशोधन) 'न्याय' (निश्चय) कहलाता है । प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अनुमान को 'अन्वीक्षा' कहते हैं । प्रत्यक्ष तथा आगम के बाद का ईक्षण (अनुमान) 'अन्वीक्षा' कहलाता है । उसका आश्रय लेकर जो प्रवृत्त हो उसे ही 'आन्वीक्षिकी' 'न्यायविद्या', या 'न्यायशास्त्र' कहते हैं । और जो अनुमान प्रत्यक्ष तथा आगम के विरुद्ध हो वह 'न्यायाभास' कहलाता है ।

उस न्यायविद्या में वाद तथा जल्प 'प्रयोजन' के साथ रहते हैं । (वाद का प्रयोजन है तत्त्वज्ञान और जल्प का प्रयोजन है विजय ।)

वितण्डा पर भी विचार कर लें । शास्त्रार्थ में वितण्डा से प्रवर्तमान पुरुष को 'वैतण्डिक' कहते हैं । यदि वह प्रयोजन पूछे जाने पर 'यह उसका पक्ष है', या 'यह उसका सिद्धान्त है' ऐसा स्वीकार करता है तो अपने वैतण्डिकत्व को ही छोड़ बैठता है । यदि कुछ भी नहीं स्वीकार करता है तो साधारणजन उसे न तो लौकिक समझेंगे, न परीक्षक ही । यदि वह 'परपक्ष का खण्डन' ही अपना प्रयोजन बतावे ? तो इससे भी उसका वैतण्डिकत्व कहाँ रह पायेगा ! क्योंकि यदि वह 'जिसके द्वारा बोध कराया जाता है', 'जो जानता है', 'जो बोध कराया जाता है' या 'जिसको बोध कराया जाता है'— इन चार बातों को स्वीकार कर लेता है तो उसका वैतण्डिकत्व कैसा ? यदि नहीं स्वी-

भवति। वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा, तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते? सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति। अथ न प्रतिपद्यते? प्रलापमात्रमनर्थकं भवति, वितण्डात्वं निवर्तत इति।

अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः—यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते, स च प्रमेयम्। तस्य पृथग्वचनं च—तदाश्रयावनुमानागमौ। तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमौ, असति च न स्याताम्। तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः। दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति। नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति, अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेतेति! निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुम्—'साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्' (१. १. ३६), तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' (१. १. ३७) इति।

'अस्त्ययम्' इत्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः, स च प्रमेयम्। तस्य पृथग्वचनम्—सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति।

कार करता है तो उसका 'परपक्षखण्डन मेरा प्रयोजन है'—यह वाक्य निष्प्रयोजन हो जायेगा। (स्वपक्ष) स्थापनाहीन वाक्यसमूह 'वितण्डा' कहलाता है। यदि वैतण्डिक वाक्य का अभिधेय स्वीकार कर लेता है तो वही उसका पक्ष-स्थापन कहलायेगा, यदि नहीं स्वीकार करता है तो शास्त्रार्थ में उसका सब कुछ कहा-सुना प्रलापमात्र तथा निरर्थक होगा, वितण्डात्व कहाँ रहेगा!

अब दृष्टान्त का निरूपण करते हैं—प्रत्यक्ष (प्रमाणमात्र) से जहाँ साध्य अर्थ को लौकिक स्वीकार करते हैं वह 'दृष्टान्त' कहलाता है, अर्थात् जहाँ लौकिक परीक्षकों की बात न कट पाये। वह भी प्रमेय के ही अन्तर्भूत है। उसको सूत्र में अलग इसलिये पढ दिया गया कि अनुमान और आगम प्रमाण उसके अधीन हैं—उसके होने पर वे होंगे, उसके न होने पर नहीं होंगे। न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति भी तदाश्रित ही है। विरुद्ध दृष्टान्त से परपक्ष का खण्डन किया जाता है, तथा अनुकूल दृष्टान्त से स्वपक्ष-समर्थन। नास्तिक पुरुष यदि शास्त्रार्थ में दृष्टान्त का सहारा लेगा तो वह अपना 'नास्तिकत्व' ही खो बैठेगा, यदि सहारा न लेगा तो वह किस साधन से परपक्ष का खण्डन कर पायेगा! दृष्टान्त का निर्वचन करने के लिये हम कह सकते हैं—'साध्य की समानधर्मता से युक्त तद्धर्मभावी दृष्टान्त कहलाता है' (१. १. ३६), तथा 'उसके विपर्यय से विपरीत' (१. १. ३७)।

प्रमाणजन्य प्रतीति के बाद 'यह प्रमाण का विषय है' या 'ऐसा ही है'—इस तरह स्वीक्रियमाण अर्थ सिद्धान्त कहलाता है। यह भी प्रमेय है। सिद्धान्तों के भिन्न होने पर ही वाद, जल्प, वितण्डा (इन प्रमेयों) की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इसलिये सिद्धान्त को एक पृथक् प्रमेय माना है।

साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयनमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था। ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भूताः, एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति।

तर्को न प्रमाणसंगृहीतः, न प्रमाणान्तरम्, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। तस्योदाहरणम्—किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते? आहोस्विदकृतकेन? अथाकस्मिकमिति? एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्तते—'यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते? हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः। अथाकृतकेन हेतुना? ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुपपन्नो जन्मोच्छेदः। अथाकस्मिकम्? अतोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निवर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते, तेन जन्मानुच्छेदः' इति। एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केणाऽनुगृह्यन्ते। तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते

पाँचों अवयवों द्वारा ज्ञापनीय अर्थ का जितने शब्दसमूह से विशेष प्रत्यय हो जाये, उस शब्दसमूह के प्रतिज्ञादि पाँचों अवयव समूह की अपेक्षा से अवयव कहलाते हैं। इन अवयवों में ही सब प्रमाण एकत्र हो जाते हैं। जैसे—'प्रतिज्ञा' शब्दप्रमाण है, 'हेतु' अनुमान प्रमाण है, 'उदाहरण' प्रत्यक्ष प्रमाण है, 'उपनयन' उपमान प्रमाण है, सभी प्रमाणों का एकार्थ-प्रतिपादन में सामर्थ्य-प्रदर्शन 'निगमन' कहलाता है। इन्ही पाँचों अवयवों के सहारे—वाद, जल्प, वितण्डा की प्रवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञान-व्यवस्था भी तदधीन है। इन पाँचों अवयवों के वस्तुतः शब्दविशेष ही होने के कारण प्रमेय के अन्तर्भूत होते हुए भी, इसीलिए इनका अलग से निर्वचन किया गया है।

तर्क न प्रमाणों में अन्तर्भूत हो सकता है, न यह उनसे कोई अलग प्रमाण है, अपितु उन प्रमाणों का सहकारिमात्र है, जैसे दीपक चक्षु का सहकारी होता है। उदाहरण—'यह जन्म क्या विनाशी कारण से निष्पन्न होता है, या अविनाशी कारण से अथवा आकस्मिक कारण से ?'—इस प्रकार के संशयित अर्थ में सम्भावित कारण और कार्यों के विचार में तर्क उठता है—'यदि विनाशी कारण से जन्म निष्पन्न होता तो कारण के विनाश से जन्म का उच्छेद भी हो ही जायेगा, यदि अविनाशी कारण से निष्पन्न होगा तो कारण का नाश कभी न हो पाने के कारण जन्मोच्छेद ही असम्भव हो जायेगा, यदि आकस्मिक कारण माना जाये तो अकस्मात् जन्मोचच्छेद हो पुनः जन्म निष्पन्न न होगा—इस तरह निवृत्तिकारण न बनने से जन्म का उच्छेद होगा ही नहीं। इस प्रकार की तर्कणा के अवसर पर 'जन्म कर्मनिमित्तक है'—ऐसा प्रमाणों से सिद्ध होता है। इस

तर्क इति । सोऽयमित्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनाय, उपालम्भाय चार्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति ।

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम् । तदवसानो वादः । तस्य पालनार्थं जल्प-वितण्डे । तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति । सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्त-र्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति ।

वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम्; उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति ।

तद्विशेषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम् (४. २. ५०) ।

निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति । जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति ।

सिद्धि में तर्क प्रमाणों का सहकारी वनकर तत्त्वज्ञान में सहायक होता है। इसीलिये इस तर्क को वाद में अर्थ की स्थापना तथा प्रतिषेध के लिए आचार्य ने पृथक् निर्दिष्ट किया है। वास्तव में इसका प्रमेय में ही अन्तर्भाव हो जायेगा।

प्रमाणों के फल (प्रयोजन) तत्त्वज्ञान को **निर्णय** कहते हैं। किसी भी विषय का निष्कर्ष (निर्णय) निकले—इसी को लेकर 'वाद' किया जाता है। उस (निर्णय) की रक्षा (वाधकहेतुनिवारण तथा साधकहेतुधारण) के लिये ही जल्प तथा वितण्डा का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों (तर्क और निर्णय) लोकव्यवहार को सफल वनाते हैं। इसलिये आचार्य ने निर्णय का पृथक् उल्लेख किया है। वस्तुतः यह प्रमेय के ही अन्त-र्भूत है।

जो अनेक वक्ताओं (कम से कम दो) के रहने पर हो, प्रत्येक अधिकृत अर्थ उसका विषय हो, जिसके अन्त में किसी एक विषय के निर्णय पर पहुँचा जाये, ऐसे तर्क तथा पञ्चावयवसहित वाक्यसमूह को **वाद** कहते हैं। आचार्य ने इसे उपलक्षण (ज्ञान) के लिये अलग उद्दिष्ट किया है; क्योंकि ज्ञात वस्तु से ही व्यवहार तत्त्वज्ञान के लिये होता है।

अपने आप में कुछ विशेषता रखनेवाले[1] जल्प और वितण्डा तत्त्वनिश्चय-पालन के लिये हैं—ऐसा आगे कहेंगे (४. २. ५०)।

निग्रहस्थानों से पृथक् करके उद्दिष्ट हेत्वाभासों का वाद में उपयोग होता है—ऐसा आगे (पंचम अध्याय में) कहेंगे। जल्प और वितण्डा निग्रहस्थान हैं। तात्पर्य यह है कि हेत्वाभासोद्भावन और वाद का तत्त्वनिर्णय में ही प्रयोजन है, वादिविजय में, नहीं;

---

१. जल्प में छल, जाति, निग्रहस्थान के प्रयोग से अङ्गाधिक्य है, वितण्डा में स्वपक्षस्था-पन ही नहीं है—इस तरह ये दोनों क्रमशः अंगाधिक्य और अंगहानि वाले हैं।

छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनम्, छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति।

सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

> प्रदीपः सर्वविद्यमानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
> आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता ॥

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमार्थं[1] यथाविद्यं वेदितव्यम्। इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानम्, निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति ॥१॥

तत् खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति? नेत्युच्यते; किं तर्हि? तत्त्वज्ञानात्—

क्योंकि एक वाद में सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन सम्भव नहीं है, परन्तु हेत्वाभास ऐसे निग्रहस्थान हैं जिनका वाद से सर्वथा उद्भावन हो सकता है। इसलिए इनका पृथक् उपदेश किया है।

छल, जाति, निग्रहस्थान—इनका उपदेश उपलक्षण के लिये है। उपलक्षित छल, जाति, निग्रहस्थानों का अपने वाक्य में त्याग और दूसरों के वाक्य में प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त जाति का समाधान विद्वानों के लिये सुलभ है, अपने वाक्य में उसका प्रयोग करना भी उनके लिये सरल है।

इस प्रकार ये संशयादि पदार्थ प्रमाण या प्रमेय में अन्तर्भूत होते हुए भी न्यायविद्या का प्रस्थान-भेद बताने के लिये पृथक् पढ़े गये हैं।

यह आन्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादि पदार्थों से विभक्त होती हुई, सभी अन्य विद्याओं के लिये दीपोपम है, सभी लौकिक-वैदिक कार्यों की उपकारिका (भृत्यादिवत् सहायिका) है, सभी धर्मों की आश्रय है। इस विद्या का यह संक्षिप्त रूप अर्थशास्त्र के विद्योद्देश में बताया गया है।

यह 'तत्त्वज्ञान' और 'निःश्रेयसप्राप्ति' उस-उस विद्या के अनुसार ही समझना चाहिये। इस आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायशास्त्र) में, जो कि अध्यात्म विद्या भी कहलाती है, आत्मा-आदि प्रमेयों का तत्त्वज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' कहलाता है और निःश्रेयसप्राप्ति 'मोक्षप्राप्ति' कहलाती है ॥ १ ॥

तो क्या यह निःश्रेयस (मोक्ष) तत्त्वज्ञान के बाद ही हो जाता है? नहीं! अपितु तत्त्वज्ञानसे—

---

१. 'निःश्रेयसाधिगमश्च'—इति पाठा०।

/ ॰

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तं प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्त्तते। आत्मनि तावत्–नास्तीति। अनात्मनि–आत्मेति। दु:खे–सुखमिति। अनित्ये–नित्यमिति। अत्राणे–त्राणमिति। सभये–निर्भयमिति। जुगुप्सिते–अभिमतमिति। हातव्ये–अप्रतिहातव्यमिति। प्रवृत्तौ–'नास्ति कर्म, नास्ति कर्मफलम्' इति। दोषेषु–'नायं दोषनिमित्तः संसारः' इति। प्रेत्यभावे–'नास्ति जन्तुर्जीवो वा, सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात्, प्रेत्य च भवेदिति, अनिमित्तं जन्म, अनिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभावः, अनन्तश्चेति, नैमित्तिकः सन्नकर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति, देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभावः' इति। अपवर्गे–'भीष्मः खल्वयं सर्वकार्योपरमः, सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुपवर्गं रोचयेत्' इति।

मिथ्या ज्ञान नष्ट होता है, मिथ्याज्ञान-नाश से दोष नष्ट होते हैं, दोषापाय से प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्ति न होने से जन्म नहीं होता, जन्म न होने से दु:ख नहीं होता तथा दु:ख के न होने से अपवर्ग (स्वतः सिद्ध) हो जाता है ॥ २ ॥

यहाँ आत्मा से अपवर्ग पर्यन्त प्रमेयों में अनेक तरह का मिथ्याज्ञान रहता है, जैसे—आत्मा 'नहीं है', ऐसा मिथ्याज्ञान; अनात्म-पदार्थों में 'आत्मा है' ऐसा; दु:ख में 'सुख' ऐसा; अनित्य (देहादि) में 'नित्य' ऐसा; अत्राण (कलत्र पुत्र गेहादि) में 'त्राण' ऐसा; सभय (धन-पुत्र आदि) में 'निर्भय' ऐसा; जुगुप्सित (अस्थि, मांस, शोणित, मल, मूत्रादि से युक्त स्वशरीर-परशरीर) में 'प्रशस्त' ऐसा; हातव्य (जन्म आदि संसार) में 'अप्रहातव्य' ऐसा; प्रवृत्ति (पुण्य-पापादि अदृष्ट कर्म) में 'कर्म नहीं है', 'कर्म स्वर्ग-नरकादि-फलप्रद नहीं हैं' ऐसा; दोष (राग, द्वेष, मोह) में 'यह संसार दोष के कारण नहीं है' ऐसा; प्रेत्यभाव (मरकर पुनः जन्म लेना) में 'ऐसा कोई जन्तु (पैदा करनेवाला) या जीव (पैदा होनेवाला) नहीं है, तो आत्मा नहीं है जो मरे या मरकर पुनः जन्म ले' ऐसा; 'जन्म में कोई निमित्त (धर्माधर्मादि) नहीं है, मोक्ष भी अनिमित्त (तत्त्वज्ञान के विना ही) होता है', इसलिये 'यह मरना-जीना आदिमान् और अनन्त है', 'यह मरना-जीना स्वभावादिनिमित्तक तो है, पर कर्मनिमित्तक नहीं है', यह मरना-जीना, देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना (हर्ष-शोकविषाद) के उच्छेद, प्रतिसन्धान से रहित (क्षणिक-विज्ञान-स्वरूप या शून्यरूप) है' ऐसा; मोक्ष के विषय में 'समस्त कार्यों से उपरति निश्चय ही भयजनक होगी, सबसे अलग इस अपवर्ग में सभी मनोरञ्जक तथा सुखकर बातें लुप्त हो जायेंगी तो कौन बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेद रूप मोक्ष को चाहेगा'—ऐसा (मिथ्या ज्ञान होता है) ।

एतस्मान्मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः।

रागद्वेषाधिकाराच्चाऽसूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय।

अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय।

अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ। यथा—अन्नसाधनाः प्राणाः 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इति।

सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम्। जन्म पुनः—

इस मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषय में राग तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष होता है।

राग द्वेष का विषय वन जाने से असूया (गुणों में दोषाविष्करण), ईर्ष्या (शत्रु की प्रिय वस्तु की हानि की इच्छा), माया (दम्भ), लोभ (अन्याय से परद्रव्य पाने की इच्छा) आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

दोषों के वशीभूत होकर शरीर से चेष्टा करता हुआ हिंसा, स्तेय, प्रतिषिद्ध मैथुन (परदारागमन) आदि का आचरण करता है। वाणी से चेष्टा करता हुआ अनृत (मिथ्या वचन) परुष (कठोर = दुःखद वचन) सूचना (चुगली करना) असम्वद्ध (ऊटपटांग प्रलाप) आदि का; तथा मनसे चेष्टा करता हुआ परद्रोह (जिघांसा या अपकार), परद्रव्य की इच्छा करना, नास्तिक्य (परलोक नहीं हैं—ऐसी बुद्धि) का आचरण करता है। यह पापात्मिका प्रवृत्ति अधर्म (अशुभ) के लिये होती है।

अव शुभ प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं—शरीर से चेष्टा करता हुआ वह मन्त्रादिपूर्वक या सामान्यतः दान करता है, परित्राण (निरीह प्राणियों की रक्षा), परिचरण (तीर्थाटन या गुरुसेवा) करता है। वाणी से चेष्टा करता हुआ सत्य (यथार्थ), हित (उपकारक), प्रिय (प्रीतिकर) वचन वोलता है। मन से चेष्टा करता हुआ दया (निःस्वार्थ दुःखप्रहाणेच्छा), स्वाध्याय (वेद या पुराण आदि का अध्ययन) करता है। अस्पृहा (लोभत्याग), श्रद्धा (शास्त्र में दृढ विश्वास) रखता है। यह शुभ प्रवृत्ति धर्म (शुभादृष्ट) के लिये होती है।

इस सूत्र में प्रवृत्ति के साधन धर्म और अधर्म को 'प्रवृत्ति' पद से कह दिया गया है। जैसे—'अन्नं वै प्राणाः' इस श्रुति में प्राणों के साधन अन्न को 'प्राण' कह दिया गया।

यह प्रवृत्ति कुत्सित या प्रशस्त जन्म का कारण होती है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि—तीनों के निकाय (सजातीय कुलों) से विशिष्ट प्रादुर्भाव को 'जन्म' कहते हैं। जन्म होने पर

शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः। तस्मिन् सति दुःखम्। तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयम्–बाधना, पीडा, ताप इति। त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः–संसार इति।

यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति, तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति, प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये च आत्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति।

तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्। आत्मनि तावत्–अस्तीति, अनात्मनि–अनात्मेति। एवं दुःखे, अनित्ये, अत्राणे, सभये, जुगुप्सिते, हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम्। प्रवृत्तौ–'अस्ति कर्म अस्ति कर्मफलम्' इति। दोषेषु–'दोषनिमित्तोऽयं संसारः' इति। प्रेत्यभावे खलु–'अस्ति जन्तुर्जीवः, सत्त्वः आत्मा वा यः प्रेत्य भवेदिति, निमित्तवज्जन्म, निमित्तवान् जन्मोपरम इत्यनादिः प्रेत्यभावोऽपवर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति, सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्त्तते' इति। अपवर्गे–'शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोग; सर्वोपरमोऽपवर्गः, वहु च कृच्छ्रं घोरं

दुःख होता है। वह दुःख प्रतिकूलवेदनीय (अहित रूप से अनुभवनीय) होता है। उसे बाधना (व्यथा) पीड़ा, ताप भी कहते हैं। ये मिथ्याज्ञान से लेकर दुःखपर्यन्त धर्म अविच्छिन्न रूपसे जब प्रवृत्त होते हैं तो इसे ही 'संसार' कहते हैं।

और जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, तव मिथ्याज्ञान के न रहने से दोष नष्ट हो जायेंगे दोषनाश से प्रवृत्ति नहीं होगी, प्रवृत्ति न होने से जन्म नहीं होगा, जन्म न होने से दुःख नहीं होगा तथा दुःख के न होनेपर आत्यन्तिक (ऐकान्तिक) अपवर्ग 'निःश्रेयस' (मोक्ष) हो जाता है।

तत्त्वज्ञान का व्याख्यान मिथ्याज्ञान के व्याख्यान से उलटा किया गया है। जैसे— आत्मा के विषय में 'है' ऐसा, अनात्म पदार्थों में 'अनात्मा' ऐसा। इसी तरह दुःख, अनित्य, अत्राण, सभय, जुगुप्सित तथा हातव्य के वारे में भी विषय के अनुसार समझना चाहिये। प्रवृत्ति के विषय में—'कर्म है', 'कर्मों का फल है' ऐसा; दोषों के बारे में 'यह संसार दोषों से उत्पन्न है' ऐसा; पुनर्जन्म के वारे में—'है ऐसा जीव या जन्तु सत्त्व या आत्मा, जो मरकर पुनः जन्म ग्रहण करे' ऐसा, 'जन्म की उपरति भी निमित्त कारणवाली है, अतः यह मरना-जीना प्रवाहरूप से अनादि होते हुए मोक्षपर्यन्त है' ऐसा, 'यह मरना-जीना नैमित्तिक होता हुआ प्रवृत्तिनिमित्तक है' ऐसा; 'सात्मक होता हुआ देह, इन्द्रिय, बुद्धि वेदना की सन्तति (निरन्तर प्रवाह) से उच्छेद और प्रतिसन्धान द्वारा प्रवृत्त होता है' ऐसा; अपवर्ग के विषय में—'यह सभी से नाता टूटना वहुत ही शान्त है, सब तरह से छुटकारा पा जाना अपवर्ग है, इससे बहुत ही कठिन और भयानक पाप

पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति । तद्यथा–मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्त-मनादेयम्' इति ॥ २ ॥

२. प्रमाणप्रकरणम् [३–८]

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणम्, परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः । तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य 'यथालक्षणमुपपद्यते न वा' इति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा । तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, यथा–प्रमाणानां प्रमेयस्य च । उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनम्, यथा छलस्य–'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या च्छलम्, तत्त्रिविधम्'–(१. २. ५१–५२) इति ।

अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम्—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः = प्रत्यक्षम् । वृत्तिस्तु–सन्निकर्षः, ज्ञानं वा । यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।

विनष्ट हो गये, कौन बुद्धिमान् ऐसे सब दुःखों तथा उनकी अनुभूति से छुटकारा दिलाने-वाले अपवर्ग को न चाहेगा ! जैसे जहर मिला हुआ मीठा भोजन नहीं खाया जाता, वैसे ही दुखानुषक्त सुख भी नहीं चाहा जाता' ॥ २ ॥

उद्देश, लक्षण, परीक्षा—यों तीन प्रकार से इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है । उनमें केवल नाम लेकर पदार्थ का गिनाना 'उद्देश' कहलाता है । उद्दिष्ट (नाममात्र से गिनाये गये) का स्वरूपभेदक धर्म 'लक्षण' कहलाता है । लक्षित (स्वरूपभेदक धर्मवान्) का 'यह लक्षणानुसारी है या नहीं'—इसका प्रमाणों से निश्चय करना 'परीक्षा' कहलाती है । यह विभाग पुनः दो प्रकार का है—१. जो उद्दिष्ट तथा प्रविभक्त हैं उनका लक्षण कहा जाता है, जैसे—प्रमाण और प्रमेयों का । २. तथा जो उद्दिष्ट तथा लक्षित हैं उनका विभाग कहा जाता है, जैसे—छल का विभागवचन (१. २. ५१-५२) ।

अब यह उद्दिष्ट का विभागवचन है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द–ये चार प्रमाण (हैं) ॥ ३ ॥

इन्द्रिय की प्रत्येक विषय को लेकर वृत्ति ही 'प्रत्यक्ष' कहलाती है । संनिकर्ष या प्रमिति ही यहाँ 'वृत्ति' पद का वाच्य है । जब संनिकर्ष होगा तभी ज्ञान होगा, वही प्रमिति है, और तब हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) या उपेक्षा बुद्धि रूप फल निष्पन्न होगा ।

अनुमानम्–मितेन लिङ्गेन लिङ्गिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् ।

उपमानम्–सारूप्यज्ञानम्[1], 'यथा गौरेवं गवयः' इति । सारूप्यं[2] तु सामान्ययोगः ।

शब्दः–शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते = ज्ञाप्यते ।

'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' इति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् । 'प्रमीयतेऽनेन' इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः । तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम् ।

किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते ? अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति ? उभयथा दर्शनम्—'अस्त्यात्मा' इत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते, तत्रानुमानम्—'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् (१ १. १०) इति, प्रत्यक्षम्—युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति । अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते–'अत्राऽग्निः' इति, प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते, प्रत्यासन्नेन

अनुमान—व्याप्ति या पक्षधर्मता से प्रमित लिङ्ग (हेतु) द्वारा लिङ्गी (ज्ञाप्य) अर्थ के पश्चात् (प्रत्यक्षानन्तर हुए) मान को 'अनुमान' कहते हैं ।

उपमान—सादृश्यज्ञान को 'उपमान' कहते हैं । 'जैसी यह गौ है ऐसा ही गवय होता है' । सारूप्य से तात्पर्य है सामान्य सादृश्य सम्बन्ध ।

शब्द—जिस विभक्त्यन्तसमूह से वाक्यार्थबोध होता हो वह 'शब्द' प्रमाण है ।

प्रमाण उपलब्धि के साधन हैं—यह 'प्रमाण' इस समाख्या (नाम) के निर्वचन ('प्रमीयतेऽनेन' इस तृतीया समास) से समझना चाहिए । 'प्रमीयतेऽनेन' (जिसके द्वारा प्रमिति की जाये)—इस व्युत्पत्ति से 'प्रमाण' शब्द करण अर्थ को बतलाता है। तत्तद्विशेष (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) की समाख्या का भी इसी तरह करणव्युत्पत्ति से व्याख्यान समझना चाहिए ।

क्या एक एक प्रमेय में कई प्रमाणों का व्यापार होता है ? या एक एक का ही ? १. कई प्रमाण भी देखे जाते हैं । जैसे 'आत्मा है' इसमें आप्तोदेश (शाब्द) प्रमाण है, 'इच्छा द्वेष, सुख दुःख, प्रयत्न, ज्ञान—ये आत्मा के लिंग हैं' (१. १. १०) यह अनुमान प्रमाण भी है, तथा आत्मा में मनोयोगविशेष करनेवाले को योगसमाधिज प्रत्यक्ष भी होता है अतः हम यह मान सकते हैं कि आत्म-मन के सम्बन्धविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है । इसी तरह अग्नि के बारे में आप्तादेश (वृद्धोपदेश) से 'यह अग्नि है' ऐसा ज्ञान होता है । पर्वत के समीप जानेवाले को धूमदर्शन से अनुमान द्वारा वह्निज्ञान होता है । समीप गये हुए को प्रत्यक्ष भी होता है । २. एक प्रमाण भी देखा जाता

---

१. 'सामीप्यज्ञानम्'–इति पाठा० । २. 'सामीप्यम्'–इति पाठा० ।

च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। व्यवस्था पुनः–'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनम्, न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्; तत्र न प्रत्यक्षम्, नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानम्, नागम इति।

सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, प्रत्यक्षत[1] उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणम्–'अग्निः' इति। प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे[1] प्रमाणानां [2]सम्भवोऽभिसम्प्लवः, असम्भवो[3] व्यवस्थेति ॥ ३ ॥

इति त्रिसूत्रीभाष्यम्

(क) प्रत्यक्षलक्षणम्

अथ विभक्तानां लक्षणमिति।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

है, जैसे—'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र करे' यह शब्द प्रमाण है, यहाँ लौकिकों को अनुमान और प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता। मेघ की गर्जना सुनने पर ध्वनिहेतुक अनुमान ही होता है, न कि प्रत्यक्ष, या शाब्द। हस्तस्थ आमलक के लिए न अनुमान की जरूरत है, न शब्द की।

प्रमिति में प्रत्यक्ष प्रधान होता है। जिज्ञासित अर्थ को आप्तोपदेश द्वारा समझकर, हेतुदर्शन से समझने की कोशिश करता है, उससे समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है, प्रत्यक्ष देखकर उपलब्ध अर्थ में (उसकी) जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इसे समझने के लिए पहला ही उदाहरण रखिए—'अग्नि'।

प्रमाता के प्रमातव्य अर्थ में अनेक प्रमाणों का साङ्कर्य 'अभिसम्प्लव' कहलाता है, तथा उनके असाङ्कर्य को 'व्यवस्था' कहते हैं ॥ ३ ॥

त्रिसूत्री-भाष्यानुवाद समाप्त

प्रमाणों का विभाग दिखा दिया, अब उन विभक्तों में से प्रत्येक का लक्षण कर रहे हैं—

इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, जो कि अशाब्द हो, व्यभिचारशून्य हो तथा विशेष्यविशेषणभावावगाही हो ॥ ४ ॥

---

१. क्वचिन्नास्ति। २. 'सङ्करः'–इति पाठ०। ३. 'असङ्करः'–इति पाठ०।

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।

न तर्हीदानीमिदं भवति—'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन' इति ? नेदं कारणावधारणम्—एतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति । यत्प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते; यत्तु समानमनुमानादिज्ञानस्य, न तन्निवर्त्तत इति ।

मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः ? भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य ना[...] भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति ।

यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययः, अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः । तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानम् 'रूपम्' इति वा, 'रसः' इत्येवं वा भवति, रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्, तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम्—'रूपमिति जानीते, रस इति जानीते'; नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते ? अत आह—**अव्यपदेश्यम**िति । यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानम्, न तन्नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते । गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थस्यायं शब्द[...]

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं ।

तब यह सिद्धान्त सम्भव नहीं है—'आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से'? ऐसा नहीं; क्योंकि हम सभी कारणों का निश्चय नहीं कर रहे कि इतने प्रत्यक्ष में कारण हैं, अपितु विशिष्ट कारण बता रहे हैं । जो प्रत्यक्ष का विशिष्ट कारण है, वह बता दिया गया है; तथा जो सामान्य कारण हैं, जिनका उपयोग अनुमान-आदि ज्ञान में भी होता है, उनका निषेध नहीं किया गया ।

विशिष्ट कारण ही जब ग्रहण का प्रयोजक है तो मन इन्द्रिय के संयोग को प्रत्यक्ष में कारण कहना चाहिए ? सूत्रकार ने विभक्त किए जा रहे प्रत्यक्ष-लक्षण में एक व्यावर्तक देकर काम चला दिया है, दूसरे कारण (इन्द्रिय-मनःसंयोग) के अनुमान में भी घटित होने से वह प्रत्यक्ष का सामान्य व्यावर्तक नही बन सकता । अतः लक्षण में उसे नहीं कहा गया ।

शङ्का—अर्थ हमेशा हर जगह नामधेय (संज्ञा) से सम्पृक्त रहते हैं, ऐसा कोई अर्थ नहीं है जो नामधेय से पृथक् रहता हो, तथा अर्थज्ञान से ही लोकव्यवहार चलता है । उस (लोकव्यवहार) में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न 'रूप' ऐसा या 'रस' ऐसा ज्ञान होता है, रूप, रस, शब्द आदि विषय के नाम हैं । इससे 'रूप—ऐसा जानता है', 'रस—ऐसा जानता है' इस प्रकार यह अभेदात्मक ज्ञान व्यवहृत होता है, परन्तु नामधेय शब्द से व्यवहृत ज्ञान शाब्दज्ञान (विषयाभिन्न = सविकल्पक) प्रमाण से सम्बद्ध होता है ? इसलिये प्रत्यक्षलक्षण में व्यावर्तक लगाते हैं—'अव्यपदेश्य' । अगृहीत शब्दार्थ-सम्बन्ध की दशा में जो अर्थज्ञान होता है वह उसका नामधेय शब्द से व्यपदिष्ट नहीं

नामधेयमिति। यदा तु सोऽर्थो गृह्यते, तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते, तत् अर्थविज्ञानं तादृगेव भवति। तस्य त्वर्थज्ञानस्यान्यः समाख्याशब्दो नास्ति, येन प्रतीयमानं व्यवहाराय कल्पेत, न चाप्रतीयमानेन व्यवहारः। तस्माज्ज्ञेय-स्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते—'रूपम्' इति ज्ञानम्, 'रसः' इति ज्ञानमिति। तदेवमर्थज्ञानकाले[1] स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते, व्यवहारकाले तु व्याप्रियते। तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति।

ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते, तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् 'उदकम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते? इत्यत आह—अव्यभिचारीति। यद् 'अतस्मिंस्तत्' इति, तद् व्यभिचारि; यत्तु 'तस्मिंतत्' इति, तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति।

दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति—धूम इति वा, रेणुरिति वा; तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते? इत्यत आह—

होता है। शब्दार्थसम्बन्ध के गृहीत होने पर भी 'इस अर्थ का यह शब्द वाचक है' ऐसा व्यवहार होता है। जब यह अर्थ गृहीत होता है तो यह ज्ञान पूर्व ज्ञान (जिसमें अर्थ गृहीत नहीं हुआ था) से भिन्न (विशेष) नहीं, वह अर्थ-विज्ञान भी वैसा ही होता है। उस अर्थ-ज्ञान का कोई दूसरा शब्द बोधक नहीं है, जिससे वह प्रतीत होता हुआ व्यव-हार में आवे। अप्रतीत से व्यवहार होता नहीं। इसलिये ज्ञेय अर्थ का संज्ञाशब्द के साथ 'इति' (= ऐसा) लगाकर निर्देश किया जाता है—'रूप ऐसा ज्ञान', 'रस ऐसा ज्ञान'। इस प्रकार यही समझिए कि वह समाख्या (अर्थबोधक) शब्द अर्थज्ञानकाल में व्यापृत नहीं होता, परन्तु व्यवहारकाल में व्यापृत हो पाता है। अतः सिद्धान्ततः यह निष्कर्ष निकला कि शब्दरहित अर्थज्ञान ही इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होता है।

शङ्का—ग्रीष्म काल में पार्थिव उष्णता से मिलकर सूर्य की किरणें चाकचिक्य पैदा करती हुई दूरदेशस्थ पुरुष के नेत्रों के समीप आ जाती हैं, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जल की भ्रान्ति प्रतीति होती है, वहाँ भी प्रत्यक्ष का व्यवहार होने लगेगा?

अतः लक्षण में व्यावर्तक शब्द लगाया गया है—'अव्यभिचारि'। जो 'तदभाववान्' में 'तद्' ऐसा ज्ञान 'व्यभिचारि' कहलाता है, तथा जो 'तद्वान्' में 'तत्' ऐसा ज्ञान 'अव्यभिचारि' कहलाता है, वही प्रत्यक्ष है। (मरीचिका में जलप्रतीति प्रत्यक्ष नहीं, अपितु भ्रमप्रतीतिमात्र है।)

शङ्का—पुरुष दूर से अपनी आँखों से देखता हुआ विचार करता है कि 'यह धूम है, या यह धूलि है'; क्या यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न संशय-ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलायेगा?

---

१. ०भानकाले—पा०।

व्यवसायात्मकमिति[1]। न चैतन्मन्तव्यम्—आत्ममनःसन्निकर्षजमेवानवधारणज्ञानमिति। चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति। यथा चेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मनसोपलभते, एवमिन्द्रियेणानवधारयन्मनसा नावधारयति। यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयः, न पूर्वमिति। सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः, पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः; उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति।

आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति? इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशः; धर्मभेदात्। भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति; मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्यामः (१. १. १६) इति। मनसश्चेन्द्रियभावात्तन्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति।

अतः लक्षण में एक और व्यावर्तक शब्द लगाते हैं—'व्यवसायात्मक'। और यह नहीं मान लेना चाहिये कि संशयज्ञान आत्ममनःसिन्निकर्षोत्पन्न ही होता है, आखों से भी प्रमाता विषय को देखता हुआ वहाँ संशय कर सकता है। प्रमाता जैसे इन्द्रिय से उपलब्ध विषय (अर्थ) को मन से ग्रहण करता है, वैसे इन्द्रिय से अर्थ का अवधारण नहीं होता तो मन से भी अवधारण नहीं होगा। इसलिये यह इन्द्रियकृत-संशयपूर्वक मन का संशय एक विशिष्ट संशय है, जिसे हम विमर्शमात्र कह सकते हैं, आपका सोचा हुआ पहले वाला (साधारण) संशय नहीं। प्रत्यक्ष के बारे में सर्वत्र यही देखा जाता है कि पहले ज्ञाता को इन्द्रिय का व्यवसाय होता है, फिर मन से उसका अनुव्यवसाय (ज्ञानानन्तर निश्चयात्मक ज्ञान)। विकलेन्द्रिय पुरुषों में अनुव्यवसाय उपलब्ध न होने से हमें यही पद्धति माननी पड़ेगी।

शङ्का—तब तो आत्मा और सुख आदि के बारे में एक और विशिष्ट प्रत्यक्ष लक्षण करना पड़ेगा; क्योंकि उनका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षज नहीं, अपितु मनःसन्निकर्षज है?

कहते हैं—मन के इन्द्रिय होते हुए भी उसका इन्द्रियों से पृथक् उपदेश धर्मभेद से किया गया है; क्योंकि अन्य भौतिक इन्द्रियाँ तो नियतविषय हैं, वे अपने-अपने गन्धादि गुण से बाह्य गन्धादि का बोध कराती हैं; पर मन ऐसा नहीं है, वह अभौतिक है, सर्वविषय है। इसको सगुण मान कर इन्द्रियत्व नहीं कहा गया। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर भी युगपत् ज्ञान नहीं होता—इसमें हम मन की सन्निधि या असन्निधि को कारण आगे चल कर (१.१.१६) बतायेंगे। मन को इन्द्रिय मानने से आत्मा तथा सुखादि ज्ञान के लिये लक्षणान्तर की आवश्यकता नहीं। अन्य तन्त्रों में मन को भी इन्द्रिय माना गया है,

---

१. तथा च 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' इति बौद्धाचार्यैः सम्मतं लक्षणमेव सूत्रभाष्ययोरपि सम्मतमिति तदक्षरतात्पर्यम्।

तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति । 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्'[1] इति हि तन्त्रयुक्तिः ॥ ४ ॥

व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ॥

(ख) अनुमानलक्षणम्

अथ तत्पूर्वकं[2] त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥ ५ ॥

'तत्पूर्वकम्' इत्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते । लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते । स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।

पूर्ववदिति—यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा—मेघोन्नत्या 'भविष्यति वृष्टिः' इति । शेषवत् तत्—यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते—'भूता वृष्टिः' इति । सामान्यतो-

---

उसका इस तन्त्र (न्यायदर्शन) में खण्डन नहीं किया गया, अतः सूत्रकार को मन का इन्द्रियत्व अभिप्रेत है—ऐसा मान लेना चाहिये; क्योंकि तन्त्रकारों की एक यह भी युक्ति है कि दूसरे मत का यदि हम खण्डन नहीं करते तो वह हमें मान्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यक्ष का व्याख्यान कर दिया गया ॥

प्रत्यक्ष का निरूपण करने के बाद अब अनुमान का निरूपण करते हैं—

प्रत्यक्षपूर्वक अनुमितिकरण को 'अनुमान' कहते हैं । वह तीन प्रकार का होता है— १. पूर्ववत्, २. शेषवत् तथा ३. सामान्यतोदृष्ट ॥ ५ ॥

यहाँ 'तत्पूर्वक' इस पद से लिङ्ग (हेतु) लिङ्गी (हेतुमान्) का सम्बन्ध(व्याप्ति)-दर्शन तथा लिङ्गदर्शन—इन दोनों का भी परामर्श कर लेना चाहिये । सम्बद्ध हेतु लिङ्ग-स्मृति से सम्बद्ध होता है । स्मृति और लिङ्ग-परामर्श व्यापार से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान होता है ।

पूर्ववत् उसे कहते हैं जहाँ कारण से कार्य का अनुमान हो, जैसे—बादलों के घिर जाने से 'वर्षा होगी' यह अनुमान होता है । शेषवत् उसे कहते हैं जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो, जैसे नदी में पहले के जल से बढ़ा हुआ जल देखकर या नदी को बढ़ी हुई, वेग से बहती हुई देख कर 'वर्षा हुई है' ऐसा अनुमान होता है । सामान्यतोदृष्ट वह कहलाता है जिसे पहले कहीं देखा हो बाद में कहीं देखे तो उसमें गति का अनुमान

---

१. तन्त्रयुक्तिरियं बौद्धनैयायिकचक्रवर्त्तिदिङ्नागकृते 'प्रमाणसमुच्चये' दृश्यते ।
२. एतत्पदस्य विस्तृतं व्याख्यानं वार्त्तिकेऽनुसन्धेयम् ।

दृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति, तथा चाऽऽदित्यस्य; तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्येति।

अथ वा—पूर्ववदिति, यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्, यथा–धूमेनाऽग्निरिति। शेषवन्नाम–परिशेषः, स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः, यथा–'सदनित्यम्' एवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मगुणसंशये–'न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्; न कर्म, शब्दान्तरहेतुत्वात्; यस्तु शिष्यते सोऽयम्' इति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः। सामान्यतोदृष्टं नाम—यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथा–इच्छादिभिरात्मा, 'इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मा' इति।

विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे त्रिविधवचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन्

होता है। जैसे—सूर्य को प्रातः पूर्व में देखा गया और सायंकाल पश्चिम में देखा गया तो अनुमान हुआ 'सूर्य में गति है।'

'अथ वा' से उक्त तीनों पदों का अन्य प्रकार से व्याख्यान का उपक्रम करते हैं—पूर्ववत् उसे कहते हैं जहाँ पहले दोनों का प्रत्यक्ष हो चुका हो परन्तु अब लिङ्ग-लिङ्गी में किसी एक को देख कर दूसरे का अनुमान किया जाय, जैसे—धूम से वह्नि का। शेषवत् उसे कहते हैं जो परिशेष (बाकी बचा) रह जाये। वह है सम्भाव्यमानों में से कुछ का प्रतिषेध कर देने पर बाकी बचे हुओं में कहीं भी सम्भाव्यमान न होने से उक्त प्रतिषेध के बाद अवशिष्ट का ज्ञान। जैसे—'शब्द सत् है, अनित्य भी है' ऐसा निश्चय हो जाने के बाद सन्देह होता है कि हम शब्द को क्या मानें—द्रव्य, गुण या कर्म? तब 'शब्द द्रव्य नहीं है एक द्रव्य में समवेत होने से', 'शब्द कर्म भी नहीं है, शब्दान्तर का हेतु होने से' इन हेतुओं द्वारा शब्द में द्रव्यत्व तथा कर्मत्व का प्रतिषेध हो गया, बाकी बच गया गुण, अतः वहाँ अनुमान होता है—'शब्द गुण है'। सामान्यतोदृष्ट वह होता है जहाँ लिङ्ग और लिङ्गी दोनों के ही सम्बन्ध अप्रत्यक्ष हों, परन्तु किसी अर्थविशेष से लिङ्ग के साधारण्य द्वारा लिङ्गी का ज्ञान हो जाये। जैसे—इच्छादि से आत्मा का 'इच्छादि गुण हैं, गुण द्रव्य में रहते हैं, अतः ये इच्छादि जिसमें रहें वही आत्मा है'—यह अनुमान।

विभाग कर देने से अनुमान का त्रैविध्य ज्ञात हो ही जाता, फिर सूत्र में 'त्रिविधम्' यह पद क्यों दिया? अतिगम्भीर इस महान् न्यायशास्त्र का छोटे-छोटे सूत्रों से उपदेश करके ही आचार्य ने लाघव कर दिखाया, फिर इन छोटे-छोटे वाक्यों में भी और लाघव

वाक्यलाघवेऽनादरः, 'तथा चाऽयम्[1]' इत्यम्भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते, छले, शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्र इति ।

सद्विषयं च प्रत्यक्षम्, सदसद्विषयं चानुमानम् । कस्मात् ? त्रैकाल्यग्रहणात्—त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते—'भविष्यति' इत्यनुमीयते, 'भवति' इति च, 'अभूत्' इति च । असच्च खल्वतीतमनागतं चेति ॥ ५ ॥

(ग) उपमानलक्षणम्

अथोपमानम् ।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति—'यथा गौरेवं गवयः' इति । किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते, यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यत इति? समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह । 'यथा गौरेवं गवयः' इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थ-

---

करना उन्हें अभीष्ट नहीं था, अतः ऐसे लाघव में उनका आदर नहीं है—यह दिखाने के लिये । आचार्य का ऐसा लाघव के प्रति अनादर इस शास्त्र में 'वैसा ही यह है' इत्यादि वाक्य-विकल्पों द्वारा सिद्धान्त, छल, शब्द आदि के वर्णन-प्रसंग में भी बहुत जगह देखा जाता है ।

प्रत्यक्ष केवल वर्तमानविषयक होता है, परन्तु अनुमान वर्तमानविषयक भी होता है, अतीत व अनागत विषयक भी; क्योंकि अनुमान द्वारा त्रैकालिक ज्ञान होता है । तीनों कालों से युक्त अर्थ अनुमान द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, जैसे 'होगा' यह अनुमान भी हो सकता है, 'है' यह भी हो सकता है, 'था' यह भी । 'असत्' का अनुमान अतीत या अनागत विषयक ही होता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार अनुमान का व्याख्यान कर दिया गया ॥

अब उपमान का निरूपण करते हैं—

(जिससे) प्रसिद्ध (पूर्वप्रमित गवादि) के साधर्म्य (सादृश्य) ज्ञान से साध्य (गवयादि-पदवाच्य) की सिद्धि हो वह 'उपमान' प्रमाण कहलाता है ॥ ६ ॥

प्रज्ञात (प्रसिद्ध गो-आदि) के सादृश्यज्ञान से प्रज्ञापनीय (गवय-आदि) का ज्ञान जिस प्रमाण से कराया जाये—उसे 'उपमान' कहते है । 'जैसी गौ ऐसा ही गवय होता हैं' ।

प्रमाता जब गो के सदृश गवय को देखता है तो उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से ही वह ज्ञान हो जाता है, फिर उपमान प्रमाण यहाँ क्या नई चीज ला देगा ? वाक्यार्थश्रोता समान-धर्म (सादृश्य) को प्रत्यक्ष कर गवय को देखता ही है । किसी एक शब्द की उसके अर्थ में समाख्या का परिचय होना, यही उपमान का प्रयोजन है—ऐसा सूत्रकार का अभिप्राय

---

१. 'चायमस्य'—इति पा० ।

मिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानः 'अस्य गवयशब्दः संज्ञा' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते इति। 'यथा मुद्‌गस्तथा मुद्‌गपर्णी', 'यथा माषस्तथा माषपर्णी' इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाऽऽहरति। एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति ॥ ६ ॥

(घ) शब्दलक्षणम्

अथ शब्दः।

आप्तोपदेशः शब्दः[1] ॥ ७ ॥

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः, तया प्रवर्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्त इति।

एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते, नाऽतोन्यथेति ॥७॥

है। अर्थात् 'जैसी गौ वैसा गवय होता है' इस उपमान के प्रयुक्त होने पर समानधर्म (सदृश) अर्थ को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (प्रत्यक्ष) से प्राप्त करता हुआ 'इसकी संज्ञा गवय-शब्द है' ऐसा संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध उपमान प्रमाण से जान लेता है। 'जैसा मूंग वैसी मुद्‌-गपर्णी' 'जैसा उड़द वैसी माषपर्णी' यह उपमान प्रयुक्त होने पर संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध को जानता हुआ उस औषध को दवा के लिये ले आता है। इसी तरह लोक में व्यवहृत अन्य उपमानों को भी समझना चाहिये ॥ ६ ॥

उपमान प्रमाण का व्याख्यान समाप्त ॥

अब शब्द का निरूपण करते हैं—

आप्त के उपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं ॥ ७ ॥

साक्षात्कृतधर्मा (जिसने सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा अर्थ का निश्चय कर लिया हो), यथा-दृष्ट (सही) अर्थ को बतलाने का इच्छा से प्रवृत्त उपदेष्टा पुरुष 'आप्त' कहलाता है। साक्षात्कृत (अर्थ के प्रत्यक्षज्ञान) के पश्चात् प्रवृत्त पुरुष आप्त कहलाता है। 'आप्त' का यह लक्षण ऋषि (त्रिकालज्ञ), आर्य (निष्पाप साधारण जन) तथा म्लेच्छ (डाकू-लुटेरे)—तीनों में समान रूप से घट सकता है। (लुटेरे भी घोर जंगल में किसी धनिक को लूट कर उस पर दया कर उसे नगर का सही मार्ग बतला देते हैं।) इसलिये इन सभी के ऐसे शब्दव्यवहार प्रवृत्ति में सहायक होते हैं।

इस प्रकार इन (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) प्रमाणों से ही सभी देवता, मनुष्य व पशु-पक्षियों के समग्र (लौकिक-अलौकिक) व्यवहार चलते हैं, उन व्यवहारों का इनसे भिन्न अन्य कोई साधन नहीं है ॥ ७ ॥

---

१. बौद्धाचार्यास्तु शब्दोपमानयोर्नातिरिक्तं प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति।

स द्विविधो दृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः। यस्याऽमुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः। एवमृषि-लौकिकवाक्यानां विभाग इति।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? स न मन्येत–दृष्टार्थं एवाऽऽप्तोपदेशः प्रमाणम्, अर्थस्यावधारणादिति; अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणम्, अर्थस्यानुमानादिति ॥ ८ ॥

इति प्रमाणभाष्यम् ॥

३. प्रमेयप्रकरणम् [९-२२] ज्ञातुम् योग्यं

किं पुनरनेन प्रमाणेनाऽर्थजातं प्रमातव्यमिति ? तदुच्यते—

Imp **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्याभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥**

तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायतनं शरीरम्। भोगसाधनानीन्द्रियाणि। भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः। भोगो बुद्धिः।

वह (शब्दप्रमाण) दृष्टार्थ तथा अदृष्टार्थ रूप से दो प्रकार का होता है ॥ ७ ॥

आप्त प्रयोक्ता द्वारा जिस शब्द का इसी लोक में अर्थ देख लिया गया हो वह 'दृष्टार्थ' कहलाता है। जिस अर्थ की परलोक में प्रतीति हो वह 'अदृष्टार्थ' है। इन दोनों से लौकिक वाक्यों और ऋषिवाक्यों (वेदमन्त्र) का विभाजन किया गया है।

दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ—इस विभाग की क्या आवश्यकता है, सामान्यतः एक शब्दप्रमाण ही क्यों न मान लिया जाये ? साधारण पुरुष इतना ही न समझ लें कि जिसका अर्थ इस लोक में प्रत्यक्ष किया जा सके—ऐसा आप्तोदेश तो प्रमाण है, पर जिस (स्वर्गकामो यजेत-इत्यादि) का अर्थ इस लोक में प्रत्यक्ष न किया जा सके—वह आप्तोदेश प्रमाण नहीं; वस्तुतः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि आप्तोदेश भी प्रमाण ही है क्योंकि उसके सहारे अदृष्ट अर्थ अनुमित होता है ॥ ८ ॥

प्रमाणभाष्यानुवाद समाप्त ॥

इस प्रमाणसमूह से किस अर्थसमूह (प्रमेयसमूह) का ज्ञान करना चाहिये ? इसके उत्तर में कहते हैं—

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग—ये १२ प्रमेय (प्रमाणों से जानने योग्य) हैं ॥ ९ ॥

इनमें आत्मा सभी सुख-दुःख-साधनों का द्रष्टा है, सभी सुख-दुःखों का भोक्ता है, सभी सुख-दुःख-साधनों और सुख-दुःखों को जानता है, तथा अनुभव करता है। उस आत्मा का भोगाधिष्ठान शरीर है। इन्द्रियाँ भोग के साधन हैं। इन्द्रियार्थ भोगने योग्य होते हैं। भोग बुद्धि (साक्षात्कार करनेवाली) है। सभी अर्थों को एक साथ उपलब्ध

सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिः, दोषाश्च। 'नाऽस्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्तः' इति प्रेत्यभावः। ससाधनसुखदुःखोपभोगः फलम्। दुःखमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम्, किं तर्हि ? जन्मन एवेदं ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात्, दुःखेनाविप्रयोगाद्, विविधबाधनायोगाद् 'दुःखम्' इति समाधिभावनमुपदिश्यते। समाहितो भावयति, भावयन्निर्विद्यते, निर्विण्णस्य वैराग्यम्, विरक्तस्यापवर्ग इति। जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति। अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसङ्ख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गः, मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति ॥ ९॥

(क) आत्मलक्षणम्

तत्राऽऽत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते। स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत

करने में इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हो सकतीं, अतः मन को पृथक् प्रमेय मानना पड़ा। वह सभी (बाह्य-आभ्यन्तर-भेदभिन्न) विषयों का ज्ञान-साधन है। शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, सुख तथा हर्ष भय, शोकादि वेदनाओं के सम्पादनकारण को **प्रवृत्ति** कहते हैं। उपर्युक्तप्रवृत्तिकारण को **दोष** कहते हैं। 'इसका यह अपूर्व शरीर नहीं हैं, न अनुत्तर शरीर है, पूर्व शरीरों का आदि नहीं है, उत्तर शरीरों का अन्त मोक्ष है'—ऐसा प्रमेय **प्रेत्यभाव** कहलाता है। साधन (स्रक्चन्दनवनिता, तथा धूलिताड़न, निद्रादि) सहित सुख-दुःखों का उपभोग **फल** कहलाता है। **दुःख** यह प्रमेय अनुकूलवेदनीय लक्षणवाले सुख का प्रत्याख्यानमात्र नहीं है; किन्तु साधनसहित सुखवाले मुमुक्षु को जन्म से ही दुःखानुषक्त होने से, दुःख से छुटकारा न पाये जाने से, तथा आध्यात्मिकादि विविध वाधनाओं के लगे रहने से 'यह दुःख है' ऐसी समाधि भावना का उपदेश किया गया है। मुमुक्षु समाहितचित्त होकर भावना करता है कि 'सर्वं खल्विदं दुःखम्', भावना करते हुए उसको इस दुःखरूपी संसार से ग्लानि होती है, ग्लानि होते होते वैराग्य हो जाता है, वैराग्य द्वारा वह **अपवर्ग** (मोक्ष = जन्ममरणरूपी दुःख से छुटकारा) पा जाता है। जन्ममरण-प्रवाह का उच्छेद तथा सभी दुःखों का आत्यन्तिक नाश ही 'अपवर्ग' कहलाता है।

यों तो (अन्य शास्त्रों में) प्रमेयों के अन्य भेद भी हैं, जैसे—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय'—आदि। उनके अवान्तर भेद से प्रमेय के इतने विभाग हो जाते हैं कि उनकी गणना ही कठिन है। यहाँ सूत्रकार को इतना ही अभीष्ट है कि तत्त्व-ज्ञान से अपवर्ग होता है, और मिथ्याज्ञान से संसार। अतः उन्होंने तदनुकूलतया इस विशेष प्रमेयसमूह का उपदेश कर दिया है ॥ ९ ॥

आत्मा का प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता, तो क्या वह केवल आप्तोदेश (शब्दप्रमाण)

इति ? नेत्युच्यते; अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति । कथम् ?

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ १० ॥

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान्, तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति, सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिङ्गमात्मनः । नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति ।

एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः । यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुम्प्रयतते, सोऽयं प्रयत्न

से ही जाना जायेगा ? कहते हैं—नहीं; आप्तोदेश के वाद अनुमान से भी उस को समझना चाहिये । कैसे ?—

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख, ज्ञान—ये आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हैं ॥ १० ॥

प्रमाता जिस जातीय अर्थ-सन्निकर्ष से सुख प्राप्त करता है, वैसे ही जातीय अर्थ को पुनः देखकर उसे ग्रहण करने की इच्छा करता है, यहँ ग्रहण करने की इच्छा ही यतः अनेकार्थद्रष्टा के दर्शनान्तर से एकाश्रयता का सन्धान कराती है अतः किसी एक प्रमेय में दर्शन-प्रतिसन्धान कराती हुई 'आत्मा है'—इसमें हेतु है । [वात को यों समझें—किसी वस्तु को पुनः पुनः सुखोत्पादक अनुभव करके 'यह वस्तु सुखोत्पादक है, जहाँ यह वस्तु है, वहाँ सुख है'—ऐसा व्याप्तिनिर्धारण करता है । कुछ समय वाद फिर उसी वस्तु को देखकर 'यह पूर्वानुभूत सुखवाली ही वस्तु है' ऐसा स्मरण करता है, तव 'यह सुख देगी'—ऐसा निगमन करके उसे ग्रहण करना चाहता है । इस इच्छा से पहले के व्याप्तिज्ञान, स्मृतिज्ञान तथा निगमन का कोई एक प्रतिसन्धाता होना चाहिये जो इच्छा कर सके, अतः इस इच्छा से अनुमान होता है कि ऐसी इच्छा करने वाला कोई आत्मा है । तात्पर्य यह है कि यह जो एक अनुभविता, स्मर्ता, अनुमाता तथा एषिता है वही नैयायिकों के मत में 'आत्मा' कहलाता है ।]

शङ्का—किसी एक ज्ञाता (आत्मा) के न मानने पर भी बुद्ध्यादि के सन्तान (प्रवाह) से भी प्रतिसन्धान-व्यवस्था तो वन ही जायेगी फिर एक अतिरिक्त आत्मा मानने से क्या लाभ ? बुद्धि के प्रतिनियतविषय होने के कारण प्रतिसन्धान-व्यवस्था सम्भव नहीं है, जैसे वर्तमान बुद्ध्यादिकों का देहान्तर में प्रतिसन्धान नहीं हो पाता ।

इसी तरह एक के ही अनेक अर्थों का साक्षात्कर्ता होने के कारण दर्शनप्रतिसन्धि सम्भव होने से दुःखोत्पादक विषय में द्वेष होता है ।

इस प्रमाता का जिस तरह का विषय सुखहेतु प्रसिद्ध है, उसी तरह के विषय को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, यह प्रयत्न साक्षात्कर्ता तथा दर्शनप्रतिसन्धिकर्ता के एक हुए विना नहीं हो सकता । बुद्ध्यादिकों की प्रवाह-व्यवस्था उनके नियत होने से

एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात् । नियतविषये हि बुद्धि-भेदमात्रे न सम्भवति, देहान्तरवदिति । एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः ।

सुखदुःखस्मृत्या चाऽयं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते, दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते । पूर्वोक्त एव हेतुः ।

बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति–किंस्विदिति, विमृशंश्च जानीते—इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गम् । पूर्वोक्त एव हेतुरिति ।

तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते । यथा अनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियत-विषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते, तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन्; अविशेषात् । सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणम्, नान्यदृष्टस्य, नादृष्टस्येति; एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारः–अन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति; तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुम् । इत्येवमुपपन्नम्—'अस्त्यात्मा' इति ॥ १० ॥

(ख) शरीरलक्षणम्

तस्य भोगाधिष्ठानम्—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

देहान्तर की तरह हो नहीं सकती । इसी तरह दुःखोत्पादविषयक प्रयत्न का व्याख्यान भी समझना चाहिये ।

सुख-दुःख-स्मृति से यह प्रमाता उनके साधनों को ग्रहण करता हुआ सुख-दुःख प्राप्त करता है, सुख-दुःख की अनुभूति करता है । इसमें अनुपदोक्त कारण ही समझना चाहिये ।

जानने की इच्छा करता हुआ विचार करता है कि यह क्या है, विचार करता हुआ जान जाता है कि यह यह है, जब तक इस बुभुत्सा और विमर्श का एक ही कर्ता न होगा तब तक यह ज्ञान नहीं होगा, अतः मानना पड़ेगा कि इन दोनों का एक ही कर्ता 'आत्मा' है।

'देहान्तरवत्' पद की व्याख्या करते हैं । जैसे अनात्मवादी के मत में नियतविषयक बुद्धिभेद का देहान्तर में प्रतिसन्धान नहीं होता, उसी तरह उभयत्र समान स्थिति होने से एकदेह-अनेकदेहविषयक बुद्धिभेद भी प्रतिसन्धि में असमर्थ ही होंगे । जब यह एक प्राणी का स्वभाव है कि वह स्वयम् अनुभूत का ही स्मरण कर सकता है, न कि दूसरे द्वारा अनुभूत या अननुभूत विषय का; तो नाना प्राणियों का भी यही स्वभाव समझना चाहिये कि उनमें दूसरों द्वारा देखे गये का स्मरण दूसरा नहीं कर सकता । ये दोनों ही बातें अनात्मवादी सिद्ध नहीं कर सकते । अतः यह सिद्ध हो गया कि आत्मा है ॥१०॥

उस आत्मा के भोग का आश्रय—

चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय तथा अर्थाश्रय शरीर है ॥ ११ ॥

कथं चेष्टाश्रयः ? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समोहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते तच्छरीरम् ।

कथमिन्द्रियाश्रयः ? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरम् ।

कथमर्थाश्रयः ? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते, स एषामाश्रयः, तच्छरीरमिति ॥ ११ ॥

(ग) इन्द्रियलक्षणम्

भोगसाधनानि पुन :—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्, गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेति रसनम्, रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षुः, रूपं पश्यतीति । स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दं गृह्णातीति । एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोध्यम्–स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति ।

शरीर चेष्टाश्रय कैसे है ? ईप्सित या जिहासित विषय के लिए उसकी ईप्सा या जिहासा में प्रवृत्त पुरुष का उसके अधिगम के लिये किया गया स्पन्दन ही 'चेष्टा' कहलाता है, वह जहाँ रहे, वह शरीर है ।

वह इन्द्रियाश्रय कैसे है ? इन्द्रियाँ जिसके स्वस्थ रहने पर स्वस्थ तथा अस्वस्थ रहने पर अस्वस्थ रहती हुई भले-बुरे कर्मों में प्रवृत्त होती हैं, वह इनका आश्रय है, वही शरीर है ।

वह अर्थाश्रय कैसे कहलाता है ? जिस अधिष्ठान के रहते इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न सुख दुःख का प्रतिसंवेदन प्रवृत्त होता है, वह इनका आश्रय (अवच्छेदक) है, वही शरीर है ॥ ११ ॥

अब भोगसाधनों (इन्द्रियों) का व्याख्यान किया जा रहा है—

१. घ्राण, २. रसन, ३. चक्षु, ४. त्वक्, ५. श्रोत्र—ये भूतप्रकृतिक (भौतिक) इन्द्रियाँ हैं ॥ १२ ॥

जिससे सूंघा जाये—वह **घ्राणेन्द्रिय** है, यह गन्ध का ग्रहण करती है । जिससे स्वाद चखा जाये—वह **रसनेन्द्रिय** है, यह रस का ग्रहण करती है । जिससे देखा जाये—वह **चक्षुरिन्द्रिय** है, यह रूप को देखती है । जिससे स्पर्श किया जाये, जिसका स्थान त्वक् है, वह **त्वगिन्द्रिय** कहलाती है । इस इन्द्रिय का त्वक् स्थान होने से उपचार द्वारा उस स्थान के नाम पर ही इस इन्द्रिय के नाम का व्यवहार किया जाता है । जिससे सुना जाये—वह **श्रोत्रेन्द्रिय** है, यह शब्द सुनती है । इस प्रकार स्व स्व संज्ञाओं के यौगिक निर्वचन के कारण यह समझना चाहिये कि अपने-अपने विषय का ग्रहण ही इन्द्रियों का इतर-व्यावर्तक लक्षण है ।

भूतेभ्य इति । नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमः, नैकप्रकृतीनाम् । सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति ॥ १२ ॥

भूतलक्षणम्

कानि पुनरिन्द्रियकारणानि ?

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशः—विभक्तानां भूतानां सुवचं कार्यं भविष्यतीति ॥ १३ ॥

(घ) अर्थ (विषय) लक्षणम्

इमे तु खलु—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति[1] ॥ १४ ॥

(ङ) बुद्धिलक्षणम्

अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्ति चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्ति-

---

'भूतेभ्यः' पद में बहुवचन इसलिये हैं—इन इन्द्रियों को नानाप्रकृतिक मानने पर ही इनमें विषय-नियम बनेगा, एकप्रकृतिक मानने पर नहीं । तथा विषय-नियम होने से ही इनमें स्वविषय-ग्रहण लक्षण घटेगा ॥ १२ ॥

इन इन्द्रियों की प्रकृतियाँ (कारण) क्या हैं ?

१. पृथिवी, २. जल, ३. तेज, ४. वायु तथा ५. आकाश—ये 'भूत' (इन्द्रियकारण) कहलाते हैं ॥ १३ ॥

विशेष संज्ञाओं से भूतों का पृथक् उपदेश इसलिये किया गया है कि इस प्रकार भेदों से ज्ञात इन भूतों की प्रमिति भली भाँति हो सकेगी ॥ १३ ॥

१. गन्ध, २. रस, ३. रूप, ४. स्पर्श, तथा ५. शब्द—ये पृथिवी आदि भूतों के गुण हैं, उनके विषय (अर्थ) हैं ॥ १४ ॥

पृथिवी आदि पाँचों भूतों का यथासम्बन्ध गुण तथा इन्द्रियों का यथाक्रम विषय समझना चाहिये ॥ १४ ॥

त्रैगुण्य का विकार होने से बुद्धि स्वयम् अचेतन होती हुई भी पुरुषगत चैतन्य की छाया पड़ने के कारण चेतन की तरह आभासित होती है, उस चैतन्याभास से वह स्वयं

---

१. एतद्भाष्यव्याख्याने वार्त्तिकतात्पर्यकारयोरर्वाचर्वृश्यते, तदभिमतव्याख्यानं तु तत्र तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

विरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति। तद्धि चेतनं स्यात्, एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसङ्घातव्यतिरिक्त इति? प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थप्रकाशन[1]मुपपत्तिसामर्थ्यादिति ॥ १५ ॥

(च) मनोलक्षणम्

स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्स्वयमपि—

प्रकाशित होती है तथा अचेतन, अकर्ता पुरुष की उपलब्धि प्रकाशित करती है'—ऐसा साङ्ख्यकार का मत है, यहाँ अचेतन बुद्धि का व्यापार ज्ञान तथा वह भी अकर्ता चेतन को उपलब्ध कराना—यह युक्तिविरुद्ध बात है। इसी का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान—ये अनर्थान्तर (पर्याय) हैं। (इन पर्यायों से जो पदार्थ कहा जाये वह 'बुद्धि' है) ॥१५॥

पुरुषगत चैतन्य के अपरिणामी होने से उसकी छाया बुद्धि में नहीं पड़ सकती, अतः बुद्धि में ही चैतन्य मानना पड़ेगा। यदि ऐसा है तो ज्ञान के प्रति बुद्धि और पुरुष-चेतनद्वय का व्यापार अपेक्षित है, केवल बुद्धि से ज्ञान नहीं होगा; जब कि देहेन्द्रिय-संघात से अतिरिक्त एक ही चेतन माना गया है? उपपत्तिसामर्थ्य से इस प्रमेयलक्षणार्थक वाक्य (सूत्र) का दूसरे (साङ्ख्यकार) के मत-खण्डन में भी तात्पर्य है।

[पर्याय शब्द कह देने मात्र से लक्षणाभिधान नहीं हुआ—ऐसा कुछ लोग कह सकते हैं, उनको यही उत्तर देना चाहिये कि लोक में दो तरह से पदाभिधान होता है, कुछ पद प्रतिव्यक्ति संकेतित किये जाते हैं, जैसे—पिता अपने पुत्रों का अलग-अलग नामकरण करता है; या अनेक व्यक्ति को सामान्यतः एक नाम दे दिया जाता है, जैसे—गौ आदि। दूसरे प्रकार में अभिधेय के लिए केवल पर्याय से कह देना भी अभिधेय-ज्ञान के लिए पर्याप्त होता है, लक्षणकरण का यह भी प्रयोजन है। प्रकृत में उपलब्धि तथा ज्ञान का अर्थ सर्वप्रसिद्ध है, इसलिये उन्हें बुद्धि का पर्याय कह देने से बुद्धि स्वरूप ज्ञात हो जाता है। इस युक्ति से बुद्धि का लक्षण भी बता दिया गया है] ॥ १५ ॥

स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊह, सुख-आदि का प्रत्यक्ष, तथा इच्छा-आदि ये मन के लक्षण हैं; इनके साथ-साथ यह भी है कि—

१. सांख्यमतनिराकरणरूपम्।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति। युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते, तेनानुमीयते—अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि, यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानम्, सन्निधेश्चोत्पद्यत इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति ॥ १६ ॥

(छ) प्रवृत्तिलक्षणम्

क्रमप्राप्ता तु—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ १७ ॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारम्भः—शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः। तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति ॥१७॥

(ज) दोषलक्षणम्

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवर्तना—प्रवृत्तिहेतुत्वम्, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा।

मन को अतिरिक्त प्रमेय मानने से ही युगपद् ज्ञान बन पायेगा ॥ १६ ॥

बाह्येन्द्रियाँ स्मृत्यादिक की निमित्त नहीं बन सकतीं, अतः कोई न कोई अन्य कारण उनका निमित्त मानना पड़ेगा; दूसरे, घ्राणादि तथा गन्धादि का युगपत् सन्निकर्ष होने पर सभी ज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं होंगे, अतः यह अनुमान होता है कि अवश्य कोई अन्य तदिन्द्रिय-संयोगी, सहकारी, अव्यापी निमित्त है जिसकी सन्निधि (सामीप्य) के विना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता, तथा सन्निधि होने पर उत्पन्न हो जाता है। यह अनुमान ही मन की सत्ता में हेतु है। दूसरी बात यह भी है कि यदि बाह्येन्द्रियों के साथ मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखेंगे तो अनेक ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने लग जायेंगे ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्त (प्रवृत्ति का लक्षण कर रहे हैं)—

वाणी, बुद्धि (मन), शरीर से किये जाने वाले कार्य प्रवृत्ति कहलाते हैं ॥ १७ ॥

सूत्र में 'बुद्धि' शब्द से मन अभिप्रेत है 'जिससे जाना जाये' वह बुद्धि (अर्थात् मन) है।

शरीर वाणी मन से, पुण्य तथा पाप रूप में कार्य दश प्रकार का होता है। इसका विशद वर्णन पीछे द्वितीय सूत्र (दुःखजन्मप्रवृत्ति········) में कर चुके हैं ॥ १७ ॥

प्रवर्तना ही दोष हैं ॥ १८ ॥

प्रवर्तना = प्रवृत्ति के कारण (हेतु) दोष हैं। रागादि दोष ज्ञाता को पुण्य या पाप में प्रवृत्त करते हैं। जहाँ मिथ्याज्ञान होगा वहीं रागादि दोष होंगे।

यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्त इति ? कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढाः। रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते; तथा द्विष्टः, तथा मूढ इति।

'दोषा रागद्वेषमोहाः'–इत्युच्यमाने बहु नोक्तं भवतीति ॥ १८ ॥

(झ) प्रेत्यभावलक्षणम्

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

उत्पन्नस्य क्वचित्सत् वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य =सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः। पुनरुत्पत्तिः =पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानम्, यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्त्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति, यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्यभावः = मृत्वा पुनर्जन्म।

सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति ॥ १९ ॥

साधारणजनों द्वारा हमेशा ही इन दोषों का अनुभव करते रहने से ये लक्षण विना बताये भी जाने जा सकते हैं, पुनः इनका पृथक् लक्षण करने की क्या आवश्यकता ? उन कर्मों के कारण ही पुरुष रागी, द्वेषी तथा मूढ होते हैं; रागी पुरुष वही कर्म करता है, जिससे उसे सुख या दुःख मिलता है, इसी तरह द्वेषी तथा मोही पुरुष के विषय में समझना चाहिए; तात्पर्य यह निकला कि द्वेष प्रवृत्ति के कारण (जनक) हैं, यह 'जनकत्व' दिखाने के लिये ऐसा लक्षण किया गया है।

'राग द्वेष मोह दोष हैं'—ऐसा कहने पर इनकी गणना-मात्र होती, इनका लक्षण नहीं होता, अतः 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः'—ऐसा ही सूत्र पढ़ा गया ॥ १८ ॥

पुनः उत्पन्न होना (मर कर जन्म लेना) प्रेत्यभाव है ॥ १९ ॥

उत्पन्न हुए प्राणी का मरकर पुनः जन्म लेना प्रेत्यभाव कहलाता है। उत्पन्न का अर्थ है 'सम्बद्ध'। किस से सम्बन्ध ? देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि, वेदना से। इस तरह पुनरुत्पत्ति से मतलब है आत्मा का देहादि से सम्बन्ध (क्योंकि आत्मा के नित्य होने से उसमें उत्पाद या मरण नहीं होता, अतः 'सम्बन्ध' कहा गया है)। 'पुनः' शब्द से अभ्यास (बार बार होना) में तात्पर्य है। जहाँ कहीं प्राणसंयुक्त शरीर में रहते हुए पूर्वोपात्त देहादि को छोड़ना—'प्रैति' (मर जाता है) कहलाता है, तथा वहाँ से अन्यत्र दूसरे देहादिक का ग्रहण कर (सम्बन्ध जोड़) लेता हुआ—'भवति' (जन्म लेता है)। इन दोनों शब्दों के संयोग से व्युत्पन्न 'प्रेत्यभाव' का अर्थ है—'मर कर फिर जन्म लेना'।

इस जन्म-मरण की परम्परा का पुनः पुनः होना अनादि है, अपवर्ग जब होगा तभी इसका अन्त होगा—यह इस प्रेत्यभाव के विषय में समझ लेना चाहिये ॥ १९ ॥

(ञ) फललक्षणम्

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च, तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्। तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वं भवति।

तदेतत्फलमुपात्तमुपात्तं हेयम्, त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति। स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोह्यते लोक इति ॥ २० ॥

(ट) दुःखलक्षणम्

अथैतदेव—

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

बाधना = पीडा, ताप इति। तयाऽनुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति। सोऽयं सर्वं दुःखेनानुविद्धमिति पश्यन् दुःखं जिहासु-

---

प्रवृत्ति तथा दोष से जनित सुख-दुःखरूप अर्थ 'फल' कहलाता है ॥ २० ॥

सुख-दुःख को स्वसम्बन्धितया अनुभव करना ही फल है। देह, इन्द्रिय, विषय, बुद्धि की समष्टि में सुखविपाक तथा दुःखविपाक—यों दो प्रकार का कर्म होता है. इसलिये यहाँ देहादिकों के साथ उपर्युक्त लक्षण वाला फल अभिप्रेत है। निष्कृष्टार्थ यह है कि सुख-दुःखसंवेदन तथा शरीरादि के साथ सम्वन्ध—ये दोनों प्रवृत्ति-दोष जनित हैं, अतः दोनों ही 'फल' कहलाते हैं।

यह उक्त प्रकार का फल पुनः पुनः प्राप्त कर छोड़ दिया जा सकता है, तथा इसे बार बार छोड़कर पुनः प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है, इसीलिए इसके हान (त्याग) या उपादान (ग्रहण) की कोई सीमा नहीं है, कोई अन्त नहीं है। यह समस्त संसार इसी हानोपादान-प्रवाह में पड़कर सुख-दुःख भोगता रहता है ॥ २० ॥

यह शरीरादि फलान्त प्रमेय ही—

बाधना (पीड़ा) 'दुःख' कहलाता है ॥ २१ ॥

'बाधना' कहते हैं पीड़ा अर्थात् ताप को। उसी से अनुस्यूत, उसके बिना न रहने वाला, उसी में ओतप्रोत दुःखपरिणाम के कारण को दुःख कहते हैं। यह सब दुःख से अनुस्यूत है, दुःख के विना नहीं रह पाता, अतः यह सब कुछ 'दुःख' है।

इस प्रकार प्रमाता 'यह समग्र दृश्यमान जगत् दुःख है'—ऐसा विचार करता हुआ

जंन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते, निर्विण्णो विरज्यते, विरक्तो विमुच्यते ॥ २१ ॥

(ठ) अपवर्गलक्षणम्

यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानम्, सोऽयम्—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

तेन = दुःखेन जन्मना, अत्यन्तं विमुक्तिः = अपवर्गः । कथम् ? उपात्तस्य जन्मनो हानम्, अन्यस्य चानुपादानम् । एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः । तदभयम्, अजरम्, अमृत्युपदं ब्रह्म, क्षेमप्राप्तिरिति ।

नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते; तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः । न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते—'नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते' इति ।

नित्यस्याभिव्यक्तिः—संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम् । नित्यस्याभिव्यक्तिः = संवेदनम्, ज्ञानमिति, तस्य हेतुर्वाच्यः, यतस्तदुत्पद्यत इति ।

जन्म लेने में दुःख मानता है, दुःख मानकर ग्लानि करता है, ग्लानि मानकर सभी विषयों में वैराग्य धारण करता है, विरक्त होकर 'मोक्ष' पा जाता है ॥ २१ ॥

जहाँ इस दुःख की अवधि है, जहाँ अन्त है, वह—

उस (जन्मरूप) दुःख से सदा के लिये छुटकारा पा जाना 'अपवर्ग' (मोक्ष) कहलाता है ॥ २२ ॥

उस जन्मरूप दुःख से अत्यन्त (पुनरावृत्तिरहित) विमुक्ति (छुटकारा) ही अपवर्ग (मोक्ष) कहलाता है । कैसे ? क्योंकि तब प्राप्त जन्म का त्याग हो जाता है तथा अन्य (आगामी) जन्म का उपादान नहीं हो पाता । इस मोक्षरूप अविनाशी अवस्था को मुक्तितत्त्वज्ञ विद्वान् 'अपवर्ग' कहते हैं । इस प्रकार के इस कैवल्य पद में कहीं किसी से भी भय नहीं है, जरा (जीर्णता, वार्धक्य) नहीं है, यह अमृत्युपद भावरूप अवस्थाविशेष है, ब्रह्म है, नित्य सुख का आधार है ।

महत्त्व की तरह मोक्ष में 'आत्मा में नित्य सुख अभिव्यक्त होता है, उसके अभिव्यक्त होने से विमुक्त अत्यन्त सुखी होता है'—ऐसा कुछ लोग मानते हैं; प्रमाण न होने से उनके इस मन्तव्य को अयुक्त ही समझें; क्योंकि ऐसा कोई प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि महत्त्व (व्यापकता) की तरह आत्मा को मोक्षावस्था में आत्मगत नित्य सुख अभिव्यक्ति होता है ।

नित्य की अभिव्यक्ति—अर्थात् संवेदन, उस में कोई हेतु बतलाना चाहिये । यतः नित्य की अभिव्यक्ति = संवेदन अर्थात् ज्ञान है, अतः उसमें कोई हेतु दिखाना चाहिये जिससे वह (ज्ञान) उत्पन्न होता हो ।

सुखवन्नित्यमिति चेत् ? संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः। यथा मुक्तः सुखेन तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नः, तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यत इति; उभयस्य नित्यत्वात्।

अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत। यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण, तस्य च नित्यं संवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत, न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति; उभयस्य नित्यत्वात्।

अनित्यत्वे हेतुवचनम्। अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यम् ? यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः।

आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम्। आत्ममनःसंयोगो हेतुरिति चेत् ? एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति।

धर्मस्य कारणववनम्। यदि धर्मो निमित्तान्तरम् ? तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति।

योगसमाधिजन्यकार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः[1]। यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुः ? तस्य कार्यावसायविरोधात्प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्तेत।

सुख की तरह वह नित्य है—ऐसा कहोगे तो संसारी और मुक्त पुरुष में भेद क्या रह जायेगा ? जैसे मुक्त पुरुष नित्य सुख तथा उसके संवेदन से उपपन्न है उसी प्रकार संसारी में भी नित्य सुख मानना पड़ेगा; क्योंकि दोनों ही सुख तथा संवेदन नित्य हैं।

दोनों को नित्य मानने पर, धर्म तथा अधर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के उपलब्धिकाल में नित्य सुख तथा उसके नित्य ज्ञान का यौगपद्य (एककालसम्बद्धत्व) ग्रहण करना पड़ेगा।

सुख को नित्य तथा उसकी अभिव्यक्ति को अनित्य मानने में कोई हेतु दिखाना पड़ेगा कि 'मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति अनित्य है'। ऐसी अभिव्यक्ति जिससे पैदा होती है, वह कारण बताना चाहिये।

वैसी अभिव्यक्ति में अकेला आत्ममनःसंयोग तो निमित्त बन नहीं सकता, अतः उसका कोई निमित्तान्तर मानना पड़ेगा। वह निमित्तान्तर कौन है ? यह बताना चाहिए।

'धर्म ही तदपेक्षित निमित्तान्तर है'—ऐसा मानेंगे तो 'धर्म निमित्तान्तर है' इस में भी कोई हेतु बताना पड़ेगा, जिससे वह उत्पन्न होता हो।

यदि योगसमाधिज धर्म (धर्ममेघाख्य समाधि) को उसका हेतु मानेंगे तो उस धर्म में कार्य का विरोधी रहने से सर्वक्षय हो जाता है, सर्वक्षय होने से उस सुखाभिव्यक्ति की भी अत्यन्त निवृत्ति हो जायेगी।

---

[1] 'संवेदनाननुवृत्तिः'—इति पाठा०।

असंवेदने चाविद्यमानेनाविशेषः । यदि धर्मक्षयात् संवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेद्यत इति ? किं विद्यमानं न संवेद्यते, अथाविद्यमानम् ?—इति नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति ।

अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानमुत्पत्तिधर्मकत्वात् । योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानम् । उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम् । यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम् ।

नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम् । यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति; कारणस्य नित्यत्वात्, तथा संसारस्थस्यापीति । एवं च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति ।

शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत् ? न; शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात् ।

स्यान्मतम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः, तेनाविशेषो नास्तीति ? एतच्चायुक्तम्; शरीरादय उपभोगार्थाः, ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्; न चास्त्यनुमानम्–'अशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्ति' इति ।

'सुख है, परन्तु धर्मक्षय से उसका संवेदन नहीं हो पाता'—ऐसा मानेंगे तो इसमें तथा 'सुख नहीं है'—इसमें कोई अन्तर नहीं ।

'उत्पत्तिधर्मा होने से वह धर्म क्षीण नहीं होता' ऐसा अनुमान भी नहीं कर सकते; अपितु 'उत्पत्तिधर्मा अनित्य होता है' ऐसा विपरीत अनुमान ही होता है । हाँ, ऐसा कोई पुरुष हो जिसे संवेदनोपरम कभी न हो पाये वह यदि अनुमान करे कि 'संवेदन हेतु नित्य है' तो बात बन सकती है, परन्तु ऐसा पुरुष मिलेगा कहाँ !

अथ च–संवेदनहेतु के नित्य मानने पर मुक्त और संसारी पुरुष में अन्तर नहीं रहेगा—वह हम पहले ही कह आये । जैसे मुक्त पुरुष के सुख तथा सुखसंवेदन कारण के नित्य होने से नित्य हैं; क्योंकि वहाँ सुखसंवेदनोपरम नहीं होता, ऐसी स्थिति में संसारी में सुख तथा सुखसंवेदन भी मानना पड़ेगा । ऐसा मानने पर धर्म तथा अधर्म से उत्पन्न सुख-दुःख के उपलब्धि-काल में नित्य सुख तथा उसके नित्य संवेदन का यौगपद्य भी मानना पड़ेगा ।

यदि कहें—'उस संवेदन में शरीरादिसम्बन्ध प्रतिबन्धहेतु है' ? शरीरादि तो उस सुख के उपभोग के लिये होते हैं, वे प्रतिबन्धक क्यों बनेंगे ! 'शरीर उपभोगहेतु नहीं है'– ऐसा अनुमान करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह शास्त्रविरुद्ध होगा ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि संसारावस्थापन्न मुक्त पुरुष का शरीरादिसम्बन्ध नित्य सुखसंवेदन हेतु का प्रतिबन्धक है, इसलिये संसारी और मुक्तपुरुष के सुखसंवेदन

इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत् ? न; अनिष्टोपरमार्थत्वात् । इदमनुमानम्–इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणाम्, नोभयमनर्थकमिति ? एतच्चायुक्तम्; 'अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः, प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणाम्' इति । नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीति इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते । अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति, विवेकहानस्याशक्यत्वादिति ।

दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः । यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यं सुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः

में समानता नहीं है; परन्तु उनका मत भी समीचीन है, क्योंकि शरीरादि को पहले उपभोग का साधन मानना, फिर उन्हें उसका प्रतिबन्धक मानना—ये दो बातें एक साथ कैसे बनेंगी ! 'अशरीरी आत्मा को कोई भोग होता है'—ऐसा कोई अनुमान भी नहीं है ।

['मोक्ष में नित्य सुख अभिव्यक्त होता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है' ऐसा भाष्यकार पहले कह चुके हैं, वहाँ वेदान्ती कहता है—] पुरुष की प्रवृत्तियाँ इष्ट सुखप्राप्ति के लिए ही देखी जाती हैं'—ऐसा अनुमान प्रमाण मान लें ? यह भी नहीं मान सकते; क्योंकि उसकी सभी प्रवृत्तियाँ केवल इष्टप्राप्ति के लिए ही नहीं, बल्कि उनमें कुछ अनिष्ट की निवृत्ति के लिये भी हुआ करती हैं । यदि यह अनुमान करें—'इष्टप्राप्ति के लिए मोक्षोपदेश किया जाता है, मुमुक्षुओं की उस उपदेश में प्रवृत्ति भी देखी जाती है', अतः दोनों ही निरर्थक नहीं है ? तो यह ठीक नहीं; क्योंकि 'अनिष्टनिवृत्ति के लिए मोक्षोपदेश किया जाता है, मुमुक्षुओं की उस उपदेश में प्रवृत्ति भी देखी जाती है' यह अनुमान भी किया जा सकता है । इस संसार में ऐसा कोई भी इष्ट नहीं है जो अनिष्ट से अनुस्यूत न हो, अतः इष्ट भी किसी समय अनिष्ट बन सकता है । उस अनिष्ट की निवृत्ति के लिए प्रवर्तमान पुरुष अपने इष्ट को भी छोड़ बैठेगा; क्योंकि इष्टानिष्ट के परस्पर संश्लिष्ट होने से अनिष्टांश का त्याग तथा इष्टांश का रक्षण सर्वथा दुःशक है ।

['इस संसार में क्षणिक सुख को छोड़कर बुद्धिपूर्वकारी स्थायी सुख ग्रहण करता है, उनमें स्थायितम सुख ही मोक्ष है'—ऐसा मानेंगे तो यह नय देहादि में भी समान पड़ेगा; क्योंकि उनके विषय में भी कहा जा सकता है—'क्षणिक नश्वर देहादि को छोड़कर उनसे स्थायितर किसी अन्य को चाहने की बुद्धिपूर्वकारी की इच्छा होती है इसलिए स्थायितम देहेन्द्रियादिरूप ही मोक्ष है' इस आशय से भाष्यकार परिहास करते हैं–] दृष्ट का अतिक्रमण कर उससे अच्छे अदृष्ट सुख की कल्पना को मोक्ष मानने पर देहादि में भी यह बात समान पड़ेगी । जैसे पुरुष दृष्ट सुख को छोड़कर नित्य सुख को चाहता है; इसी तरह देहेन्द्रिय बुद्धि को अनित्य समझकर उन्हें छोड़ते हुए इनसे अच्छी देहेन्द्रिय-बुद्धियों

कल्पयितव्याः ! साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति ।

उपपत्तिविरुद्धमिति चेत् ? समानम् । देहादिनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति ? समानम् । सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति ।

आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः । यद्यपि कश्चिदागमः स्यात्—'मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखम्' इति, सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते । दृष्टो हि दुःखाभावे[२] सुखशब्दप्रयोगो वहुलं लोक इति ।

नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावः, रागस्य बन्धनसमाज्ञानात् । यद्ययं मोक्षो नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति ? नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेत् नाधिगन्तुमर्हतीति । बन्धनसमाज्ञातो हि रागः । न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यत इति ।

की ही 'मोक्ष' रूप में कल्पना की जा सकती है । इससे वेदान्तियों की 'मुक्त की एकात्म-कल्पना' भी सुगम हो सकेगी !

जैसे नित्य देह की कल्पना में 'उपपत्तिविरुद्ध' कहोगे तो तुम्हारे पक्षमें भी यह 'उपपत्तिविरोध' समान है ! जैसे प्रमाणविरुद्ध 'देहादि की नित्यता' कल्पना अशक्य है, वैसे ही प्रमाणविरुद्ध 'सुख की नित्यता' कल्पना भी अशक्य होगी !

'मुक्त में आत्यन्तिक सुख होता है'—ऐसे आगम में आत्यन्तिक सुख का प्रयोग 'सांसारिक दुःखाभाव' में होने से कोई विरोध नहीं है । यद्यपि 'मुक्त को आत्यन्तिक सुख मिलता है'—ऐसा आगम उपलब्ध है, परन्तु इस आगम में 'सुख' शब्द का प्रयोग आत्यन्तिक दुःखाभाव के लिए किया गया है । प्रायः लोक में भी दुःखाभाव के लिये 'सुख' का प्रयोग होता है । (जैसे—सिर से बोझ उतरने पर किसी अतिरिक्त सुख की उत्पत्ति न होने पर भी भारवाहक कहता है—'ओह ! अब आराम मिला !')

नित्य सुख में मुमुक्ष की प्रवृत्ति यदि राग से होती हो तो रागनिवृत्ति न होने से तत्सम्पाद्य मोक्ष की भी अनुपपत्ति ही रहेगी ? इसलिये कहते हैं—नित्यसुख-राग के क्षीण न होने पर मोक्षप्राप्ति भी न होगी; क्योंकि राग तो बन्धन का हेतु है । मुमुक्षु यदि 'मोक्ष नित्य सुख अभिव्यक्त करता है'—ऐसा राग करके मोक्ष के लिये प्रयत्न करता है, तो वह मोक्ष नहीं पा सकेगा; क्योंकि राग भी तो एक प्रकार का वन्धन है और बन्धन के रहते कोई 'मुक्त' नहीं कहला सकता !

---

२. 'दुःखादेरभावे—इति पाठा० ।

प्रहीणे[1] नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् । अथास्य नित्यसुखरागः प्रहीयते, तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति ? यद्येवम्, मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति; अथापि न भवति; नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमो विकल्पत इति ॥ २२ ॥

न्यायपूर्वाङ्गलक्षणप्रकरणम् [२३-२५]

संशयलक्षणम्

स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः[2] ॥ २३ ॥

समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति । स्थाणु-पुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यन्यतरं नावधारयति, तदनवधारणं ज्ञानं संशयः । 'समानमनयोर्धर्ममुपलभे, विशेषमन्य-

---

प्रहीण मानने पर भी नित्यसुखराग मोक्ष के विरुद्ध नहीं पड़ेगा । जब इस मुमुक्षु का नित्यसुखराग क्षीण हो जाता है, तब इसका यह नित्यसुखराग प्रतिकूल नहीं होगा, तब तो उसे मोक्ष का अधिगम हो जाना चाहिये ? यदि ऐसी बात है तो मुक्त को नित्य सुख होता हो, या न होता हो—दोनों ही पक्षों में मोक्षप्राप्ति असन्दिग्ध ही है ॥ २२ ॥

क्रमप्राप्त अवसर आने पर 'संशय' का लक्षण कथनीय है, अतः अब उसे कह रहे हैं—

समान धर्मोपलब्धि (उपपत्ति) से, अनेक धर्मोपलब्धि से, विप्रतिपत्ति से, उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष अपेक्षा रखनेवाला विमर्श 'संशय' कहलाता है ॥ २३ ॥

१. समान धर्मोपपत्ति से विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है । जैसे—स्थाणु और पुरुष में तुल्य धर्म आरोह—परिणाह (उतार-चढ़ाव) को देखता हुआ प्रमाता पहले देखे हुए उनके विशेष (विभेदक धर्म) को जानना चाहता हुआ 'वस्तुतः क्या है ?'—यह एकतर निश्चय नहीं कर पाता, उक्त अनिश्चयरूप ज्ञान ही 'संशय' कहलाता है । 'इन दोनों के तुल्य धर्मों को ही पा रहा हूँ, विशेष धर्मों को नहीं'—यह बुद्धि 'अपेक्षा' कहलाती है, जो कि संशय की प्रवर्त्तिका है । संक्षेप में यों कह सकते हैं कि 'विशेषापेक्ष विमर्श' ही 'संशय' होता है ।

---

१. 'प्रहीणनित्य'०—इति पाठा० ।

२. संवदनीयम्—'सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः' इति काणादाः । 'साधर्म्यदर्शनाद्विशेषोपलिप्सोर्विमर्शः संशयः' इति बौद्धाः ।

तरस्य नोपलभे' इत्येषा बुद्धिः 'अपेक्षा' = संशयस्य प्रवर्त्तिका वर्त्तते, तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

अनेकधर्मोपपत्तेरिति। समानजातीयमसमानजातीयं चानेकम्, तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः; विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते, गन्धवत्त्वात् पृथिवी अबादिभ्यो विशिष्यते गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजन्यत्वं विशेषः। तस्मिन् 'द्रव्यं गुणः कर्म वा' इति सन्देहः; विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। 'किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेषः, आहोस्विद् गुणस्य सतो द्रव्यकर्मभ्यः[1], अथ कर्मणः सतो द्रव्यगुणेभ्यः ? इति विशेषापेक्षा—'अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे' इति बुद्धिरिति।

विप्रतिपत्तेरिति। व्याहतमेकार्थदर्शनम् = विप्रतिपत्तिः, व्याघातः = विरोधः, असहभाव इति। 'अस्त्यात्मा' इत्येकं दर्शनम्, 'नास्त्यात्मा' इत्यपरम्; न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः, न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते, तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति।

---

२. अनेक धर्मोपलब्धि (उपपत्ति) से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। अर्थात् समानजातीय तथा असमानजातीय विशेषक (विभेदक) धर्म सामान्य धर्म के साथ रहते हैं—इस अध्यवसाय की उपलब्धि से विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। समानजातीय और असमानजातीय धर्मों से अर्थ विभिन्न हुए देखे जाते हैं। जैसे—पृथ्वी गन्धवती होने से समानजातीय जलादि द्रव्यों से भिन्न है, इसी प्रकार असमानजातीय गुण, कर्म से भी। शब्द में भी विभागजन्य विशेष (विभेदक धर्म) है। इस (शब्द) में—'यह द्रव्य है, या गुण है, या कर्म है'—ऐसा सन्देह हो सकता है; क्योंकि उसका विभेदक धर्म तीनों में समानरूप से देखा जाता है। यहाँ 'क्या यह द्रव्य होता हुआ गुण, कर्म से भिन्न है' ? या 'गुण होता हुआ द्रव्य, कर्म से भिन्न है'[1] अथवा 'कर्म होता हुआ द्रव्य, गुण से भिन्न है' ?—ऐसी विशेषापेक्षा—'किसी एक निश्चित विभेदक धर्म को नहीं पा रहा हूँ'—यह बुद्धि होती है।

३. विप्रत्तिपत्ति से विशेषापेक्ष विमर्श भी संशय कहलाता है। विरुद्ध एकार्थदर्शन को 'विप्रत्तिपत्ति' कहते हैं। व्याघात = विरोध, एक साथ न रहना। जैसा कि 'आत्मा है' यह एक वाक्य है, 'आत्मा नहीं है'—यह दूसरा वाक्य, एक में सत्ता (होना) तथा असत्ता (न होना) दोनों एकत्र रह नहीं सकते, इनमें से किसी एक का साधक हेतु भी नहीं दिखाया गया, अतः ऐसे अवसर पर तत्त्व (यथातथ = समीचीन) का ज्ञान का न होना ही 'संशय' है।

---

१. क्वचिन्नास्ति।

उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि। सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु, मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति; अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाण-स्यानुपलब्धेः—'किं सदुपलभ्यते, अथासत्' इति संशयो भवति।

अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः। सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चा-नुत्पन्नं निरुद्धं वा; ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः—'किं सन्नोपलभ्यते, उता-सत्' इति संशयो भवति। विशेषापेक्षा पूर्ववत्।

पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थः, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृस्थे—एतावता विशेषेण पुनर्वचनम्। समानधर्माधिगमात् समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति[1] ॥ २३ ॥

प्रयोजनलक्षणम्

स्थानवतां लक्षणमिति समानम्।

---

४. उपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। जैसे—तालाव आदि में जल है, और मिल जाता है, तथा मृगमरीचिका में जल नहीं है, परन्तु भान होता है। इसलिये कहीं उपलब्धि होने पर तत्त्वनिर्णायिक प्रमाण की उपलब्धि न होने से 'क्या सत् ही मिलता है या असत् भी मिल जाता है'—ऐसा विमर्श भी 'संशय' होता है।

५. अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेषापेक्ष विमर्श 'संशय' कहलाता है। सत् भी कभी कभी नहीं मिलता, जैसे—मन्त्रादि से कीलित या वस्त्रादि से आच्छादित जल। असत् तो मिलेगा ही क्या! असत् द्विविध स्थिति में होता है—१. अनुत्पन्न या २. किसी उपाय से छिपा हुआ। तव कहीं अनुपलब्धि होने पर संशय होता है कि क्या सत् उप-लब्ध नहीं होता है, या असत् उपलब्ध नहीं होता? यहाँ 'विशेषापेक्षा' का व्याख्यान पहले लक्षण की तरह ही समझ लेना चाहिये।

'संशय' के इन पाँच हेतुओं में से प्रथम और द्वितीय ('समान·····' और 'अनेक·····') ज्ञेय में घटेंगे तथा तथा चतुर्थ और पंचम ('उपलब्धि·····' 'अनुपलब्धि·····') ज्ञाता में। इसी भेद को बताने के लिये ये पुनः कहे गये हैं।

"समानधर्म के अधिगम से, समानधर्म की उपपत्ति से विशेष स्मृत्यपेक्षावान् विमर्श 'संशय' कहलता हैं"—यह संशय का निष्कृष्ट लक्षण है ॥ २३ ॥

क्रमशः अवसर आने पर ही 'प्रयोजन' का लक्षण-कथन अभीष्ट था, अव उसका अवसर आ गया है।

---

१. अत्र वार्तिककारः—'समानधर्मोपपत्तेः, अनेकधर्मोपपत्तेः, विप्रतिपत्तेश्च त्रिविध एव संशयः' इत्याह। विस्तरस्तु तत एवावगन्तव्यः।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति, प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्; प्रवृत्तिहेतुत्वात् । 'इममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वा' इति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः, एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ॥ २४ ॥

दृष्टान्तलक्षणम्

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

[1]लोकसामान्यमनतीता लौकिकाः, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः । तद्विपरीताः परीक्षकाः, तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति । यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः ।

दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति ॥ २५ ॥

प्रमाता जिस अर्थ (वस्तु) को अनुकूल या प्रतिकूल निश्चय कर प्रवृत्त हो, उसे 'प्रयोजन' कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रमाता जिस अर्थ को उपादेय या हेय निश्चित करके उसकी प्राप्ति या त्याग का प्रयत्न करता है, उसे 'प्रयोजन' समझना चाहिये, क्योंकि वह (प्रयोजन) प्रमाता की प्रवृत्ति का हेतु होता है । 'इस अर्थ को ग्रहण करूंगा, या छोडूंगा', यह निश्चित (इच्छा) ही अर्थ का अधिकार (प्रयोजन) है । इस निश्चय का विषय अर्थ अधिकार का विषय है ॥ २४ ॥

जिस अर्थ में लौकिक और परीक्षकों का बुद्धि का साम्य (अविरोध) हो वह 'दृष्टान्त' कहलाता है ॥ २५ ॥

'लौकिक' उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि लोकविपरीत में न जाती हो, अर्थात् ऐसे शिष्य, जिन्होंने स्वाभाविक शास्त्रमर्यादित अर्थ को समझने में बुद्धि का वैशद्य न प्राप्त किये हो । उसके विपरीत 'परीक्षक' उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि शास्त्रपरिशीलन से प्रकृष्ट हो चुकी हो, जो कि तर्क तथा प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा कर सकता हो । जिस अर्थ को लौकिक तथा परीक्षक पुरुष एक-सा समझते हों, वह अर्थ 'दृष्टान्त' कहलाता है ।

दृष्टान्तविरोध से प्रतिपक्षी को बाद में रोका जाता है तथा दृष्टान्तसमाधान से अपना पक्ष परिपुष्ट किया जाता है, और पञ्चावयवों में उदाहरण की कल्पना दृष्टान्त से ही होती है—इन सब कारणों से दृष्टान्त को 'न्यायपूर्वाङ्ग' में समाविष्ट किया है ॥ २५ ॥

---

१. 'लोकसाम्यम्'–इति पाठा० । लोकसामान्यम् = मौर्ख्यम् ।

न्यायाश्रयसिद्धान्तलक्षणप्रकरणम् [२६-३१]

अथ सिद्धान्तः। इदमित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः = सिद्धान्तः। संस्थितिः इत्थम्भावव्यवस्था, धर्मनियमः।

स खल्वयम्—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः[1] ॥ २६ ॥

तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः, तन्त्रम् = इतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः; शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः, अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः, तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्रभेदात्तु खलु—

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः ॥ २७ ॥

अव 'सिद्धान्त' का व्याख्यान करते हैं। 'यह ऐसा'—इस प्रकार स्वीक्रियमाण अर्थसमूह 'सिद्धि' कहा जाता है, सिद्ध की संस्थिति 'सिद्धान्त' कहलाती है। 'संस्थिति' से तात्पर्य है 'ऐसा ही होना चाहिये'—इस तरह की व्यवस्था, अर्थात् इस प्रकार का निश्चय। प्रामाणिकतया स्वीक्रियमाण अर्थ की 'इदमित्थम्' इस व्यवस्था को 'सिद्धान्त' कहते हैं। अर्थात् धर्मनियम भी वही है। वही यह—

शास्त्र, अधिकरण, अभ्युपगमभेद से विशेष परीक्षणार्थ स्वीकृत विषय (ज्ञानविशेष) की इत्थम्भावव्यवस्था 'सिद्धान्त' कहलाती है ॥ २६ ॥

परस्पर सम्बद्ध अर्थसमूह का उपदेशक शास्त्र 'तन्त्र' कहलाता है। तन्त्रार्थ की इत्थम्भावव्यवस्था 'तन्त्रसंस्थिति' कही जाती है, उसमें अधिकरणाभेद से सम्बद्ध अर्थ 'अधिकरणसंस्थिति' कहलाता है। अनिश्चित अर्थ (शास्त्र में साक्षात् अनुक्त, जैसे—इस शास्त्र में मन का इन्द्रियत्व) का परिग्रह 'अभ्युपगमसंस्थिति' कहलाता है। संक्षेप में—मन आदि के विशेष अंश की परीक्षा के लिये अभ्युपगमसिद्धान्त माना जाता है ॥ २६ ॥

तन्त्रभेद से—

वह सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—१. सर्वतन्त्रसंस्थिति, २. प्रतितन्त्रसंस्थिति, ३. अधिकरणसंस्थिति तथा ४. अभ्युपगमसंस्थिति ॥ २७ ॥

भेद करने पर संस्थिति (सिद्धान्त) के ये चार भेद ही बन सकते हैं ॥ २७ ॥

---

१. तन्त्र्यन्ते पदार्था अनेनेति तन्त्रं प्रमाणम्, तदधिकरणमाश्रयो ज्ञापकतया येषां पदार्थानामभ्युपगमो ज्ञानविशेषस्तस्य संस्थितिः 'इदमित्थमेव' इति व्यवस्थेति सूत्राक्षरार्थः। तथा च तच्छास्त्रसिद्धोऽर्थः, तन्निश्चयो वा तच्छास्त्रसिद्धान्त इति भावः।

तासाम्—

सर्वतन्त्राविरुद्धतन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥ २८ ॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

यथा—नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषः—इति साङ्ख्यानाम् ।

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः, प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते—इति योगानाम्[1] ॥ २९ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

उन सिद्धान्तों में—

अन्य तन्त्रों से सम्मत तथा स्वतन्त्र प्रतिपादित अर्थ 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहलाता है ॥२८॥

जैसे—'घ्राणादिक इन्द्रिय हैं', 'गन्धादि इन्द्रियों के विषय हैं', 'पृथिवी आदि महाभूत हैं', 'प्रमाण से अर्थ का ग्रहण होता है'—ये सिद्धान्त सभी तन्त्रों में समानतया गृहीत हैं, अतः इन्हें 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' कहा जाता है ।। २८ ॥

समान (स्वमतानुयायी) तन्त्र में स्वीकृत तथा विरोधी अन्य तन्त्र में अस्वीकृत अर्थ 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' कहलाता है ॥ २९ ॥

'असत् की उपलब्धि नहीं हो सकती, सत् का क्षय नहीं हो सकता' 'चेतन अपरिणामी है, किसी धर्म से युक्त नहीं होता'; 'देह, इन्द्रिय, मन आदि स्थूल विषय तथा तत्कारण महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च महाभूत आदि सूक्ष्म विषयों में विशेष अतिशय रहता हैं' इत्यादि सांख्यतन्त्र के सिद्धान्त हैं ।

'भूतसृष्टि पुरुषकर्मनिमित्तक हैं', प्रवृत्ति तथा दोष कर्महेतु हैं', 'चेतन स्वगुणविशिष्ट हैं', 'असत् उत्पन्न होता है' 'उत्पन्न विनष्ट होता है'—ये नैयायिकों के सिद्धान्त हैं ।

ये उभयविध सिद्धान्त सांख्य तथा नैयायिकों के लिये परस्पर 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' हुए ॥ २९ ॥

जिसके सिद्ध होने पर अन्य प्रकरण (साथ लगे अर्थ) की स्वतः सिद्धि हो जाये, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३० ॥

---

१. वैशेषिकाणाम्—इति केचित् । तत्त्वतस्तु योगशब्देनात्र नैयायिका एवाभिप्रेताः । एतस्मिन्नेवार्थेऽस्य प्रयोगो बहुत्रोपलभ्यते प्राचीनग्रन्थेषु ।

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः सिद्धयति, तेऽर्था यदधिष्ठानाः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथा—'देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता, दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इति। अत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः—'इन्द्रियनानात्वम्', नियतविषयाणीन्द्रियाणि', 'स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि', 'गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम्' 'अनियतविषयाश्चेतना' इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिद्धयन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवतीति[1] ॥ ३० ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते—अस्ति द्रव्यं शब्दः; स तु नित्यः, अथानित्य इति ? द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते, सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्धयतिशयचिख्यापयिषया परबुद्धयवज्ञानाच्च प्रवर्तत इति ॥ ३१ ॥

जिस अर्थ की सिद्धि से अन्य अर्थ अनुषक्त (=सिद्ध, साथ लगे हुए) हों, उनके बिना वह अर्थ सिद्ध न होता हो, वे अर्थ जहाँ उपवर्णित हों, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे—'दर्शन तथा स्पर्श द्वारा एक ही अर्थ का ग्रहण होने से देहेन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है'—इस अनुमान में अनुषक्त (साथ लगे) अर्थ हैं—इन्द्रियों का नानात्व, इन्द्रियों का नियतविषयत्व, इन्द्रियों का स्वविषयग्रहणहेतु तथा ज्ञाता के लिये इन्द्रियों का ज्ञानसाधनत्व आदि और 'द्रव्य गन्धादि गुणों से अतिरिक्त है और गुणों का अधिष्ठान है', 'चेतन धर्म अनियतविषयक है'.आदि। पूर्व साक्षाद् अधिकृत अर्थ की सिद्धि होने पर ही ये अर्थ सिद्ध हो सकते हैं, इनकी सिद्धि के विना वह अर्थ भी सिद्ध न हो पायेगा। यह परस्पर एक दूसरे को प्रमाणित करना ही 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३० ॥

जो अर्थ सूत्रों में परीक्षित न हो परन्तु शास्त्र में मिलता हो उसका विशेष परीक्षण 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाता है ॥ ३१ ॥

कोई ऐसा अर्थसमूह जो अपरीक्षित (सूत्र में न कहा गया या जिसकी सम्यक् परीक्षा न की गयी) हो, शास्त्र में मिल जाये उसकी विशेष परीक्षा ही 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाती है। जैसे—'शब्द द्रव्य है, वह नित्य है या अनित्य', यहाँ शब्द की द्रव्यत्वपरीक्षा तथा द्रव्य होने पर उसकी नित्यता या अनित्यता की यह विशिष्ट सूक्ष्म परीक्षा ही 'अभ्युपगमसिद्धान्त' है। अभ्युपगमसिद्धान्त का उपयोग अपनी बुद्धि की उत्कृष्टता दिखलाने तथा प्रतिपक्षी की बुद्धि को अपकृष्टता के लिये किया जाता है ॥ ३१ ॥

---

१. अत्रार्थापत्तिमुखेनाधिकरणसिद्धान्तखण्डनाय बद्धपरिकराणां बौद्धनैयायिकानां मतं तत्खण्डनं च वार्त्तिकेऽवधेयं सुधीभिः।

न्यायप्रकरणम् [३२-३९]

अथावयवाः ।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते–जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदास इति, ते कस्मान्नोच्यन्त इति ?

तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा । अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ? 'तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वा, उपादास्ये वा, उपेक्षिष्ये वा' इति । ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थः, तदर्थमयं जिज्ञासते । सा खल्वियमसाधनमर्थस्येति । जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसङ्घातात् तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः, व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत्तत्त्वं भवितुमर्हतीति । स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति । प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयमाधिगमार्थानि, सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति । प्रयोजनं तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य फलम्, नैकदेश इति । संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनम्,

---

अब अवयवों का वर्णन करते हैं—

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन— न्याय वाक्य के ये (पाँच) अवयव हैं ॥ ३२ ॥

कुछ नैयायिक न्याय वाक्य के दश अवयव मानते हैं, जिनमें पाँच तो ऊपर गिना ही दिये गये हैं, इनके अतिरिक्त पाँच ये हैं——१. जिज्ञासा, २. संशय, ३. शक्यप्राप्ति, ४. प्रयोजन तथा ५. संशयनाश; सूत्र में ये अतिरिक्त पाँच भी क्यों नहीं कहे गये ?

'जिज्ञासा' अप्रतीयमान अर्थ में प्रत्यय होने के लिये प्रवर्त्तिका होती है, अप्रतीयमान अर्थ की इसलिए जिज्ञासा होती है कि उसे तत्त्वतः जान कर छोड़ दूँगा, या ग्रहण कर लूँगा या उपेक्षा कर दूँगा । ये हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियाँ तत्त्वज्ञान से होती हैं, तत्त्वज्ञान के लिए 'जिज्ञासा' काम आती है । यह किसी अर्थ की साधिका नहीं हैं, अतः पञ्चावयवों में इसका परिगणन निरर्थक है । क्योंकि जिज्ञासाधिष्ठान 'संशय' में दो विरुद्ध धर्मों का उपसंघात होता है, अतः यह तत्त्वज्ञान के लिये प्रत्यासन्न है, विरुद्ध धर्म में से अन्यतर होना चाहिए केवल इतना समझता है, इसीलिए इसका प्रमेयों में पाठ करके भी पञ्चावयवों में इसे नहीं पढा, क्योंकि यह भी अर्थसाधक कोटि में नहीं आता । प्रमाता के प्रमाण प्रमेयप्राप्त्यर्थक हैं'——यह 'शक्यप्राप्ति' साधक वाक्य में प्रतिज्ञा की तरह अवयवरूप से प्रयुक्त नहीं होती । तत्त्वावधारण को 'प्रयोजन' कहते हैं, यह अर्थसाधक वाक्य का फल हो सकता है, अवयव नहीं । इसी तरह 'संशयव्युदास' भी तत्त्वाभ्यनुज्ञा के लिये उपयुक्त है, क्योंकि प्रतिपक्षोपवर्णन का निषेधक है, जो तत्त्वज्ञान में सहायक हो सकता है, अर्थसाधक वाक्य का एकदेश नहीं बन सकता । [नैयायिक भद्रबाहु 'संशय', 'संशयव्युदास' के स्थान पर 'आशङ्काप्रतिषेध' का परिगणन करते हैं, उनका

तत्प्रतिषेधेन तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थम्, न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति। प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्थाः, अवधारणीयार्थोपकारात्। तत्त्वार्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति ॥ ३२ ॥

प्रतिज्ञालक्षणम्

तेषां तु यथाविभक्तानाम्—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञा[1] साध्यनिर्देशः—'अनित्यः शब्दः' इति ॥ ३३ ॥

हेतुलक्षणम्

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः, साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति ॥ ३४ ॥

किमेतावद्धेतुलक्षणमिति ? नेत्युच्यते; किं तर्हि ?

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

खण्डन भी इन दोनों के खण्डन की तरह ही समझना चाहिये।] एक प्रकरण (कथा-प्रवृत्ति) में ये पाँचों जिज्ञासादि अवधारणीय अर्थ के उपकारक होने से स्वरूपेण समर्थ हो सकते हैं। प्रतिज्ञादि पांचों अवयव तो साधक वाक्य के तत्त्वार्थसाधक होने से भाग (एकदेश, अवयव) हैं। अतः सूत्रकार ने अवयव-परिगणन में इन्हीं पाँचों का ग्रहण किया है ॥ ३२ ॥

उनका विभाग करने के वाद (प्रत्येक का लक्षण करते हैं)—

वाक्य में साध्य का निर्देश 'प्रतिज्ञा' कहलाता है ॥ ३३ ॥

प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का परिग्राहक वाक्य 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। अर्थात् साध्यतया स्वीक्रियमाण अर्थ का वचन 'प्रतिज्ञा' है—जैसे 'शब्दः अनित्यः' यह वचन साध्यनिर्देश है ॥ ३३ ॥

उदाहरणसादृश्य से साध्य (धर्म) का साधक 'हेतु' कहलाता है ॥ ३४ ॥

सामान्य धर्म को समझकर उदाहरण में अनुसन्धान करने के पश्चात् साध्य का साधक 'हेतु' कहलाता है। जैसे 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह हेतु है। लोक में अन्य उत्पत्ति-धर्मक प्रमेय भी अनित्य ही देखा गया है ॥ ३४ ॥

क्या हेतु का लक्षण इतना ही है ? नहीं; यह भी है—

उदाहरण के असादृश्य से साध्य का साधक भी 'हेतु' है ॥ ३५ ॥

---

१. एतत्पदं क्वचिन्नास्ति।

उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् ? 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्; अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्' इति ॥ ३५ ॥

उदाहरणलक्षणम्

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साध्येन साधर्म्यम्—समानधर्मता । साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्मस्तद्धर्मः । तस्य = साध्यस्य । साध्यं च द्विविधम्—धर्मिविशिष्टो वा धर्मः—शब्दस्यानित्यत्वम्; धर्मविशिष्टो वा धर्मी—'अनित्यः शब्दः' इति । इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति । कस्मात् ? पृथग्धर्मवचनात् । तस्य धर्मस्तद्धर्मः, तस्य भावस्तद्धर्मभावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यादुत्पत्तिधर्मकत्वात्[1] तद्धर्मभावी भवति, स चोदाहरणमिष्यते तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम् । तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति, निरुध्यत इत्यनित्यम् । एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम् । सोऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते, तं दृष्टान्त उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति—'शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः, स्थाल्यादिवत्'

हेतु अपना वैधर्म्य उदाहरण में बतला कर भी साध्य का साधक होता है । कैसे ? 'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, 'जो अनुत्पत्तिधर्मक है वह नित्य है, जैसे—आत्मा आदि द्रव्य' । यहाँ आत्मादि का असमान (अदृश) उदाहरण देकर साध्य में अनित्यत्वसाधक 'उत्पन्नत्व' हेतु सिद्ध किया गया है ।। ३५ ।।

साध्य के सादृश्य से साध्य के धर्म से सम्बद्ध धर्म का भाव जिसमें हो वह दृष्टान्त 'उदाहरण' कहलाता है ।। ३६ ।।

साध्यसाधर्म्य से साध्य की समानधर्मता में तात्पर्य है । उस (साध्य) का धर्म 'तद्धर्म' है । साध्य दो प्रकार का होता है—१. धर्मिविशिष्ट धर्म, जैसे—'शब्दस्य अनित्यत्वम्' या २. धर्मविशिष्ट धर्मी, जैसे—'अनित्यः शब्दः' । यहाँ द्वितीय अर्थ तद्ग्रहण से गृहीत है; क्योंकि धर्म (अनित्यत्व) अलग कहा गया है । उसका धर्म = तद्धर्म, तद्धर्म का भाव = तद्धर्मभाव; वह जिस दृष्टान्त में हो वह दृष्टान्त साध्य-साधर्म्य से 'तद्धर्मभावी' होता है, वही 'उदाहरण' कहलाता है । जो उत्पन्न होता है, वह 'उत्पत्तिधर्मक' है, वह होकर नहीं भी होता है, अपने को त्याग देता है, निरुद्ध हो जाता है । इस प्रकार 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इस वाक्य में साधन हुआ 'उत्पत्तिधर्मत्व', 'अनित्यत्व' हुआ साध्य । यह दो धर्मों का एकत्र साध्यासधनभाव सादृश्य से व्यवस्थित मिलता है । प्रमाता उसे दृष्टान्त में देखता हुआ शब्द में भी अनुमान कर लेता है—'शब्द

---

१. 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'—इति क्वचिन्नास्ति ।

इति । उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् ॥ ३६ ॥

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतम् । साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणमिति । 'अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि' । सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी, योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तस्मिन्न भवतीति । अत्रात्मादौ दृष्टान्त उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति—'उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्दः' इति ।

साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति । उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति । तदेतद्धेत्वाभासेषु

भी अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, स्थाल्यादि की तरह ।' दो धर्मों का साध्य-साधन-भाव इससे उदाहृत होता है, अतः इसे 'उदाहरण' कहते हैं ॥ ३६ ॥

साध्य के असादृश्य से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है ॥ ३७ ॥

'दृष्टान्त उदाहरण होता है'—यह प्रसङ्ग चल रहा है । यहाँ सूत्रकार कहते हैं—साध्य की असमानता से साध्य के धर्म से असम्बद्ध दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है । जैसे—'शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से, जो उत्पत्तिधर्मा नहीं होता वह नित्य होता है, यथा—आत्मा आदि ।' यहाँ 'आत्मा आदि' दृष्टान्त है, साध्य की असमानता से अनुत्पत्तिधर्मा होने के कारण अतद्धर्मभावी अनित्यस्वरूप साध्यधर्म उसमें (आत्मा में) नहीं रहता । यहाँ प्रमाता 'आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मत्व न रहने से अनित्यत्व नहीं बनता' ऐसा अनुभव करता हुआ, शब्द में विपरीत अनुमान करता है—'उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है' ।

साधर्म्योक्त हेतु का साध्यसमानता से युक्त तद्धर्मभावी दृष्टान्त 'उदाहरण' कहलाता है । वैधर्म्योक्तहेतु का साध्य की असमानता से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी 'उदाहरण' कहलाता है । प्रथमोक्त दृष्टान्त में प्रमाता जिन दो धर्मों को साध्यसाधनभावापन्न देखता है, साध्य में भी उन दोनों के साध्यसाधनभाव का अनुमान कर लेता है । उत्तर दृष्टान्त में उन दोनों धर्मों में से एक के न रहने पर इतर का अभाव देखता है तो वह साध्य में भी उनमें से एक के अभाव का अनुमान कर लेता है । यह बात हेत्वाभासों में

न सम्भवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः। तदिदं हेतूदाहरणयो सामर्थ्यं[1] परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितरूपवेदनीयमित्ति ॥ ३७ ॥

उपनयलक्षणम्

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

उदाहरणापेक्षः = उदाहरणतन्त्रः, उदाहरणवशः। वशः = सामर्थ्यम्।

साध्यसाधर्म्ययुक्ते उदाहरणे—स्थाल्यादि द्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टम्, तथा 'शब्द उत्पत्तिधर्मकः' इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे आत्मादि द्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, न तथा शब्द इति, अनुत्पत्तिधर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेनोत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणद्वैताद्भवति।

उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति ॥ ३८ ॥

द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम्—

सम्भव नहीं हैं; क्योंकि हेत्वाभास अहेतुक हैं। यह हेतु-उदाहरण का सामर्थ्य (सादृश्य) परमसूक्ष्म है, दुरवबोध है, न्यायशास्त्रज्ञ विद्वान् ही इसे समझ सकते हैं ॥ ३७ ॥

उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है'—साध्य का यह उपसंहार 'उपनय' कहलाता है ॥ ३८ ॥

'उदाहरणापेक्ष' से तात्पर्य है उदाहरणानुसारी अर्थात् उदाहरणवश। 'वश' कहते हैं 'सामर्थ्य' को। अक्षरार्थ हुआ 'उदाहरण से सामर्थ्य (शक्ति) पाया हुआ'।

जिस प्रमाता ने साध्य के सादृश्य से युक्त उदाहरण में स्थाली-आदि द्रव्य को उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य देखा है, वह प्रमाता 'शब्द उत्पत्तिधर्मक है' इस अनुमान में साध्य द्रव्य का अनित्यत्वविशिष्ट शब्द में उत्पत्तिधर्मकत्व उपसंहृत कर लेता है। इसी तरह साध्य की असदृशता से युक्त उदाहरण में आत्मा-आदि द्रव्य को अनुत्पत्तिधर्मा होने से नित्य समझा है, वह नित्यत्व शब्द में नहीं है, क्योंकि अनुत्पत्तिधर्मकत्व के उपसंहारप्रतिषेध से वहाँ उत्पत्तिधर्मकत्व उपसंहृत हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेकी रूप से उदाहरण के दो भेदों से उपसंहार के ये दो भेद हो जाते हैं।

जिससे उपसंहार (उपन्यास) हो वह 'उपसंहार' कहलाता है ॥ ३८ ॥

दो प्रकार के हेतु कह दिये गये तथा दो प्रकार के उदाहरण और उपसंहार (उपनय) भी बता दिये गये, उसी तरह अब दो प्रकार के निगमन का भी व्याख्यान कर रहे हैं।

---

१. 'साधर्म्यम्'—इति पाठा०।

निगमनलक्षणम्

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञाया पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३९ ॥

साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते, 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति निगमनम्। निगम्यन्ते अनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्। निगम्यन्ते = समर्थ्यन्ते, सम्बध्यन्ते।

तत्र साधर्म्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यम्—'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा, 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति हेतुः, 'उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यम्' इत्युदाहरणम्, 'तथा चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः' इत्युपनयः, 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति निगमनम्।

वैधर्म्योक्तेऽपि—'अनित्यः शब्दः', 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्', 'अनुत्पत्तिधर्मकमात्मादि द्रव्यं नित्यं दृष्टम्', 'न च तथानुत्पत्तिधर्मकः शब्दः', 'तस्मादुत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्दः' इति।

अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थान् साधयन्तीति। सम्भवस्तावत्—शब्दविषया प्रतिज्ञा, आप्तोपदेशस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां

हेतु-कथन के बाद प्रतिज्ञा को फिर से दुहराना ही 'निगमन' कहलाता है ॥ ३९ ॥

साधर्म्ययुक्त या वैधर्म्ययुक्त हेतुकथनानन्तर जैसे उदाहरण अपना काम कर चुका होता है, उसी प्रकार उत्पत्तिधर्मकत्वहेतु से उपसंहृत 'शब्द अनित्य है'—इस प्रकार प्रतिज्ञा को पुनः दुहराना ही 'निगमन' कहलाता है। निगमन में प्रतिज्ञा-आदि चतुष्टय समर्थित होते हैं।

साधर्म्ययुक्त हेतु में वाक्य यों विभक्त होगा—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा हुई, 'उत्पत्तिधर्मा होने से' यह हेतु हुआ, 'उत्पत्तिधर्मा स्थाली आदि द्रव्य अनित्य होते हैं' यह उदाहरण हुआ, 'वैसा ही यह शब्द है' यह उपनय हुआ, 'इसलिये उत्पत्तिधर्मा होने से शब्द अनित्य है' यह निगमन हुआ।

वैधर्म्ययुक्त हेतुवाक्य में—'शब्द अनित्य है', 'उत्पत्तिधर्मा होने से', 'अनुत्पत्तिधर्मा आत्मादि द्रव्य नित्य देखा गया है', 'यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है', 'इसलिये उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है'—इस प्रकार पञ्चावयव का प्रयोग होगा।

इस पञ्चावयवयुक्त वाक्य में अनेक प्रमाण सम्मिलित होकर परस्पर सम्बद्ध रहते हुए अर्थसाधन करते हैं।

प्रमाणों के इस सम्मिश्रण को इस तरह समझना चाहिये—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा आप्तोपदेश है, ऋष्यनुक्त आप्तोपदेश स्वतन्त्र नहीं हो सकता, उसमें अवश्य प्रत्यक्ष या अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, अतः प्रतिज्ञा में प्रत्यक्ष तथा अनुमान का सम्मिश्रण हुआ। इसी प्रकार साध्य-साधन की व्याप्ति को उदाहरण में देखकर ही हेतु का

प्रतिसन्धानाद्, अनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेः। अनुमानं हेतुः, उदाहरणे सादृश्यप्रतिपत्तेः। तच्चोदाहरणभाष्ये[1] (१.१.३६) व्याख्यातम्। प्रत्यक्षविषयमुदाहरणम्, दृष्टेनादृष्टसिद्धेः। उपमानमुपनयः; 'तथा' इत्युपसंहारात्, 'न च तथा' इति वोपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धेः। [2]सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।

इतरेतराभिसम्बन्धोऽपि–असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत, उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्, कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति! असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत, कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्तेत! उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत्। निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं 'तथा' इति प्रतिपादनं कस्येति!

अथावयवार्थः—साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः,

---

हेतुत्व निश्चत होता है, अतः उदाहरण में सादृश्य-प्रतिपादन से हुए अनुमान को ही 'हेतु' कहते हैं। इसका विशद विवेचन हम पीछे उदाहरणसूत्र-व्याख्यान (१.१.३६) के समय कर आये हैं। उदाहरण प्रत्यक्षाधीन होता है; क्योंकि उस दृष्ट उदाहरण से अदृष्ट (परोक्ष) की सिद्धि की जाती है। उपनय को उपमान प्रमाण की जरूरत पड़ती है; क्योंकि इस उपनय में 'वैसा ही' यह उपसंहार होता है, या 'वैसा नहीं' यह उपमान-धर्म प्रतिषिद्ध होने पर विपरीतधर्मा (वैधर्म्ययुक्त) उपसंहार सिद्ध हो सकेगा। 'प्रतिज्ञा से उपनय तक का अर्थ या स्वभाव प्रतिवद्धलिङ्ग है'—ऐसा प्रतिपादनसामर्थ्य दिखाना निगमन का अर्थ होने से उसमें सव प्रमाणों का सम्मिश्रण स्पष्ट ही है।

इनका परस्पर सम्वन्ध यों समझना चाहिये–पहली वात तो यह है कि वाक्य में में प्रतिज्ञा के न रहने पर आश्रयरहित हेत्वादि की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। हेतु के न रहने पर वाक्य में साधनत्व क़िसका दिखायेंगे! उदाहरण और साध्य में किसका उपसंहार-करेंगे! किसके कथनानन्तर प्रतिज्ञा का पुनर्वचन करेंगे कि वाक्यपूर्ण हो जाये! दूसरी वात यह है कि उदाहरण के न कहने पर किसके साथ समानता या असमानता मानकर साध्य की सिद्धि दिखायेंगे और किस साधर्म्य की अपेक्षा से उपसंहार करेंगे! उपनय के विना साध्य में अनुपसंहृत साधक धर्म अर्थसिद्धि नहीं कर सकता! निगमन के विना प्रतिज्ञादिकों का परस्पर सम्वन्ध अभिव्यक्त न हो पायेगा, तव उनकी एक प्रयोजन से प्रवृत्ति, 'तथा' ऐसा प्रतिपादन किसका होगा!

अब अवयवों का फलनिरूपण करते हैं—साध्य धर्म का धर्मी से सम्बन्ध-वोधन

---

१. उदाहरणसूत्रव्याख्यावसर इत्यर्थः। २. प्रतिज्ञादिनिगमनान्तानाम्।

उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः, धर्मयोः साध्यसाधनभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः, साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः, उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम् ।

न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते । अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानम्; न साधर्म्यमात्रस्य, न वैधर्म्यमात्रस्य वेति ॥ ३९ ॥

न्यायोत्तराङ्गप्रकरणम् [४०-४१]

तर्कलक्षणम्

इत ऊर्ध्वं तर्को लक्षणीय इति । अथेदमुच्यते—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे[1] जिज्ञासा तावज्जायते—जानीयेममर्थमिति । अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति—किंस्विदित्थम्, आहो-

---

प्रतिज्ञा का प्रयोजन है । उदाहरण के तुल्य या विपरीत साध्य धर्म के प्रति साधकत्व-वोधन ही हेतु का प्रयोजन है । लिङ्ग-लिङ्गी की व्याप्ति को एक दृष्टान्त में वोधन करना उदाहरण का प्रयोजन है । साधनभूत धर्म का साध्य धर्म से सामानाधिकरण्य वतलाना उपनय का कार्य है । उदाहरण में मिले धर्मों का साध्य-साधनभाव वन जाने पर साध्य में विपरीत प्रसङ्ग का निषेध वतलाना निगमन का प्रयोजन है ।

हेतु और उदाहरण का इतना स्पष्ट व्याख्यान कर देने पर वाद में साधर्म्य तथा वैधर्म्य के प्रतिषेध से जातिनिग्रहस्थान का बाहुल्य नहीं हो पायेगा; उदाहरण में लिङ्ग-लिङ्गी के धर्मों का साध्यसाधनभाव अनङ्गीकार करके जातिवादी प्रतिषेध का बाहुल्य करता है । दृष्टान्तस्थ धर्मों का साध्यसाधनभाव व्यवस्थित (प्रमित, शुद्ध) रूप से स्वीकार कर लेने पर तो साधनधूत धर्म का ही हेतुरूप से ग्रहण होगा, न कि साधर्म्यमात्र या वैधर्म्यमात्र के हेतुत्व का ॥ ३९ ॥

अवयनिरूपण के बाद तर्क का लक्षण दिखाना चाहिये, अतः अब उसे कहते हैं—

सम्यक्तया अविज्ञात अर्थ में कारणोपपत्ति द्वारा उसके तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना 'तर्क' कहलाता है ॥ ४० ॥

भली भाँति न जाने हुए अर्थ को जानने की इच्छा होती है—'इस अर्थ को जान लूँ' । तदनन्तर उस जिज्ञासित वस्तु के विरुद्ध धर्मों पर विभागशः विचार करता है—'क्या यह

---

१. अविज्ञायमान०—पाठा० ।

स्विन्नेत्थमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्या अनुजानाति—सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति, कारणोपपत्त्या स्यात्–एवमेतन्नेतरदिति।

तत्र निदर्शनम्–योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं 'तत्त्वतो भो जानीय' इति जिज्ञासते। 'स किमुत्पत्तिधर्मकः ? अनुत्पत्तिधर्मकः ?' इति विमर्शः। विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति–'यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकः, ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ। उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम्। उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम्, उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति। तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यात्' इति। यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति। सोऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते।

ऐसी है' या 'क्या यह ऐसी नहीं है'। दोनों धर्मों पर विचार करता हुआ वह किसी एक धर्म के बारे में कारणोपपादन से अनुमान करता है कि 'इसमें यह कारण, यह हेतु, यह प्रमाण स्पष्ट है। कारणोपपादन से यह ऐसा ही है या ऐसा नहीं है'।

उदाहरण—कोई प्रमाता ज्ञातव्य अर्थ को साधारणतः जानता है, तब उसे 'अरे, इसे सम्यक्तया (भली भाँति) जान लूँ"—ऐसी जिज्ञासा होती है। 'यह ज्ञातव्य अर्थ उत्पत्तिधर्मक है या अनुत्पत्तिधर्मक ?'—यह 'विमर्श' कहलाता है। उस अविज्ञाततत्त्व वाले अर्थ का विमर्श करने पर जिस धर्म की स्वीकृति का कारण उपपन्न हो जाये, उसका वह अनुमान करता है। जैसे—"यदि यह ज्ञाता अनुत्पत्तिधर्मक है तो स्वकृत कर्मफल का अनुभव करता है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—ये उत्तरोत्तर अपने से पूर्व पूर्व के कारण हैं, उत्तरोत्तर के अपाय से बाद में कुछ शेष नहीं रह जाता, तब मोक्ष हो जाता है। अतः उस ज्ञाता के—संसार तथा अपवर्ग, दोनों हो सकते हैं। उस ज्ञाता के उत्पत्तिधर्मा होने पर ये—संसार तथा अपवर्ग, उसको नहीं नहीं बनेंगे; क्योंकि उत्पन्न ज्ञाता देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना से सम्बद्ध रहता है इसलिये यह स्वकृत कर्म का फल नहीं बन सकता (क्योंकि वह ज्ञाता अनित्य होने से कालान्तरभावी फल का अधिकरण नहीं बन सकता)। उत्पन्न होकर वह पुनः न उत्पन्न हो–यों अपना विनाश या निरोध होने पर स्वकृतकर्म-फल वह कैसे भोगेगा ! इस तरह एक का अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध, तथा वियोग भी नहीं बनेगा।" जहाँ कारण उत्पन्न नहीं होता वहाँ वह कोई अनुमान भी नहीं कर पाता। इस तरह के लक्षणों वाली यह जिज्ञासा तर्क कहलाती है।

कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थः, न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात् । अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न त्ववधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति—'एवमेवेदम्' इति ।

कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणानुग्रहभावितात्[1] प्रसन्नादनन्तरप्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थं इति ।

सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादेऽपदिष्ट[2] इति अविज्ञाततत्त्वमनुजानाति–यथा सोऽर्थो भवति तस्य [3]तथाभावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् ॥ ४० ॥

निर्णयलक्षणम्

एतस्मिश्च तर्कविषये—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

स्थापना = साधनम्, प्रतिषेधः = उपालम्भः । तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रति-

---

उक्त जिज्ञासु का वह तर्क 'तत्त्वज्ञान के लिये' क्यों कहा जाये, उसे तत्त्वज्ञान' ही क्यों न मान लिया जाये ? अवधारण (निश्चय) न होने से उसे तत्त्वज्ञान नहीं कहा जा सकता । वह कारणोपपत्ति से किसी एक धर्म को लेकर समझने से अनुमान ही कर पाता है, उनमें भेद नहीं कर पाता, न उनके भेद का प्रयास करता है। न 'यह ऐसा ही है'–यों निश्चयकर पाता है !

यह 'तत्त्वज्ञान के लिये' कैसे है ? तत्त्वज्ञानविषय अभ्यनुज्ञायुक्त जिज्ञासा से भली भाँति भावित होने के बाद प्रमाण का समर्थन पाकर तत्त्वज्ञान होता है—इसलिये 'तत्त्वज्ञान के लिये' कहा ।

ऐसा यह तर्क प्रमाणों का समर्थन करता हुआ प्रमाणस्वीकृति से प्रमाणों के साथ हुआ वाद में व्यवहृत होता है। यों वह जिज्ञासु अविज्ञात तत्त्व का अनुज्ञान करता है—'जो अर्थ जैसा है उसका वैसा ही होना तत्त्व है'। इसे ही 'अविपर्यय' या 'याथातथ्य' कहते हैं ॥ ४० ॥

इस तर्क के विषय में—

विचारकर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना 'निर्णय' कहलाता है ॥ ४१ ॥

वाद में स्वपक्षस्थापन साधन है, परपक्षप्रतिषेध उपालम्भ है, ये साधन-उपालम्भ क्रमशः पक्षप्रतिपक्षाश्रित है, एक दूसरे के विरुद्ध हैं, परन्तु साथ (एक वाद में) ही रहते हैं, इन्हें ही पक्ष-प्रतिपक्ष कह देते हैं । (वाद में) इन दोनों में से किसी एक की निवृत्ति

---

१. '०णादूहाद्भा०' इति पाठा० ।

२. 'उपदिष्टः', कुत्रचिच्च 'प्रदिष्टः' इति पाठा० । ३. 'यथाभावः' इति पाठा० ।

पक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिः, एकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं सम्भवतीति, एको हि प्रतिज्ञातमर्थं हेतुतः स्थापयति, प्रतिषिद्धं[1] चोद्धरति द्वितीयस्य। द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिद्ध्यते, तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते स निवर्त्तते, तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णय इति ?

उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या ? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः, तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्त्तयत उभयसम्भवे। उभयासम्भवे त्वनिवृत्तौ विमर्श इति।

विमृश्येति विमर्शं कृत्वा। सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य[2] न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति।

एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः; हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः। यथा

तथा एक की स्थापना अवश्यम्भावी है। जिसकी स्थापना हो उसका निश्चय करना ही 'निर्णय' कहलाता है।

शङ्का—यह पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थावधारण नहीं बन पायेगा; क्योंकि इसमें वादी पक्ष प्रतिज्ञात अर्थ की स्थापना हेतु से उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी = प्रतिपक्ष उस स्थापनाहेतु का खण्डन करता है। पुनः वादी प्रतिवादी के मत का निराकरण कर स्वस्थापनाहेतु का मण्डन करता है। यों अन्त में एक के ही विजयी होने पर दूसरे के हट जाने से पक्ष या प्रतिपक्ष में से किसी एक के ही निर्णय की स्थिति बनेगी, अतः सूत्र में 'पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा'—यह पद निरर्थक है ?

दोनों से अर्थावधारण होता है—ऐसा ही मानते हैं। किस युक्ति से ? एक (वादी) का स्थापनापक्ष 'संभव' तथा दूसरे (प्रतिवादी) का खण्डनपक्ष 'असम्भव' कहलाता है, ये दोनों (सम्भ्व और असम्भव) मिलकर ही विमर्श (संशय) की निवृत्ति करते हैं। दोनों (वादी-प्रतिवादी) के होने पर तो वह (वाद) निवृत्त नहीं होगा, अतः विमर्श ही कहलायेगा, 'निर्णय', नहीं।

सूत्र में 'विमृश्य' का अर्थ है विमर्श करके। यह विमर्श पक्ष-प्रतिपक्ष को नियम से स्वविषय बनाकर न्याय को प्रवृत्त करता है, अतः वाद में इसका ग्रहण करना आवश्यक है।

तथा विरुद्ध होते हुए एकधर्म में रहने वाले सम्भव असम्भव का ही यह विमर्श समझना चाहिये। यह विरोध व्यक्तिभेद और कालभेद से द्विविध है। जहाँ दोनों विरुद्ध

---

१. प्रतिषेधमित्यर्थः। वाद्युक्तहेतोर्दूषणमिति भावः। २. नियमेन विषयीकृत्य।

'क्रियावद् द्रव्यम्' इति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः, यथा—तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति।

न चायं निर्णये नियमः—विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति; किन्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति। परीक्षाविषये तु विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः, शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम् ॥ ४१ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

धर्म धर्मिसामान्य में ही युक्ति द्वारा व्यवस्थित हैं, वह 'समुच्चय' (सामान्य मेलन) कहलाता है; क्योंकि हेतु से विरुद्ध-धर्मद्वयोपपत्ति होती है, जैसे—'द्रव्य क्रियावान् है' इस लक्षणवाक्य में जिस द्रव्य का क्रियायोग हेतु से संभव है वह 'क्रियावान्' है, जिसका क्रियायोग संभव नहीं है, वह 'अक्रिय' है। तथा ऐसे धर्म जो विरुद्ध हों, तथा एकधर्मी में रहते हों, परन्तु एक कालावच्छिन्न न (अयुगपद्भावी) हों, वह 'कालविकल्प' कहलाता है। जैसे—वही द्रव्य जब क्रियायुक्त रहता है तब 'क्रियावान्' कहलाता है, जब वह अनुत्पन्नोपरतक्रिय (उसमें क्रिया न रहे) हो तो 'अक्रिय' कहलाता है।

निर्णय में यह नियम नहीं है कि वह सन्देह करके पक्ष-प्रतिपक्ष से अर्थावधारण करे तभी निर्णय कहलाये; अपितु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्षविषयक अर्थ का अवधारण भी निर्णय कहलाता है। परीक्षास्थलों में ही विमर्श करके पक्षप्रतिपक्ष से अर्थावधारण निर्णय कहलाता है, शास्त्र और वाद के स्थलों में इस निर्णय-लक्षण में 'विमृश्य' पद की आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य (सहित न्यायदर्शन) में प्रथमाध्याय के प्रथमाह्निक का व्याख्यान समाप्त ॥

[अथ द्वितीयमाह्निकम्]

कथालक्षणप्रकरणम् [१-३]

वादलक्षणम्

तिस्रः कथा[1] भवन्ति—वादः, जल्पः, वितण्डा चेति । तासाम्—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्न पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ, प्रत्यनीकभावाद्–अस्त्यात्मा, नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा–नित्य आत्मा, अनित्या बुद्धिरिति । परिग्रहः = अभ्युपगमव्यवस्था । सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । तस्य विशेषणं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः—प्रमाणतर्कसाधनः, प्रमाणतर्कोपालम्भः । प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति । साधनम् = स्थापना । उपालम्भः = प्रतिषेधः । तौ साधनोपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ च यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति निवृत्तस्योपालम्भः, व्यवस्थितस्य साधनमिति ।

वाद, जल्प, वितण्डा भेद से कथा तीन प्रकार की होती हैं, उनमें—

प्रमाण तथा तर्क द्वारा स्वपक्षस्थापन-परपक्षनिषेध से युक्त, सिद्धान्त के अनुकूल, प्रतिज्ञादि पञ्चावयव सम्पन्न, पक्ष-प्रतिपक्षसहित वाक्यसमूह को 'वाद' कहते हैं ॥ १ ॥

एक अधिकरण में रहनेवाले, परस्पर विरोधी होने से विरोधी धर्म एक दूसरे के पक्ष-प्रतिपक्ष कहलाते हैं । जैसे—'आत्मा है' और 'आत्मा नहीं है', ये दोनों वाक्य एक दूसरे के पक्ष-प्रतिपक्ष हैं, क्योंकि एक ही अधिकरण की सत्ता का स्थापन या निषेध किया जा रहा है । अनेक अधिकरणवाले विरोधी धर्म आपस में पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं वन पाते । जैसे 'आत्मा नित्य है' और 'वुद्धि अनित्य है', ये दोनों वाक्य परस्पर में पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं वन सकते; क्योंकि यहाँ नित्यता-अनित्यता की स्थापना या निषेध पृथक् अधिकरण में किया जा रहा है । परिग्रह = स्वीकृति की व्यवस्था । ऐसा यह पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह 'वाद' कहलाता है । 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ' वाद का विशेषण है । अर्थात् इस वाद में प्रमाण तर्क (स्वपक्ष में) उपस्थित किये जाते हैं तथा (परपक्ष के) प्रमाण तर्क का खण्डन होता है । 'साधन' का अर्थ है 'स्थापना', उपालम्भ का अर्थ है 'प्रतिषेध' । ये साधन और उपालम्भ दोनों ही पक्षों में लगे हुए हैं, उनमें अनुवद्ध है । जहाँ एक निवृत्त हुआ दूसरा स्थित हो ही जायगा । संक्षेप में निवृत्त का निषेध तथा व्यवस्थित की स्थापना ही वाद का लक्ष्य है ।

---

१. **नानाप्रवक्तृकविचारविषया वाक्यसन्दृब्धिः कथा'—इति तात्पर्यटीकासम्मतं कथालक्षणम् ।**

जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद् वादे तत्प्रतिषेधः। प्रतिषेधे कस्यचिदभ्यनुज्ञानार्थम् 'सिद्धान्ताविरुद्धः' इति वचनम्। 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१. २. ६) इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे।

'पञ्चावयवोपपन्नः' इति—'हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्' (५. २. १२), 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' (५. २. १३) इति च—एतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति।

अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तिर्भावे, पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावपि पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात्। अन्तरेणापि चावयवसम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टम्, तेनापि कल्पेन 'साधनोपालम्भौ वादे भवतः' इति ज्ञापयति। 'छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः' इति वचनाद् विनिग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एव—इति मा

क्योंकि निग्रहस्थान को जल्प में स्वीकार किया गया है, अतः उसका वाद में प्रयोग नहीं होता। निग्रहस्थान के निषिद्ध होने पर भी किसी एक की अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) के लिये लक्षण में सिद्धान्ताविरुद्ध पद दिया गया है। 'अभ्युपेतसिद्धान्त के विरोध में जो अर्थ है वह विरुद्ध होता है' (१. २. ६)—इस 'विरुद्ध' हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान की वाद में स्वीकृति है।

पञ्चावयवोपपन्न पद "पञ्चावयवों में किसी एक अवयव से हीन वाक्य का प्रयोग 'हीन' निग्रहस्थान होता है" (५. २. १. १२) तथा "एक से कार्य सिद्ध होनेपर भी वाक्य में अधिक हेतु या उदाहरणों का प्रयोग 'अधिक' निग्रहस्थान कहलाता है" (५. २. १३) इन दोनों निग्रहस्थानों की स्वीकृति के लिये है।

अवयवों में प्रमाण तथा तर्क का अन्तर्भाव हो सकने पर भी उनका लक्षण में पृथक् ग्रहण स्थापना तथा निषेध का व्यतिषङ्ग (अनुवन्ध) बतलाने के लिये किया है। अन्यथा वाद में प्रवृत्त दोनों ही पक्ष अपने-अपने अर्थ की स्थापनामात्र करेंगे, तब पक्षस्थापनामात्र 'वाद' कहलाने लगेगा। तथा अवयव-सम्वन्ध के विना भी प्रमाण अर्थ की साधना कर देते हैं—ऐसा लोक में देखा जाता है। इस कल्प में प्रमाण से 'स्थापना' और 'प्रतिषेध' वाद में हो सकते हैं—यह ज्ञापित करते हैं।

उक्त दोनों पदों के ग्रहण का यह भी प्रयोजन है कि अनुपद वक्ष्यमाण 'छल जाति-निग्रहस्थान-साधनोपालम्भयुक्त पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह जल्प कहलाता है' (१. २. २)—इस वचन से 'जल्प वादगत निग्रहरहित होता है'—ऐसा न समझ ले। अथ च, यह भी न समझ बैठे कि 'छल-जाति-निग्रहस्थान साधनोपालम्भ ही जल्प है' या 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ ही वाद

विज्ञायि–इत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणमिति ॥ १ ॥

जल्पलक्षणम्

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥

यथोक्तोपपन्न इति—प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः[1] । छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति—छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनम्, उपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति एवंविशेषणो जल्पः ।

न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति, प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे विशेषलक्षणे च श्रूयते–'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्' (१. २. १०) इति, 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' (१. २. १८), 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्' (१. २. १९) इति । विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति । न चैतद्विजानीयात्–प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साध-

---

होता है । इस सब को हृदय में रखकर सूत्रकार ने 'वाद' के लक्षण में प्रमाण तथा तर्क का ग्रहण किया है ।। १ ।।

उक्त वाद के लक्षणों से युक्त तथा छल, जाति, निग्रहस्थानों से स्थापना और प्रतिषेध वाले पक्ष-प्रतिपक्षों का परिग्राहक वाक्यसमूह 'जल्प' कहलाता है ।। २ ।।

यथोक्तोपपन्न पद से वादलक्षणोक्त प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह समझना चाहिये । छलजाति-निग्रहस्थानसाधनोपालम्भ पद से सूत्रकार कहना चाहते हैं कि छल, जाति, निग्रहस्थानों से जिस कथा में स्थापना तथा प्रतिषेध किया जाये वह 'जल्प' है ।

शङ्का—छल, जाति, निग्रहस्थानों से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती, उलटे इनके सामान्य लक्षणों या विशेष लक्षणों में प्रतिषेधार्थता ही सुनने में आती है । जैसे—'अर्थ-विकल्पोपपादन द्वारा वचनविघात 'छल' कहलाता है' (१. २. १०.), 'साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा अर्थ का प्रतिषेध करना 'जाति' कहलाती है' (१. २. १८), 'अर्थ की विप्रतिपति या अप्रतिपत्ति 'निग्रहस्थान' कहलाता है' (१. २. १९)—ये इनके सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षणों में भी इसी तरह समझें । यदि यह कहें कि प्रयोक्ता को यह ज्ञात कराने के लिये कि 'प्रतिषेधार्थता से ही ये तीनों अर्थ की सिद्धि करते हैं' ये लक्षण किये हैं तो

---

१. एतस्मिन्नर्थे वार्त्तिककारस्यारुचिः । स तु 'सिद्धान्ताविरुद्धः', 'पञ्चावयवोपपन्नः' इति वादलक्षणस्थे पदे नियमार्थे एवेत्याह ।

यन्तीति, छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्प इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति ?

प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः; स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः। यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः, स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्। तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। तथा चोक्तम्—'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्' (४. २. ५०) इति। यश्चासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातात् सहकारीणि भवन्ति। तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे, न स्वतन्त्रणां साधनभावः। उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ॥ २ ॥

वितण्डालक्षणम्

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

स जल्पो वितण्डा भवति। किंविशेषणः ? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः। यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तम्, तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति, परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्त्तत इति।

'छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भ ही जल्प होता है' इतना लक्षण करने से भी यह बात ज्ञात हो जाती ?

उ० प्रमाणों द्वारा स्वपक्षस्थापन तथा परपक्षप्रतिषेध में ये तीनों सहायक हैं; क्योंकि ये तीनों ही स्वपक्षरक्षण करते हैं। हाँ, ये स्वातन्त्र्येण कोई अर्थसिद्धि नहीं करते, अपितु प्रमाणों द्वारा की जा रही अर्थसिद्धि में स्वपक्षरक्षण-कार्य द्वारा सहायक होते हैं। इनका प्रयोग किया जाये तो परपक्ष-खण्डन द्वारा भी स्वपक्षरक्षण करते हैं। इसीलिये आगे कहा है—'जल्प, वितण्डा का प्रयोग तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षण के लिये होता है, जैसे छोटे-छोटे पौधों की रक्षा के लिये उनके चारों ओर काँटेदार झाड़ी लगा दी जाती है' (४. २. ५०)। प्रमाणों द्वारा प्रतिपक्ष के निषेध में वादी द्वारा प्रयुक्त हुए ये तीनों अपने प्रतिषेधविघातक कार्य द्वारा सहायक होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि जल्प में स्वपक्षस्थापना के लिये छलादि का ग्रहण 'अर्थसाधन के सहायक' रूप में होता है, न कि स्वतन्त्रतया। हाँ, परपक्षप्रतिषेध में ये स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त हो सकते हैं ॥ २ ॥

उपर्युक्त जल्प जब प्रतिपक्षस्थापनाहीन होता है तो 'वितण्डा' कहलाता है ॥ ३ ॥

वह जल्प 'वितण्डा' भी हो सकता है। कब ? जब वह प्रतिपक्ष-स्थापना से रहित हो। हम अनुपद में ही एकाधिकरणक दो विरुद्ध धर्मों को 'पक्ष-प्रतिपक्ष' कह आये हैं (१. २. १), यह वितण्डावादी उनमें से एक की भी स्थापना करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेता, केवल परपक्षखण्डन में ही लगा रहता है।

अस्तु तर्हि स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा ? यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कञ्चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति। तस्माद्यथान्यासमेवास्त्विति ॥ ३ ॥

हेत्वाभासप्रकरणम् [४-९]

हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः । त इमे—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ॥ ४ ॥

(क) सव्यभिचारलक्षणम्

तेषाम्—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥

व्यभिचारः = एकत्राव्यवस्थितिः[1] । सह व्यभिचारेण वर्त्तते इति सव्यभिचारः । निदर्शनम्—'नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टः, न च तथा स्पर्शवान् शब्दः, तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्दः' इति । दृष्टान्ते—स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते, स्पर्शवाँ-

---

क्यों न तब 'प्रतिपक्षहीन जल्प वितण्डा है'—इतना ही लक्षणसूत्र रक्खा जाये ? वितण्डावादी के परपक्षखण्डनपरक वाक्य ही औपचारिक रूप से उसका 'पक्ष' है ! हाँ, यद्यपि वह स्पष्टरूप से किसी साध्य अर्थ की प्रतिज्ञा करके अपना कोई पक्ष नहीं रखता; फिर भी किसी न किसी रूप में उसका भी प्रतिपक्ष बन ही सकता है, अतः सूत्रकारोक्त लक्षण ही उचित है ॥ ३ ॥

हेतुलक्षण न घटने से वस्तुतः जो अहेतु हों, परन्तु हेतु-सादृश्य से जिनका हेतु की तरह आभास (प्रतीति) होता हो, वे 'हेत्वाभास' कहलाते हैं । वे ये हैं—

१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम तथा ५. कालातीत—ये पाँच 'हेत्वाभास' कहलाते हैं ॥ ४ ॥

उनमें—

जो (हेतु) एक ही (साध्य तथा साध्याभाव) के अन्त (अधिकरण) में न रहे उसे 'सव्यभिचार' हेत्वाभास कहते हैं ॥ ५ ॥

'व्यभिचार' से तात्पर्य है—एक जगह न रहना । व्यभिचार के साथ जो प्रवृत्त हो वह 'सव्यभिचार' कहलाता है । इसका उदाहरण—'शब्द नित्य है, अस्पर्श होने से; लोक में स्पर्शवान् घट अनित्य देखा गया है, शब्द स्पर्शवान् नहीं है अतः अस्पर्शत्वहेतु से वह नित्य है' । यहाँ दृष्टान्तस्थ स्पर्शवत्त्व अनित्यत्व हेतुओं में साध्यसाधनभाव नहीं देखा

---

१. व्यवस्था—इति पाठा० ।

श्चाणुर्नित्यश्चेति । आत्मादौ च दृष्टान्ते–'उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः' (१. १. ३४) इति अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति—'अस्पर्शा बुद्धिरनित्या च' इति । एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात्साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति ।

नित्यत्वमप्येकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिकः, विपर्ययादनैकान्तिकः; [1]उभयान्तव्यापकत्वादिति ॥ ५ ॥

(ख) विरुद्धलक्षणम्

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

तं विरुणद्धीति तद्विरोधी, अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति । यथा—'सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्', न नित्यो विकार उपपद्यते । 'अपेतोऽपि विकारोऽस्ति, विनाशप्रतिषेधात्' । सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते । कथम् ? व्यक्तिः = आत्मलाभः, अपायः = प्रच्युतिः; यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति ? नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते । यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् खलु नित्यत्वमिति ।

जाता; क्योंकि स्पर्शवान् भी अणु और नित्य हो सकता है । आत्मा-आदि दृष्टान्तस्थ "उदाहरणसादृश्य से साध्य का साधक 'हेतु' है" (१. १. ३४)—इस हेतुलक्षण से 'अस्पर्शत्व' हेतु नित्यत्व से व्यभिचरित होगा; क्योंकि बुद्धि अस्पर्शवती होती हुई भी अनित्य है । इस प्रकार दोनों ही तरह के दृष्टान्तों में साध्यसाधनभाव न होने से हेतुलक्षण नहीं घट पायेगा, अतः वह हेतु नहीं बन सकता ।

यहाँ नित्यत्व एक अन्त है, अनित्यत्व भी एक अन्त है । एक अन्त (अधिकरण) में साध्यसाधनभाव रहे अतः 'ऐकान्तिक' हेतु कहते हैं । इसके विपरीत 'अनैकान्तिक' कहलाता है; क्योंकि वह दोनों अन्तों में व्याप्त रहता है ॥ ५ ॥

जो हेतु अभ्युपगतार्थ का विरोधी हो वह 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है ॥ ६ ॥

उसका जो विरोध करे वह हुआ 'तद्विरोधी' अर्थात् जो प्रतिज्ञा तथा हेतु से प्रकाशित सिद्धान्त का विरोध करे । जैसे साङ्ख्यकार का मत है—'परिणामाख्य कार्य अभिव्यक्त स्वरूप से विश्लिष्ट हो जाता है, अनित्य होने से', 'अभिव्यक्तिरहित वह परिणामाख्य कार्य रहता भी है, स्वरूपहानि न होने से'; यहाँ 'विकार नित्य उपपन्न नहीं होता' यह हेतु 'व्यक्ति से असंश्लिष्ट होकर भी विकार रहता है, स्वरूप-हानि न हो ने से' इस स्वसिद्धान्त से विरुद्ध पड़ता है। कैसे? 'व्यक्ति' कहते हैं आत्मलाभ को, 'प्रच्युति' कहते हैं असंश्लेष को। उसमें नित्यत्वप्रतिषेध उपपन्न नहीं है, क्योंकि आत्मसत्ता से अलग होकर भी विकार

---

१. 'उभयत्र'—इति पाठा० ।

नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात्प्रच्युतेरुपपत्तिः । यदात्मलाभात्प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम्, यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते । अस्तित्वं चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति च—विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति । सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति ।

(ग) प्रकरणसमलक्षणम्

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणम् । तस्य चिन्ता = विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणम् । सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते ।

प्रज्ञापनं तु—'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः' इति । अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि । 'नित्यः[1] शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि[1] ।

रहे—यही उसका नित्यत्व है; क्योंकि नित्यत्वप्रतिषेध का मतलव है—विकार का आत्मसत्ता से प्रच्युति का उपपादन अर्थात् जो आत्मलाभ से प्रच्युत नहीं होता । अस्तित्व तथा आत्मलाभ से प्रच्युति—ये दोनों विरुद्ध धर्म एकत्र नहीं रह सकते । इस प्रकार यह नित्यत्वप्रतिषेध हेतु जिस सिद्धान्त को लेकर प्रवृत्त हुआ था, उसी का व्याघात कर रहा है ॥ ६ ॥

जिसको लेकर प्रकरण पर विचार किया जा रहा हो और वही निर्णय के लिये प्रयुक्त हो वह हेतु 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहलाता है ॥ ७ ॥

संशयाधिष्ठान अनिर्णीत पक्ष-प्रतिपक्ष ही 'प्रकरण' कहलाते हैं । प्रकरण की चिन्ता अर्थात् विमर्श से लेकर निर्णय तक का समीक्षण । वह जिज्ञासा जिसकी वजह से हो वही निर्णय के लिये प्रयुक्त कर दिया जाए—ऐसा हेतु प्रकरण की परिधि में रहता हुआ 'प्रकरणसम' कहलाता है । ऐसा हेतु साधक या बाधक न रहने से निर्णय करने में असमर्थ है ।

उदाहरण—'शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से' यह अनुमान । यहाँ अनुपलभ्यमान नित्यधर्मक अनित्य भी देखा गया है, जैसे—स्थाल्यादि । 'शब्द नित्य है, अनित्यधर्म की उपलब्धि न होने से'—यहाँ भी अनुपलभ्यमान अनित्यधर्मक नित्य देखा गया है, जैसे—आकाशादि ।

---

१. १. अयं पाठो नास्ति क्वचित् पुस्तके ।

यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एव। या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च सा प्रकरणं प्रवर्तयति। यथा—शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते, एवमनित्यधर्मोऽपि; सेयमुभय-पक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति। कथम्? विपर्यये हि प्रकरण-निवृत्तेः। यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्येत, न स्यात्प्रकरणम्। यदि वा अनित्य-धर्मो गृह्येत, एवमपि निवर्तेत प्रकरणम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्य-तरस्य निर्णयाय न प्रकल्पते ॥ ७ ॥

(घ) साध्यसमलक्षणम्

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ८ ॥

द्रव्यं छायेति साध्यम्, गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात्साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः। साध्यं तावदेतत्—किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति, आवरणसन्ताना-दसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति? सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजो-

---

जहाँ संशयकारण समानधर्म हेतुरूप से दिया गया हो वह 'संशयसम' हेत्वाभास कहलाता है, जो कि सव्यभिचार हेत्वाभास में अन्तर्भूत है। विमर्श की विशेषापेक्षित उभयपक्ष-चिन्ताओं में विशेषानुपलब्धि है वही प्रकरण को प्रवृत्त करती है। जैसे शब्द में नित्यधर्म नहीं मिलता; वैसे ही अनित्यधर्म भी नहीं मिलता—यह उभयपक्ष की विशेषा-नुपलब्धि ही प्रकरण पर समीक्षण का प्रारम्भ करती है; क्योंकि विपरीत स्थिति होने पर प्रकरण की निवृत्ति ही हो जाती है। यदि शब्द में नित्य धर्म मानोगे तो प्रकरण उठेगा नहीं, यदि केवल अनित्य धर्म मानोगे तो भी प्रकरण की निवृत्ति ही होगी। इस प्रकार, ऐसा हेतु जो दोनों पक्षों में प्रवृत्त हो सकता हो वह किसी एक तरफ का निर्णय करने में समर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

साध्य से अविशिष्ट (साधनीय) हेतु स्वयं साध्य होने से 'साध्यसम' हेत्वाभास होता है ॥ ८ ॥

'छाया द्रव्य है, गतिमान् होने से'—इस अनुमान में 'द्रव्य छाया' साध्य है, 'गतिमत्त्व' यह हेतु साध्य से अविशिष्ट ही है; क्योंकि इसकी भी साध्य की तरह सिद्धि करनी पड़ेगी, इसलिए यह 'साध्यसम' है। अर्थात् यह हेतु भी असिद्ध है, अतः साध्य की तरह इसे भी सिद्ध करना पड़ेगा!

इस अनुमान में साध्य है—क्या पुरुष की छाया वस्तुतः चलती है, या आवश्यक द्रव्य में छिपजाती है, या यह आवरणसन्तान से तेज की असन्निधिसन्तान रूप ही तो नहीं

भाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति। आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

(ङ) कालातीतलक्षणम्

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः 'कालातीतः' इत्युच्यते। निदर्शनम्—'नित्यः शब्दः संयोगव्यंग्यत्वाद् रूपवत्'। प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते। तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यंग्यत्वात् 'नित्यः शब्दः' इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात्। व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति। सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति, न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते। निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले, सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति। कस्मात्? कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति।

है! चलते हुए द्रव्य से तेज का जो जो भाग ढक जाता है उससे उस तेज की अविच्छिन्न असन्निधि ही तो 'छाया' कहलाती है। आवरण से तात्पर्य है प्राप्ति-प्रतिषेध ॥ ८ ॥

जिस प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो वह 'कालातीत' हेत्वाभास कहलाता है ॥ ९ ॥

जिस अर्थानुमान में प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय से युक्त हो वह कालात्ययापदिष्ट 'कालातीत' कहलाता है। उदाहरण—'शब्द नित्य है, संयोगव्यङ्ग्य होने से, रूप की तरह'। जैसे पहले या पीछे घट व्यक्ति में रहा हुआ रूप प्रदीपघट-संयोग से व्यक्त हो जाता है, इसी तरह निहित (अव्यक्त) शब्द भेरीदण्डसंयोग से या कुठार और काष्ठ के संयोग से व्यक्त हो जाता है; अतः 'संयोगव्यङ्ग्य होने से शब्द नित्य है' में 'संयोगव्यङ्ग्य' यह हेतु नहीं बनेगा; क्योंकि यहाँ कालात्ययापदेश है। व्यङ्ग्य रूप की अभिव्यक्ति व्यञ्जक संयोग के काल को अतिक्रान्त नहीं करती। घटप्रदीपसंयोग होने पर ही रूप की अभिव्यक्ति होती है, संयोग के निवृत्त होने पर नहीं हो पाती; परन्तु (हेतुवाक्यावयव में) भेरीदण्ड-संयोग के निवृत्त होने पर दूरस्थ शब्द संयोगाभाव काल में सुनायी देता हैं, यों यह शब्द की अभिव्यक्ति संयोगकाल को अतिक्रान्त कर जाती है। अतः यह संयोगोत्पन्न नहीं कही जा सकती; सिद्धान्त यह है—कारणाभाव से कार्याभाव होता है। इस नय से यह हेतु उदाहरणसादृश्य न मिलने से साध्य का साधक नही बन सकता, अतः यह हेत्वाभास है।

अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः[१]। कस्मात् ?

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्" ॥

इत्येतद्वचनाद्विपर्यासिनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथा वैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति।

'अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्' (५. २. ११) इति निग्रहस्थानमुक्तम्, तदेवेदं पुनरुच्यत इति, अतस्तन्न सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

छलप्रकरणम् [१०-१७]

छललक्षणम्

अथ छलम्।

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १० ॥

न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि ॥ १० ॥

[बौद्ध नैयायिक इस सूत्र का अन्यथा व्याख्यान करते हैं—'प्रतिज्ञा' के वाद उदाहरणादि का पूर्वकाल हेतुवचन के उस काल को अतिक्रान्त कर जाता है, अतः यह हेतुवचन 'कालात्ययापदिष्ट' है। इसका खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—] प्रतिज्ञादि अवयवों में विपर्यास बताना सूत्र का अर्थ नहीं है; क्योंकि—

'जिसका जिसके साथ अर्थसम्वन्ध होता है, वह अर्थसम्वन्ध उसके दूरस्थ होने पर भी हो ही जाएगा, असमर्थ का अर्थ से आनन्तर्य विरोधी नहीं हुआ करता'।

इस वचनप्रमाण द्वारा विपर्यास से कहा हुआ हेतु भी उदाहरण के सादृश्य या वैसादृश्य से अपने हेतुत्व को नहीं छोड़ेगा। यतः उसने अपना हेतुलक्षण नहीं छोड़ा, तव वह हेतु हेत्वाभास क्यों कर हो सकेगा !

दूसरी वात यह भी है—आगे निग्रहस्थानवर्णनप्रसङ्ग (५. २. ११) में भी 'अवयवविपर्यासवोधक अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान वताया जायेगा, इस सूत्र का उपर्युक्त अर्थ करने पर वहाँ पुनरुक्ति दोष होगा, अतः यह सूत्रार्थ नहीं है ॥ ९ ॥

प्रतिवादी के अभिमत अर्थ से विरुद्ध कल्पनोपपादन वचनविघात 'छल' कहलाता है ॥ १० ॥

[वादी, प्रमादी या प्रतिवादी द्वारा समीचीन उत्तर न देने की हालत में विजयकामना से तदाभास उत्तर भी दे डालता है, सूत्रकार उसी का अब विवेचन कर रहे हैं। इनमें 'जात्युत्तर' स्वपक्ष में भी हानि पहुँचा डालता है, अतः उससे पहले छल का वोध कराना ही उचित है।] इस छल के सामान्य लक्षण का उदाहरण मिलना असम्भव है। हाँ, इसका विभाग करने पर उन विभागों के उदाहरण दिये जा सकते हैं ॥ १० ॥

---

१. बौद्धाभिमतसूत्रार्थखण्डने प्रक्रमते भाष्यकारः।

विभागश्च—

तत्त्रिविधम्—वाक्छलम्, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति ॥ ११ ॥

वाक्छललक्षणम्

तेषाम्—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥ १२ ॥

'नवकम्बलोऽयं माणवकः' इति प्रयोगः। अत्र 'नवः कम्बलोऽस्य' इति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे तु विशेषः, न समासे। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थम्–'नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता' इति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति–'एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः' इति। तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति।

अस्य प्रत्यवस्थानम्—सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम्। 'नवकम्बलः' इत्यनेकार्थाभिधानम्—'नवः कम्बलोऽस्य' इति, 'नव कम्बला अस्य' इति। एतस्मिन् प्रयुक्ते येयं कल्पना 'नव कम्बला अस्य' इत्येतद्भवताऽभिहितं तच्च न सम्भवति' इति, एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां

अतः अब उसका विभाग किया जा रहा है—

१. वाक्छल, २. सामान्यछल, तथा ३. उपचारछल—यों वह तीन प्रकार का होता है ॥ ११ ॥

उनमें समासादिवृत्तिविषयक वाक्छल का व्याख्यान करते हैं—

सामान्येन कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना 'वाक्छल' कहलाता है ॥ १२ ॥

जैसे 'नवकम्बल वाला यह माणवक है' इस वाक्य में 'नवकम्बल' शब्द से वक्ता का अभिप्राय बहुव्रीहि समास द्वारा 'नवीन कम्बल वाला' में है। इस शब्द के विग्रह में विशेषता है, समास में नहीं। वहाँ यह छलवादी, वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थ—'नौ हैं कम्बल जिसके' की कल्पना कर असम्भव अर्थ से उसका खण्डन करता है—'अरे इसके पास तो एक ही कम्बल है, नौ कहाँ से आये!' यह सामान्येन कथित अर्थबोधक वाक् (वाणी) में छल 'वाक्छल' कहलाता है।

इसका प्रतीकार यों है—सामान्य शब्द के अनेकार्थक होनेपर किसी एक की कल्पना के लिये विशेषतया कथन करना पड़ता है। 'नवकम्बल' यह शब्द अनेकार्थाभिधायी है—'नया है कम्बल जिसके' या 'नौ हैं कम्बल जिसके'। इस शब्दप्रयोग में आपकी 'नौ हैं कम्बल जिसके' यह कल्पना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनेकों में किसी विशिष्ट एक की

विशेषो वक्तव्यः। यस्माद्विशेषोऽर्थविशेषु विज्ञायते—अयमर्थोऽनेनाभिहित इति, स च विशेषो नास्ति। तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति।

प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः। 'अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेयः' इति समानः सामान्यशब्दस्य, विशेषो विशिष्टशब्दस्य। प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते, नाप्रयुक्तपूर्वाः। प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः, अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति। तत्रैवमर्थगत्यर्थे शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः। 'अजां ग्रामं नय', 'सर्पिराहर', 'ब्राह्मणं भोजय' इति सामान्यशब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते। सामर्थ्याद्यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्तन्ते, नार्थसामान्ये; क्रियादेशनाऽसम्भवात्। एवमयं सामान्यशब्दः 'नवकम्बलः' इति योऽर्थः सम्भवति–'नवः कम्बलोऽस्य' इति, तत्र प्रवर्तते; यस्तु न सम्भवति–'नव कम्बला अस्य' इति, तत्र न प्रवर्तते। सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भस्ते न कल्पत इति ॥ १२ ॥

सामान्यच्छललक्षणम्

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥

कल्पना करने से पूर्व तद्बोधक कोई विशिष्ट वचन करना चाहिए, जिससे वह विशेष अर्थ जाना जा सके कि इस शब्द द्वारा यहाँ यही अर्थ बोधित है। वैसा विशेष यहाँ कुछ नहीं कहा गया, अतः आपका यह अभियोग मिथ्या है।

लोक में समग्र शब्दार्थ-सम्बन्ध अभिधानाभिधेय-नियम से जुड़ा हुआ है—इस शब्द का यही अर्थ अभिधेय है। सामान्य के बोधक शब्द के साधारण तथा विशेष शब्द के विशिष्ट अर्थ होंगे। पहले कभी उस अर्थ के लिये प्रयुक्त हुए शब्द ही आज उस अर्थ में प्रयुक्त किए जा सकते हैं, अपूर्व नहीं; क्योंकि शब्दों का प्रयोग अर्थज्ञान के लिए होता है, अर्थज्ञान से व्यवहार चलता है। इस प्रकार, अर्थज्ञान के लिए शब्द-प्रयोग मानने पर प्रकाशक होने से उस अर्थ में सामान्यशब्द का प्रयोग-नियम भी मानना उचित है। 'अजा को गाँव ले जाओ', 'घी लाओ', ब्राह्मण को खिलाओ' आदि शब्द सामान्य होते हुए अपने अपने किसी एक अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे ये अपनी सामर्थ्य से, जहाँ विशेष अर्थक्रियादेशना सम्भव हो, वहीं प्रवृत्त होते हैं। अर्थसामान्य में क्रियादेशना सम्भव नहीं होती। इस रीति से 'नवकम्बल' यह सामान्यशब्द 'नये कम्बल वाला' इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, 'नौ कम्बल वाला' यह अर्थ वक्ता के अभिप्राय में अन्वित नहीं, अतः उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। इसलिए प्रकृत में उपपन्न न होनेवाली अर्थकल्पना से परवादी के वाक्य का उपालम्भ उचित नहीं है ॥ १२ ॥

अतिसामान्य योग से सम्भव अर्थ की असम्भव अर्थकल्पना करना 'सामान्यछल' कहलाता है ॥ १३ ॥

'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह—'सम्भवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पत्' इति। अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते—यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत्, व्रात्योऽपि ब्राह्मणः, सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः। यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम्। यथा—ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्वचिदाप्नोति, क्वचिदत्येति। सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति।

अस्य च प्रत्यवस्थानम्—अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः, प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य। तदत्रासंभूतार्थकल्पनानुपपत्तिः। यथा—सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालय इति। अनिराकृतमविवक्षितं च बीजजन्म, प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशस्यते। सोऽयं क्षेत्रानुवादः, नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति। बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वम्, न सम्पद्धेतुः; न चात्र हेतुर्विवक्षितः। विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य, सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति। विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथा हेतुतः

किसी के 'अहो, यह ब्राह्मण विद्याशीलसम्पन्न है'—ऐसा कहने पर, कोई कहे—'ब्राह्मण में विद्याशीलसम्पन्नता सम्भव है'। इस वचन का विघात अर्थ-विकल्पोपपत्ति द्वारा असम्भूत अर्थकल्पना से करता है—यदि ब्राह्मण में विद्याचरणशीलता सम्भव है तो व्रात्य (संस्काररहित) में भी वह सम्भव क्यों नहीं! क्योंकि व्रात्य भी जाति से तो ब्राह्मण ही है, वह भी विद्याचरणसम्पन्न हो सकता है।

जो धर्म विवक्षित अर्थविशेष को ग्रहण भी कर ले तथा अतिरिक्त में भी रहे वह 'अतिसामान्य' है। जैसे—'ब्राह्मणत्व' विद्याचरणरूप सम्पत्ति को कहीं ग्रहण भी कर सकता है, कहीं छोड़ कर अतिरिक्त में भी रह सकता है। ऐसा सामान्याश्रित छल 'सामान्यछल' कहलाता है।

इसका प्रतीकार यह है—यहाँ अविवक्षितहेतुत्व रहने से पुरुष का विषया-(संपद्विषया-)नुवाद हुआ है; क्योंकि वाक्य स्तुतिपरक है। अतः यहाँ असंभूतार्थकल्पना नहीं बनेगी। जैसे—'इस खेत में धान पैदा होता है' इस वाक्य में बीजजन्म न तो निराकृत ही है, न विवक्षित है; अपितु खेत ही प्रवृत्तिविषय है, उसी की प्रशंसा की गयी है। इस वाक्यप्रयोग में उस प्रशस्त क्षेत्र का अनुवादमात्र है; यहाँ धान का विधान नहीं है, न तो बीज से चावल की उत्पत्ति करना है। इसी प्रकार ब्राह्मण में विद्याचरण-संपद्विषय का अनुवादमात्र किया जाता है, कोई नयी विद्या या शालीनता उसमें अब प्रतिष्ठित नहीं की जाती कि उसे उस संपद् का हेतु मानें। वाक्य के प्रशंसार्थक होने से यह विषयानुवादमात्र है—ब्राह्मणत्व के रहते उक्त संपद्धेतु होता हुआ वह समर्थ है। विषय की

फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते। तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति ॥ १३ ॥

उपचारच्छललक्षणम्

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पः = अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्द्देशे[1]। यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थ-सद्भावेन प्रतिषेधः—'मञ्चस्थाः पुरुषा क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः क्रोशन्ति'।

का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः? अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथार्थकल्पनम्, भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनमुपचारविषयं छलमुपचारच्छलम्। उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्भावे तद्वदभिधानम् = उपचार इति।

अत्र समाधिः—प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा, न च्छन्दतः। प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोक-सिद्धः। सिद्धे प्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायः, तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा, न

प्रशंसा करता हुआ उक्त वाक्य हेतु से फलसंपन्नता का प्रत्याख्यान नहीं करता। इस रीति से असंभूतार्थकल्पना द्वारा वचनविघात वाद में उचित नहीं है ॥ १३ ॥

स्वभावविकल्पनिर्देशक वाक्य में अर्थ की सत्ता का निषेध करना 'उपचारछल' कहलाता है ॥ १४ ॥

यथार्थप्रयोग ही शब्द का स्वभाव है, स्वभाव(धर्म)विकल्प से तात्पर्य है—अन्यत्र दृष्ट का अन्यत्र प्रयोग। उस स्वभावविकल्प के निर्देशक पदप्रयोग (वाक्य) में (अर्थ की सत्ता का निषेध 'उपचारछल' कहलाता है)। जैसे—'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में अभिप्रेतार्थ की सत्ता का निषेध करके 'मञ्चस्थ पुरुष चिल्ला रहे हैं,' 'न कि मञ्च चिल्ला रहे हैं'—ऐसा कहना।

यहाँ अर्थविकल्पोपपादन क्या है? अन्य अर्थ में प्रयुक्त की अन्य अर्थकल्पना। गौणार्थ से प्रयुक्त वाक्य में मुख्य अर्थ की कल्पना ही उपचारविषयक छल है, अतः यह 'उपचारच्छल' है। 'उपचार' से तात्पर्य है सहचारादि निमित्त द्वारा अर्थ को अन्यत्र ले जाया जाये। संक्षेप में, 'अतत्त्व में तत्त्वकथन' उपचार कहलाता है।

इस (उपचारछल) का प्रतीकार यह है—शक्य या भाक्त अर्थ में प्रसिद्ध प्रयोग का शब्दार्थ की अभ्यनुज्ञा या उनका निषेध वक्ता के अभिप्रायाधीन होता हैं, न कि स्वेच्छया। प्रधानभूत (मुख्य) शब्द का गौण या भाक्त उभयविध अर्थ में प्रयोग लोक में देखा जाता है। सिद्ध प्रयोग में जैसा वक्ता का अभिप्राय हो वैसे ही शब्द, अर्थ की स्वीकृति या अस्वीकृति देना चाहिये, स्वेच्छा नहीं। जब वक्ता का प्रधानभूत अर्थ में

---

१. वार्त्तिककृत्तु 'धर्मविकल्पेन निर्देशे वाक्ये' इत्येवं व्याचष्टे।

च्छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते ? यथाभूतस्याभ्यनुज्ञा, प्रतिषेधो वा, न च्छन्दतः। अथ गुणभूतम् ? तदा गुणभूतस्य। यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते, प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति, स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति, न परोपालम्भ इति ॥ १४ ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलम्, तदविशेषात् ? ॥ १५ ॥

न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते; तस्याप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि 'स्थान्यर्थो गुणशब्दः, प्रधानशब्दः स्थानार्थः'—इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति ? ॥ १५ ॥

न; तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

न वाक्छलमेवोपचारच्छलम्; तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात्। कुतः ? अर्थान्तरकल्पनातः। अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना, अन्योऽर्थसद्भावप्रतिषेध इति ॥ १६ ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

तात्पर्य हो तो मुख्य अर्थ की स्वीकृति या अस्वीकृति देना चाहिये, जब गौण अर्थ अभिप्रेत हो तो गौण की। परन्तु जब वक्ता गौण अर्थ के अभिप्राय से प्रयोग करे और प्रतिवादी प्रधानभूत अर्थ मानकर उसको वाद में रोके तो यह प्रतिवादी का स्वेच्छया (मनमाना) प्रयोग है। इससे वादी का प्रतिषेध करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

वाक्छल से उपचारच्छल में कोई भेद न होने से उसे वाक्छल ही क्यों न मान लिया जाये ? ॥ १५ ॥

वाक्छल से उपचारच्छल में कोई भेद नहीं होता; क्योंकि वाक्छल में भी 'नव' शब्द का 'संख्यार्थक नव' अर्थ कल्पित किया जाता है, इसी प्रकार उपचारच्छल में भी मञ्चस्थपुरुषबोधक 'मञ्च' शब्द को मञ्च अर्थ से कल्पित करके वादी का प्रतिषेध किया जाता है तो उपचारच्छल को भी वाक्छल ही क्यों न मान लें ? ॥ १५ ॥

अर्थभेद होने से उपचारच्छल को वाक्छल नहीं कहा जा सकता ॥ १६ ॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता; क्योंकि उस उपचारच्छल में अर्थसद्भावप्रतिषेध यह अर्थान्तर (भेद) है। किससे ? अर्थान्तरकल्पना से। अर्थान्तरकल्पना दूसरी बात है; तथा जो अर्थ है उसका निषेध करना दूसरी बात। अतः अर्थान्तरकल्पनारूप वाक्छल में अर्थसद्भावप्रतिषेधरूप उपचारच्छल का समावेश नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

कुछ सादृश्य से यदि अविशेष मानेंगे तो एक सामान्यछल ही रह जायेगा ॥ १७ ॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते; किञ्चित्साधर्म्यात्। यथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति, तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति; विद्यते हि किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति। अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्तते, त्रित्वमपि न निवर्त्स्यंति ॥ १७ ॥

लिङ्गदोषसामान्यप्रकरणम् [१८–२०]

जातिलक्षणम्

अत ऊर्ध्वम्—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः। स च प्रसङ्गः साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानम् = उपालम्भः, प्रतिषेध इति। 'उदाहरणसाधर्म्यात्साध्य-साधनं हेतुः' इत्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। उदाहरणवैधर्म्यात्साध्य-साधनं हेतुः' इत्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जाय-मानोऽर्थो जातिरिति ॥ १८ ॥

निग्रहस्थानलक्षणम्

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥

कुछ सादृश्य होने के कारण छल का द्वित्व स्वीकार करके यदि उसके त्रित्व (तीन प्रकार) का निषेध करते हैं तो जैसे यह सादृश्यहेतु उसके त्रित्व का प्रतिषेध करेगा, उसी तरह उसके द्वित्व का भी निषेध कर सकता है; क्योंकि बाकी दो (वाक्छल तथा सामान्य छल) में भी तो किञ्चित् सादृश्य है ही। किञ्चित् सादृश्य से यदि द्वित्व निवृत्त नहीं हो पाता तो उस हेतु से त्रित्व भी कैसे निवृत्त होगा ! अतः छल को तीन प्रकार का ही मानना चाहिये ॥ १७ ॥

इसके बाद—

सादृश्य या वैसादृश्य द्वारा हेतुप्रतिषेध 'जाति' कहलाता है ॥ १८ ॥

(छल में साधर्म्य-वैधर्म्य नहीं होते, साधर्म्य या वैधर्म्यमात्र से सम्यक् प्रतिषेध किया भी नहीं जा सकता, बल्कि प्रयोग से किया जा सकता है। इसलिये) हेतु का साधर्म्य वैधर्म्य से जो प्रसङ्ग होता है वह 'जाति' कहलाता है। वह प्रसङ्ग साधर्म्य या वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान = उपालम्भ अर्थात् प्रतिषेध कहलाता है। उदाहरण-साधर्म्य से साध्य-साधक हेतु का उदाहरण-वैधर्म्य से प्रतिषेध करना अथवा उदाहरण-वैधर्म्य से साध्य-साधक हेतु का उदाहरण-साधर्म्य से प्रतिषेध करना संक्षेप में विरोधी रूप से उत्पन्न अर्थ 'जाति' है ॥ १८ ॥

विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति 'निग्रहस्थान' कहलाता है ॥ १९ ॥

विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति। निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः।

अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः = परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति, प्रतिषेधं वा नोद्धरति।

असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति ।। १९ ।।

किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदः? अथ सिद्धान्तवद्भेदः? इत्यत आह–

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ।। २० ।।

तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम्, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम्। नानाकल्पः = विकल्पः। विविधो वा कल्पः = विकल्पः। तत्राननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्–इत्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थाम्। शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।।

इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिता यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति ।। २० ।।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

*** समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ***

विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपति' होता है, इस तरह विप्रतिपदयमान पुरुष वाद में पराजय प्राप्त करता है। पराजय-प्राप्ति ही 'निग्रहस्थान' है।

'अप्रतिपत्ति' उसे कहते हैं कि वादी आवश्यक विषय में भी आरम्भ न करे अथवा प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन या मण्डन न करे। यहाँ द्वन्द्व समास न करने में अभिप्राय यह है कि ये ही दो निग्रहस्थान नहीं हैं, अपितु अन्य भी हैं ।। १९ ।।

क्या पूर्वोक्त 'दृष्टान्त' की तरह जाति और निग्रहस्थान में अभेद है या 'सिद्धान्त' की तरह उनमें भेद है? इसपर सूत्रकार कहते हैं—

उनके अनेक विकल्पों के कारण जाति और निग्रहस्थान बहुत से हैं ।। २० ।।

उस 'साधर्म्य वैधर्म्य से प्रतिषेध' रूप जाति के बहुत से विकल्प होने के कारण जाति अनेक प्रकार की है। इसी तरह विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान के भी अनेक विकल्प होने के कारण वह भी अनेक प्रकार का है। नाना या विविध कल्पनाएँ जिसमें हों, वह 'विकल्प' कहलाता है। उनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विशेष, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्य की उपेक्षा—ये अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान हैं, शेष विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान हैं ।।

इन प्रमाणादि पदार्थों के उद्देश व लक्षण किये जा चुके; अब लक्षणानुसारी परीक्षा आगामी अध्याय में की जायेगी—शास्त्र की यही त्रिधा प्रवृत्ति समझनी चाहिये ।।२०।।

वात्स्यायनीयन्यायभाष्यसहित न्यायदर्शन के प्रथमाध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त ।।

❀ प्रथम अध्याय समाप्त ❀

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षा। सा च 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' (१. १. ४१) इत्यग्रे विमर्श एव परीक्ष्यते—

संशयपरीक्षाप्रकरणम् [१-७]

[पूर्वपक्षः]

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

समानस्य धर्मस्याध्यवसात्संशयः, न धर्ममात्रात्।

अथ वा–'समानमनयोर्धर्ममुपलभे' इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति।

अथ वा–समानधर्माध्यवसायादर्थान्तरभूते धर्मिणि संशयोऽनुपपन्नः, न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति।

अथ वा—नाध्यवसायादर्थावधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते, कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति।

एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम्। अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति, ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति ॥ १ ॥

अब आगे प्रमाणादि की लक्षणानुसारो परीक्षा की जायेगी। उस परीक्षा में "संशय करके पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय ही 'निर्णय' कहलाता है" (१. १. ४१) इस लक्षण से परीक्षा में संशय का प्रथम स्थान है, अतः सर्वप्रथम संशय पर ही विचार करते हैं—

समान धर्म के अध्यवसाय से, अनेक धर्मों के अध्यवसाय से तथा अन्यतर धर्म के अध्यवसाय से संशय नहीं होता ॥ १ ॥

समान धर्म के अध्यवसाय से संशय होता है, धर्ममात्र के अज्ञायमान रहते संशय नहीं होता। अथवा धर्म-धर्मिग्रहण में—'इस दोनों के समान धर्म उपलब्ध हैं' इतने से भी संशय नहीं कहला सकता। अथवा—समान धर्माध्यवसाय से अर्थान्तरभूत धर्मी में संशय नहीं बन सकता; क्योंकि यह कभी नहीं होता कि अर्थान्तरभुत 'रूप' के अध्यवसाय से अर्थान्तरभूत 'स्पर्श' में संशय होने लगे। अथवा—अर्थावधारणात्मक अध्यवसाय से अनवधारणज्ञानरूप संशय नहीं हो सकता; क्योंकि कार्यकारण की सरूपता नहीं मिलती। जैसे अवधारण निश्चय है, संशय ज्ञान है।

इसी तरह 'अनेक धर्म के अध्यवसाय से' इस वाक्य का व्याख्यान भी समझना चाहिये। अन्यतर धर्माध्यवसाय से भी संशय नहीं होता, बल्कि उससे अन्यतरावधारण ही होता है ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

न प्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः, किं तर्हि ? विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः। एवमव्यवस्थायामपीति। अथ वा—अस्त्यात्मेत्येके, नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्ते—इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति। तथोपलब्धिरव्यवस्थिता, अनुपलब्धिश्चाव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयो नोपपद्यत इति ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

यां च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते, सा सम्प्रतिपत्तिः सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्मविषया। तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः, सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति ॥ ३ ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥

न संशयः। यदि तावदियमव्यवस्था आत्मनि एव व्यवस्थिता ? व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः। अथ अव्यवस्थाऽऽत्मनि न व्यवस्थिता ?

विप्रतिपत्ति-अध्यवसाय या अव्यवस्था-अध्यवसाय से भी संशय नहीं होता ॥ २ ॥

अप्रतिपत्ति या अव्यवस्था के अध्यावसायमात्र से संशय नहीं होता, अपितु विप्रतिपत्ति समझने वाले को संशय होता है। इसी तरह अव्यवस्था में समझें। अथवा—'आत्मा हैं' यह एक मानते हैं, 'आत्मा नहीं है' यह दूसरे; यह उपलब्धि है तो इतने से संशय कैसे होगी ? तथा जब उपलब्धि भी अव्यवस्थित है, अनुपलब्धि भी अव्यवस्थित है तब इस विभाग से अध्यवसित विषय के बारे में संशय कैसे कहला सकता है ? ॥ २ ॥

विरुद्धकोटिद्वयज्ञान में भी सम्प्रतिपत्ति (निर्णय) के कारण संशय नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

जिसको आप विप्रतिपत्ति ('आत्मा है, आत्मा नहीं हैं'—ऐसा विरुद्धकोटिद्वयज्ञान) कहते हैं वह तो वस्तुतः सम्प्रतिपत्ति ही है; क्योंकि वह दो सम्प्रतिपत्तिविरुद्ध धर्मों को विषय करती हुई अपने अपने विषय में निर्णय ही कराती है। वैसे स्थल में यदि आप विप्रतिपत्ति के कारण संशय बतला रहे हैं तो वह सम्प्रतिपत्ति ने ही संशय बतला रहे हैं ॥ ३ ॥

उपलब्ध्यव्यवस्था तथा अनुपलब्ध्यव्यवस्था से होनेवाला संशय भी उक्त अव्यवस्थाओं के व्यवस्थित (निश्चित) होने से ॥ ४ ॥

संशय नहीं कहला सकता। यदि यह अव्यवस्था (सत्ता या असत्ता) अपने में अवस्थित है तो यह भी एक प्रकार की व्यवस्था ही है, इसे 'अव्यवस्था' कहकर संशयोपपादन नहीं कर सकते। और यदि यह अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित नहीं है तो

एवमतादात्म्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति ॥ ४ ॥

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥

येन कल्पेन भवान् समानधर्मोपपत्तेः संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसज्यते, समानधर्मोपपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः। न ह्ययमतद्धर्मा धर्मी विमृश्यमाणो गृह्यते, सततं तु तद्धर्मा भवतीति ॥ ५ ॥

[सिद्धान्तपक्षः]

अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य संक्षेपेणोद्धारः—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

संशयानुत्पत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते। कथम्? यत्तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुः, न समानधर्ममात्रमिति। एवमेतत्, कस्मादेवं नोच्यते इति? 'विशेषापेक्षः' इति वचनात् तत्सिद्धेः। विशेषस्यापेक्षा =

उसका अपने साथ तादात्म्य न होने से उनमें वह अव्यवस्था घट नहीं सकेगी, तब भी अव्यवस्था के कारण संशय कहाँ होगा ? ॥ ५ ॥

यों तो फिर सदा सर्वत्र संशय होने लगेगा; क्योंकि समानधर्मोपपत्ति तो संशय का कारण सदैव हो सकती है ॥ ५ ॥

जिस नय से आप 'असमानधर्मोपत्ति से संशय होता है'—ऐसा मानते हैं उस नय में सदा ही संशय होता रहेगा; क्योंकि समानधर्मोपपत्ति समाप्त नहीं होगी और संशय का नैरन्तर्य भी चालू रहेगा। यह निश्चित है कि तद्धर्मभाववान् धर्मी तो कभी विमर्श का विषय नहीं बन सकेगा, क्योंकि तद्धर्म तो उसमें निरन्तर रहेगा ही। [यों इन पाँच सूत्रों से पाँच प्रकार के संशय के लक्षणों पर पूर्वपक्षी ने आपत्ति की है।] ॥ ५ ॥

इस विस्तृत आपत्ति (प्रतिषेध) का संक्षेप से उद्धार (निराकरण) किया जा रहा है—

यथोक्त (१. १. २३) समानधर्मादि के अध्यवसाय (ज्ञान) से ही उन उन पदार्थों के भेदक धर्म के ज्ञान की अपेक्षा से संशयोत्पत्ति मानने पर पूर्वोक्त असंशय या सदैव संशय नहीं होगा ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षी द्वारा कथित संशय के अभाव, तथा संशय का अनुच्छेद (संशयनैरन्तर्य)—दोनों का ही प्रसङ्ग नहीं है; क्योंकि हमने समानधर्माध्यवसाय को संशय का हेतु कहा था, न कि समानधर्ममात्र को। ठीक है, फिर लक्षण में भी ऐसा ही क्यों नहीं पढ़ देते ? विभेदक धर्म की आवश्यकता के बोधक 'विशेषापेक्ष' शब्द से ही समानधर्माध्यवसाय का बोध

आकाङ्क्षा, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था। न चोक्तम्—समानधर्मापेक्ष इति। समाने च धर्मे कथमाकाङ्क्षा न भवेद्, यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात्। एतेन सामर्थ्येन विज्ञायते—समानधर्माध्यवसायादिति।

उपपत्तिवचनाद्वा। समानधर्मोपपत्तेरित्युच्यते, न चान्या सद्भावसंवेदनादृते समानधर्मोपपत्तिरस्ति। अनुपलभ्यमानसद्भावो हि समानो धर्मोऽविद्यमानवद्भवतीति।

विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानम्। यथा लोके 'धूमेनाग्निरनुमीयते, इत्युक्ते 'धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयते' इति ज्ञायते। कथम्? दृष्ट्वा हि धूममथाग्निमनुमिनोति, नादृष्टे। न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते, अनुजानाति च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वम्, तेन मन्यामहे—विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानाति। एवमिहापि समानधर्मशब्देन समानधर्माध्यवसायमाहेति।

यथोहित्वा—'समानमनयोर्धर्ममुपलभे' इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभावः इति? पूर्वदृष्टविषयमेतत्। 'यावहमर्थौ पूर्वमद्राक्षं तयोः समानं धर्ममुपलभे,

---

होता है। यहाँ विशेष (विभेदक) की अपेक्षा अर्थात् आकांक्षा यह 'विशेषापेक्ष' का अर्थ है। यह आकांक्षा विभेदक के अनुपलब्ध होने पर ही हो सकती है। अतएव 'समानधर्मापेक्ष' हमने नहीं कहा; क्योंकि समान धर्म होने मात्र से आकांक्षा कैसे नहीं होगी? यदि यह प्रत्यक्ष हो। अतः समानधर्माध्यवसाय सामर्थ्यसिद्ध है।

'उपपत्ति' वचन से भी पूर्वपक्षी की आपत्ति निराकृत हो सकती है। समानधर्म की उपपत्ति से—ऐसा कहा गया है, क्योंकि सद्भावसंवेदन (स्वसत्ताक ज्ञान) के अतिरिक्त अन्य समानधर्मोपपत्ति क्या होगी! अनुपलभ्यमान सत्ता वाले समानधर्म को तो न रहने के समान ही समझा जाता है।

अथवा—विषयवाचक (समानधर्म) शब्द से विषयिणी प्रतीति का ज्ञान भी कहा जाता है। जैसे—लोक में 'धूम से अग्नि का अनुमान होता है,' ऐसा कहने पर 'धूमदर्शन से अग्नि का अनुमान कर सकता है, विना देखे नहीं। प्रयुक्त वाक्य में 'दर्शन' शब्द होता नहीं फिर भी वाक्य ने अर्थ का ज्ञान करा दिया—आप भी ऐसा मानते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि 'विषयवाचक शब्द से विषयक प्रत्यय का ज्ञान होता है'। इसी प्रकार उक्त वाक्य में इसी नय से 'समानधर्म' शब्द से 'समानधर्माध्यवसाय' कहा गया है।

और जैसा कि पूर्वपक्षी ने तर्क करके कहा था—'इन दोनों के समान धर्मों को मैं पा रहा हूँ' ऐसे धर्म-धर्मी के ज्ञान में संशय नहीं होता, क्योंकि यह पूर्वदृष्ट है; जैसे 'मैंने जिन दो (धर्म-धर्मी) को पहले देखा था, उन को वैसे देख रहा हूँ, परन्तु दोनों का विशेष

विशेषं नोपलभे इति, कथं नु विशेषं पश्येयं येनान्यतरमवधारयेयम्' इति। न चैतत् समानधर्मोपलब्धौ धर्मधर्मिग्रहणमात्रेण निवर्तत इति।

यच्चोक्तम्—'नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशयः' इति? यो ह्यर्थान्तराध्यवसायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति।

यत्पुनरेतत्—'कार्यकारणयोः सारूप्याभावात्' इति? कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ कार्यकारणयोः सारूप्यम्। यस्योत्पादाद् यदुत्पद्यते, यस्य चानुत्पादाद्यन्नोत्पद्यते तत्कारणम्, कार्यमितरदित्येतत्सारूप्यम्। अस्ति च संशयकारणे संशये चैतदिति।[1]

एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति।

यत्पुनरेतदुक्तम्—'विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशयः' इति? 'पृथक्प्रवादयोर्व्याहतमर्थमुपलभे विशेषं च न जानामि नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयम्, तत्कोऽत्र विशेषः स्याद्येनैकतरमवधारयेयम्'—इति संशयो विप्रतिपत्तिजनितः, अयं न शक्यो विप्रतिपत्तिसम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्त्तयितुमिति।

(विभेदक) नहीं जान पा रहा हूँ, कैसे इनका विभेदक जानूँ ताकि इन में से किसी एक की सत्ता का निश्चय कर सकूँ" यह विशेषाकांक्षा समानधर्म की उपलब्धि होने पर धर्म-धर्मी के ज्ञान मात्र से दूर नहीं हो सकती, उस दशा में संशय तो होगा ही।

यह जो कहा—'अर्थान्तर रूप के संशयहेतु से स्पर्श में संशय नहीं हो सकता', तो जो अर्थान्तरज्ञानमात्र को संशयहेतु समझ रहा है, उससे ऐसा कहिये।

पुनः यह जो कहा—'कार्य तथा कारण का सादृश्य न होने से संशय नहीं हो सकता', इसका उत्तर यह है कि कारण के होने या न होने पर कार्य का होना या न होना ही कार्यकारण का सादृश्य है। जिसके उत्पन्न होने से जो उत्पन्न होता हो तथा जिसके उत्पन्न न होने से उत्पन्न न होता हो वह कारण है, बाकी दूसरा कार्य है। यही सादृश्य है। यह सादृश्य संशय के कारण में तथा स्वयं संशय में रहता ही है।

इसी युक्ति से पूर्वपक्षी के अनेकधर्माध्यवसायवान् कह कर जो प्रतिषेध किया था, उसका भी खण्डन हो जाता है।

और यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था—'विप्रतिपत्ति और अध्यवसाय से संशय नहीं हो सकता', उसका उत्तर यह है—"आत्मा है' तथा 'आत्मा नहीं है'—इन दो प्रवादों (मतों) में विरुद्ध धर्मों को पा रहा हूँ, विशेष को नहीं जान पा रहा हूँ, न मुझे मिल ही रहा है कि जिससे किसी एक के बारे में निश्चय कर सकूँ"—यह संशय विप्रतिपत्तिजनित है, विप्रतिपत्ति या संप्रतिपत्तिमात्र कहने से वह दूर नहीं हटाया जा सकता।

---

१. वार्तिककारस्तु सारूप्यान्तरमाह—विशेषानवधारणं सारूप्यमिति।

एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थाकृते संशये वेदितव्यमिति ।

यत्पुनरेतत्–'विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः' इति ? विप्रतिपत्तिशब्दस्य योऽर्थः– तदध्यवसायो विशेषापेक्षः संशयः, तस्य च समाख्यान्तरेण न निवृत्तिः । समानेऽधिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः, तदध्यवसायश्च विशेषापेक्षः संशयहेतुः । न चास्य सम्प्रतिपत्तिशब्दे समाख्यान्तरे योज्यमाने संशयहेतुत्वं निवर्तते । तदिदमकृतबुद्धिसम्मोहनमिति !

यत्पुनः 'अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः' इति ? संशयहेतोरर्थस्याप्रतिषेधादव्यवस्थाभ्यनुज्ञानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दान्तरकल्पना । व्यर्था शब्दान्तरकल्पना, अव्यवस्था खलु व्यवस्था न भवति; अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वादिति । नानयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विषयत्वं विशेषापेक्षं संशयहेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते, यावता चाव्यवस्थाऽऽत्मनि व्यवस्थिता न

इसी नय से 'उपलब्ध्यव्यवस्थाध्यवसायोपपन्न' संशय के बारे में भी पूर्वपक्षी का खण्डन समझ लेना चाहिये ।

पूर्वपक्षी ने यह जो 'विप्रतिपत्ति में संप्रतिपत्ति' (२. १. ३)—इस सूत्र में 'विप्रतिपत्ति के कारण उसके सम्प्रतिपत्ति होने से यदि विप्रतिपत्ति से भी संशय माना जायेगा तो यह संप्रतिपत्ति से ही संशय मानना होगा' कहा था ? उसका उत्तर है—'विप्रतिपत्ति' इस शब्द का जो अर्थ है वह उसका विशेषधर्म के ज्ञान की अपेक्षा रखता हुआ संशय का हेतु है, उसका 'संप्रतिपत्ति' यह दूसरा नाम कर देने से संशय की निवृत्ति थोड़े हो जायेगी । समान अधिकरण में विरुद्ध अर्थ वाले दो मत ('आत्मा है', 'आत्मा नहीं है') 'विप्रतिपत्ति' कहलाते हैं, उनका ज्ञान विशेषधर्म (ज्ञान) की अपेक्षा रखने से संशय का कारण बनता है । इसकी 'संप्रतिपत्ति' यह अन्य संज्ञा कर देने से संशय की निवृत्ति कैसे हो जायेगी ! इस तरह तो मूर्खों को बहकाया जा सकता है !

यह जो कहा था—'अव्यवस्था अपने स्वरूप में व्यवस्थित होने के कारण अव्यवस्थोपलब्धि से संशय नहीं हो सकता' ? इसका उत्तर है—पूर्वपक्षी द्वारा संशय के हेतुभूत अव्यवस्थारूप अर्थ का प्रतिषेध न करने से तथा अव्यवस्था के स्वीकार करने से अन्य निमित्त को लेकर शब्दान्तर की कल्पना की जा रही है, परन्तु यह शब्दान्तरकल्पना व्यर्थ ही होगी; क्योंकि तब भी अव्यवस्था व्यवस्था नहीं बन सकेगी । वह तो 'अव्यवस्था' इस स्वरूपार्थ में ही व्यवस्थित है, नाम भले ही उसका कुछ रख लें । उन दोनों अव्यवस्थाओं का सत् तथा असत् विषयों में होना विशेषधर्म (के ज्ञान) की अपेक्षा रखता हुआ संशय का कारण होता है—इसलिये ही उनका प्रतिषेध नहीं किया जा रहा है; अपितु

तावताऽऽत्मानं जहाति, तावता ह्यनुज्ञाताऽव्यस्था। एवमियं क्रियमाणापि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति।

यत्पुनरेतत्–'तथाऽत्यन्तसंशयः तद्धर्मसातत्योपपत्तेः' इति ? नायं समानधर्मादिभ्य एव संशयः, किं तर्हि ? तद्विषयाध्यवसायाद् विशेषस्मृतिसहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति।

अन्यतरधर्माध्यावसायाद्वा न संशय इति ? तन्न युक्तम्; 'विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' इति (१. १. २३) वचनात्। विशेषश्चान्यतरधर्मः, न तस्मिन्नध्यवसीयमाने विशेषापेक्षा सम्भवतीति ॥ ६ ॥

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्र तत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्य इति।

अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति ॥ ७ ॥

अव्यवस्थास्वरूप में व्यवस्थित रहने के कारण वे अपना अव्यवस्थात्व नहीं छोड़ पातीं। इस रूप में पूर्वपक्षी ने भी उनको 'अव्यवस्था' माना है। इसलिये इसकी शब्दान्तर-कल्पना से भी अर्थान्तर की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

यह जो कहा था—'उस धर्म की निरन्तरोपपत्ति से सदा संशय होने लगेगा' ? इसका उत्तर यह है—केवल समानधर्मादिकों के रहने से ही संशय नहीं होता, अपितु विशेष धर्मों के स्मृतिसहित तद्विषयक अध्यवसाय से होता है, अतः आत्यन्तिक संशय की उपपत्ति नहीं बनेगी।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था—'किसी एक के धर्माध्यवसाय से संशय नहीं होता' ? यह भी युक्त नहीं; हम "विशेष धर्म (के ज्ञान) की अपेक्षा रखनेवाला विमर्श 'संशय' होता है" (१.१.२३) ऐसा कह आये हैं। विशेष का मतलव है दो में अन्यतर धर्म, उसका निश्चय होने पर विशेषापेक्षा नहीं होती ॥ ६ ॥

जहाँ (जिस प्रमाणादि की परीक्षा में) संशय हो वहाँ वहाँ (वैसी परीक्षा में) इसी तरह उत्तरोत्तर प्रयोजनादि में परीक्षा-प्रसङ्ग करना चाहिये ॥ ७ ॥

जहाँ जहाँ, शास्त्र या कथा में, संशयपूर्वक परीक्षा का अवसर आये वहाँ वहाँ इस तरह संशय होने पर प्रतिवादी द्वारा खण्डन करने पर उत्तर देना चाहिये।

अतः कथाङ्ग होने, तथा सभी प्रमाणादि पदार्थों की परीक्षा में व्यापक होने के कारण सर्वप्रथम संशय की परीक्षा की गयी है ॥ ७ ॥

प्रमाणसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [८-२०]

अथ प्रमाणपरीक्षा।

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ? ॥ ८॥

प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं नास्ति, त्रैकाल्यासिद्धेः। पूर्वापरसहभावानुपपत्तेरित्यर्थः॥ ८॥

अस्य सामान्यवचनस्यार्थविभागः—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ? ॥ ९॥

गन्धादिविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तद्यदि पूर्वम्, पश्चाद् गन्धादीनां सिद्धिः ? नेदं गन्धादिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति ॥ ९॥

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ? ॥ १०॥

असति प्रमाणे, केन प्रमीययाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात् ? प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्येतत्सिध्यति ॥ १०॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥ ११॥

अव प्रमाण की परीक्षा की जा रही है—

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द में प्रामाण्य नहीं बन सकता; क्योंकि प्रमेय पदार्थ की त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) में सिद्धि नहीं हो पाती ॥ ८॥

प्रत्यक्षादिकों में प्रमाणत्व नहीं घटेगा; क्योंकि उनके प्रमेय की त्रिकाल में सिद्धि नहीं हो सकती; यतः पूर्वोत्तरसामानाधिकरण्य अनुपपन्न होता है ॥ ८॥

पूर्वपक्षी के इस सामान्य वचन का अर्थ यों समझें—

प्रमेय से पूर्वकाल में प्रमाण की सिद्धि मानें तो 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है'—यह सिद्धान्ती का प्रत्यक्ष लक्षण नहीं बनेगा ॥ ९॥

गन्धादिविषयक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, वह यदि गन्धादि से पूर्वकाल में उत्पन्न होगा तो उस समय गन्धादि के न रहने से वहाँ सन्निकर्ष किसका वनेगा ? सन्निकर्ष न वनने से प्रत्यक्ष किसका होगा ? ॥ ९॥

गन्धादि प्रमेय के अपर (पश्चात्) काल में इस प्रत्यक्ष को सिद्धि मानें तो 'प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा ॥ १०॥

गन्धादि प्रमेय के समय प्रमाण के न रहने पर प्रमेय किससे प्रमित होगा ? प्रमाण के सहारे ही प्रमीयमाण अर्थ प्रमेय सिद्ध होता है ॥ १०॥

यदि उक्त प्रमाण-प्रमेय की एक काल में सिद्धि मानी जाये तो ज्ञान के प्रत्यर्थनियत होने से उसकी क्रमवृत्ति न हो पायेगी ॥ ११॥

यदि प्रमाणं प्रमेयं च युगपद्भवतः, एवमपि गन्धादिन्विन्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भवन्तीति ज्ञानानां प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः। या इमा बुद्धयः क्रमेणार्थेषु वर्त्तन्ते तासां क्रमवृत्तित्वं न सम्भवतीति। व्याघातश्च 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१. १. १६) इति। एतावाँश्च प्रमाणप्रमेययोः सद्भावविषयः, स चानुपपन्न इति। तस्मात्प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं न सम्भवतीति।

अस्य समाधिः—उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभागवचनम्। क्वचिदुपलब्धिहेतुः पूर्वम्, पश्चादुपलब्धिविषयः, यथा—आदित्यस्य प्रकाश उत्पद्यमानानाम्। क्वचित्पूर्वमुपलब्धिविषयः, पश्चादुपलब्धिहेतुः, यथा—अवस्थितानां प्रदीपः। क्वचिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह भवतः, यथा—धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति। उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणम्, प्रमेयं तूपलब्धिविषयः। एवं प्रमाणप्रमेययोः पूर्वापरसहभावेऽनियते यथा अर्थो दृश्यते, तथा विभज्य वचनीय इति। तत्रैकान्तेन प्रतिषेधानुपपत्तिः। सामान्येन खल्वविभज्य प्रतिषेध उक्त इति।

यदि प्रमाण तथा प्रमेय की युगपद् सम्भूति मानें तो गन्धादि इन्द्रियार्थों में प्रत्यर्थनियत ज्ञान की भी युगपत् उत्पत्ति माननी पड़ेगी, परन्तु ज्ञान के प्रत्यर्थनियत होने से उसमें क्रमवृत्तित्व कैसे आयेगा! तात्पर्य यह है कि जो बुद्धियाँ क्रमशः अर्थ का अवगाहन करती हैं उनका क्रमवृत्तित्व संभव नहीं है। और 'युगपज्ज्ञानानुत्पाद ही मन का इन्द्रियत्वसाधक हेतु है' (१·१·१६) इस मन के लक्षण का भी विरोध होने लगेगा। प्रमाण-प्रमेय में अस्तित्व यही विषय है, और यही अनुपपन्न होने लगेगा! अतः प्रत्यक्षादि में प्रमाणत्व सम्भव नहीं—ऐसा पूर्वपक्षी का मत है।

समाधान—शास्त्र में उपलब्धि-हेतु और उपलम्यमान अर्थ का पूर्वकाल या उत्तरकाल में या एक साथ होना—यह नियम न देखा जाने के कारण दर्शनानुसार ही विभाग कहा गया है। कहीं उपलब्धि-हेतु पहले रहता है, उपलब्धि-विषय वाद में, जैसे—उत्पन्न होने वाले पदार्थों के पूर्व सूर्य का प्रकाश। कहीं उपलब्धि-विषय पहले रहता है, उपलब्धि-हेतु बाद में, जैसे—पहले से उपस्थित पदार्थों के लिए दीपक। कहीं उपलब्धि-हेतु तथा उपलब्धि-विषय एक साथ रहते हैं, जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान। उपलब्धि-हेतु है प्रमाण तथा उपलब्धि-विषय है प्रमेय। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय का पूर्वापरसहभाव नियत न होने के कारण, अर्थ जैसा देखा जाता है उसी तरह विभाग करके कह दिया जाता है; अतः यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा एक एक का नियम मान कर दिये गये दोष नहीं वन सकते। यों पूर्वपक्षी ने विवेचन न कर सामान्येन जो दोष कहे थे वे उक्त समाधान से निरस्त कर दिये गये।

समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् तथाभूता समाख्या[१]। यत्पुनरिदम्—'पश्चात् सिद्धावसति प्रमाणे प्रमेयं न सिध्यति, प्रमाणेन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमिति विज्ञायते' इति ? प्रमाणमित्येतस्याः समाख्याया उपलब्धिहेतुत्वं निमित्तम्, तस्य त्रैकाल्ययोगः। उपलब्धिमकार्षीत्, उपलब्धिं करोति, उपलब्धिं करिष्यतीति समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् समाख्या तथाभूता। प्रमितोऽनेनार्थः, प्रमीयते, प्रमास्यते, इति प्रमाणम्। प्रमितम्, प्रमीयते, प्रमास्यते इति च प्रमेयम्। एवं सति–'भविष्यत्यस्मिन् हेतुत उपलब्धिः', 'प्रमास्यतेऽयमर्थः', 'प्रमेयमिदम्'–इत्येतत् सर्वं भवतीति।

त्रैकाल्यानभ्यनुज्ञाने च व्यवहारानुपपत्तिः। यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात् तस्य 'पाचकमानय पक्ष्यति', 'लावकमानय लविष्यति' इति व्यवहारो नोपपद्यत इति।

'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः' (२. १. ८) इत्येवमादिवाक्यं प्रमाणप्रतिषेधः। तत्रायं प्रष्टव्यः—अथानेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियत

समाख्या (संज्ञा-शब्दों) के प्रवृत्तिरूप हेतु से जाति, गुण तथा द्रव्य में त्रैकाल्य-सम्बन्ध रहना चाहिए, तब समाख्या भी त्रैकाल्यसम्बन्ध रखती है। यह जो कहा था–'पश्चात्-काल में सिद्धि मानने पर उस समय प्रमाण के न रहने से प्रमेय सिद्ध नहीं होगा, जब कि प्रमाण से प्रमीयमाण अर्थ ही प्रमेय कहलाता है' ? इसका उत्तर है—'प्रमाण' इस संज्ञा का निमित्त है—'ज्ञान का कारण होना', यह 'ज्ञान का कारण होना' त्रिकाल-सम्बन्धी है। 'इसने उपलब्धि की', 'यह उपलब्धि कर रहा है', 'यह उपलब्धि करेगा' इस प्रकार से 'प्रमाण' संज्ञा त्रैकाल्यसम्बन्धवाली है। अर्थात् 'इससे प्रमेय जाना गया', 'जाना जाता है', 'जानेगा'—इसलिए यह प्रमाण कहलाता है। प्रमेय भी त्रैकाल्य-सम्बन्ध वाला है—'यह जाना गया', 'जाना जाता है' या 'जाना जायेगा।' ऐसा त्रैकाल्य-सम्बन्ध होने पर—'इसमें हेतु से उपलब्धि हो जायेगी', 'यह अर्थ को जानेगा' तथा 'यह जानने योग्य है' यह सब व्यवहार उपपन्न हो जायेंगे।

त्रैकाल्य-सम्बन्ध न मानने पर समग्र लोकव्यवहार उच्छिन्न होने लगेगा। जो इस त्रैकाल्यसम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता, उसके लिये 'पाचक लाओ, भोजन पकायेगा', 'घास काटनेवाले को लाओ, घास काटेगा'—यह व्यवहार कैसे बनेगा !

पूर्वपक्षी ने यह भी कहा था कि 'त्रिकाल-सम्बन्ध की असिद्धि के कारण प्रत्यक्षादि में प्रामाण्य नहीं बनेगा' ? उसके उत्तर में पूर्वपक्षी से यह पूछना चाहिये कि यह प्रतिषेध

---

१. केषुचित्पुस्तकेषु वाक्यमिदं सूत्रत्वेनोपन्यस्तम्, परन्तु निकाये तथाऽप्रसिद्धत्वादस्माभिर्न स्वीकृतम्।—स०

इति ? किं सम्भवो निवर्त्यते, अथासम्भवो ज्ञाप्यत इति ? तद्यदि सम्भवो निवर्त्यते, सति सम्भवे प्रत्यक्षादीनां प्रतिषेधानुपपत्तिः । अथासम्भवो ज्ञाप्यते, प्रमाणलक्षणं प्राप्तस्तर्हि प्रतिषेधः; प्रमाणासम्भवस्योपलब्धिहेतुत्वादिति ॥ ११ ॥

किं चातः ?

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

अस्य तु विभागः । पूर्वं हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेध्ये किं तेन प्रतिषिध्यते ! पश्चात्सिद्धौ प्रतिषेधाभावादिति । युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध्यसिद्धयभ्यनुज्ञानादनर्थकः प्रतिषेध इति । प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्धं प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वमिति ॥ १२ ॥

कथम्[1] ?

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥

'त्रैकाल्यासिद्धेः' इत्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते, हेत्वर्थस्य साधकत्वं

कर के आप क्या करना चाहते हैं ? क्या सम्भव की निवृत्ति कर रहे हैं या असम्भव को वतला रहे हैं ? यदि सम्भव की निवृत्ति कर रहे हैं तो सम्भव होने पर प्रत्यक्षादि की निवृत्ति कैसी ! यदि असम्भव वतला रहे हैं तो असम्भव का ज्ञापन कैसा ? क्योंकि आपका उक्त प्रकारका ज्ञापन भी उक्त प्रमाणों के लक्षण की परिधि में ही आ गया ! आपने ही तो कहा था कि प्रत्यक्षादि में प्रमाण का असम्भव उपलब्धि का कारण है ! ॥ ११ ॥

इससे क्या हुआ ?

त्रैकाल्य की सिद्धि न बनने से पूर्वपक्ष्युक्त प्रतिषेध नहीं बन सकता ॥ १२ ॥

(पूर्वपक्षी को उत्तर देने के लिये) इस सूत्र का वक्ष्यमाण विभागार्थ कर लेना चाहिये । प्रस्तुत प्रमाण की सिद्धि होने पर प्रतिषेध्य के न रहने से वह किसका प्रतिषेध करेगा ? पश्चात् काल में प्रतिषेध्य मानने पर उस समय प्रतिषेध न कर पाने से प्रतिषेध्य की असिद्धि ही रहेगी । युगपत् (एक काल में) सिद्धि मानने पर पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिषेध्य की स्वीकृति दे देने से उसका प्रतिषेध निरर्थक हो जायेगा । प्रतिषेध-लक्षणार्थक वाक्य के अनुपपन्न होने से प्रत्यक्षादि में प्रमाणत्व रह ही जायेगा ॥ १२ ॥

कैसे ?

क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध करने से भी प्रतिषेध नहीं बन सकेगा ॥ १३ ॥

यदि 'त्रैकाल्यासिद्धि' हेतु का उदाहरण देने का प्रयत्न करे तो उसमें हेत्वर्थसाधकत्व

---

१. पदमिदं क्वचित् सूत्रस्यावतरणरूपेण गृहीतम्, क्वचिच्च व्याख्यानरूपेणेत्युभयथापि समञ्जसमेव प्रतिभाति ।

दृष्टान्ते दर्शयितव्यमिति, न च तर्हि प्रत्यक्षादीनामप्रमाण्यम् । अथ प्रत्यक्षादीना-मप्रामाण्यम् ? उपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थं साधयिष्यतीति । सोऽयं सर्वप्रमाणै-र्व्याहतो हेतुरहेतुः 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१. २. ६) इति । वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः । स च वाक्यार्थः—प्रत्यक्षादीनि नार्थं साधयन्तीति । इदं चावयवानामुपादानमर्थस्य साधनायेति । अथ नोपादीयते ? अप्रदर्शितहेत्व-र्थस्य दृष्टान्ते न साधकत्वमिति निषेधो नोपपद्यते; हेतुत्वासिद्धेरिति ॥ १३ ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाश्रितानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्येऽभ्यनु-ज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते; अविशेषादिति । एवं च न सर्वाणि प्रमाणानि प्रतिषिध्यन्त इति । विप्रतिषेध इति 'वि' इत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे, न व्याघाते; अर्थाभावादिति ॥ १४ ॥

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ? पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम् । यत्तावत्पूर्वोक्तम्-'उपलब्धि-

---

दिखाना पड़ेगा । इससे प्रत्यक्षादि का अप्रमाणत्व फिर भी नहीं वनेगा । यदि प्रत्यक्षादि का अप्रमाण्य ही मान लें तो दिया हुआ उदाहरण अर्थ को सिद्ध न कर सकेगा—इसलिए वह हेतु हेतु नहीं होगा । अतः यह जिस 'सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त है उसका विरोध करने वाला विरुद्ध' (१.२.६) हेत्वाभास होगा; क्योंकि 'प्रत्यक्षादि प्रमाण अर्थ की सिद्धि नहीं करते' यह वाक्यार्थ ही पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है, और उसके द्वारा यह प्रतिज्ञादि पांचों अवयवों का ग्रहण भी अर्थसिद्धि के लिये ही करना पड़ता है । यदि इनका ग्रहण न किया जाय तो अप्रदर्शित हेत्वर्थ की दृष्टान्त में साधकता नहीं वनेगी, तव प्रतिषेध भी कैसे हो सकेगा; क्योंकि हेतुत्व ही सिद्ध नहीं हुआ ॥ १३ ॥

अवयवाश्रित प्रत्यक्ष आदि को प्रमाण मानने पर समग्र प्रमाणों का प्रतिषेध सिद्ध न होगा ॥ १४ ॥

प्रतिषेधलक्षणक स्ववाक्य में यदि पूर्वपक्षी उन अवयवों पर आश्रित प्रत्यक्षादि को प्रमाण मानता है तो सिद्धान्ती के वाक्य में अवयवाश्रितत्व समानता के कारण प्रत्यक्षादि को प्रमाण मानना पड़ेगा; इस तरह सब प्रमाण प्रतिषिद्ध कहाँ हुए ! 'विप्रतिषेध' शब्द में 'वि' यह उपसर्ग 'समग्र प्रमाणों के निषेध का यथार्थ ज्ञान' का बोधक है, न कि विरोध का; क्योंकि 'विरोध' अर्थ मानने का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १४ ॥

ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि की तरह प्रमाणरूप कारण को सिद्धि होने से प्रमाणों में त्रैकाल्य-प्रतिषेध भी नहीं बनेगा ॥ १५ ॥

यह वात पहले (२. १. ११ में) कह ही आये, अब फिर क्यों कही जा रही है ?

हेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभाग-वचनम्' इति, तदितः समुत्थानं यथा विज्ञायेत। अनियमदर्शी खल्वयमृषि-र्नियमेन प्रतिषेधं प्रत्याचष्टे।

त्रैकाल्यस्य[1] चायुक्तः प्रतिषेध इति। तत्रैकां विधामुदाहरति—शब्दा-दातोद्यसिद्धिवदिति। यथा पश्चात्सिद्धेन शब्देन पूर्वसिद्धमातोद्यमनुमीयते। साध्यं चातोद्यम्, साधनं च शब्दः, अन्तर्हिते ह्यातोद्ये स्वनतोऽनुमानं भवतीति। 'वीणा वाद्यते', 'वेणुः पूर्यते' इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषं प्रतिपद्यते। तथा पूर्वसिद्धमुपलब्धिविषयं पश्चात्सिद्धेनोपलब्धिहेतुना प्रतिपद्यते इति।

निदर्शनार्थत्वाच्चास्य, शेषयोर्विधयोर्यथोक्तमुदाहरणं वेदितव्यमिति।

कस्मात् पुनरिह तन्नोच्यते ? पूर्वोक्तमुपपाद्यत इति। सर्वथा तावदयमर्थः प्रकाशयितव्यः—स इह वा प्रकाश्येत, तत्र वा; न कश्चिद्विशेष इति ॥ १५ ॥

प्रमाणं प्रमेयमिति च समाख्या समावेशेन वर्त्तते; समाख्यानिमित्तवशात्। समाख्यानिमित्तं तूपलब्धिसाधनं प्रमाणम्, उपलब्धिविषयश्च प्रमेयमिति।

पहले कही बात को ही पुष्ट करने के लिये। हमने जो पहले यह कहा था कि 'उपलब्धि-हेतु तथा उपलब्धि-विषय अर्थ में पूर्व-अपर काल या सहभाव का नियम न होने के कारण यथादर्शन विभाग कहा गया है' यह बात यहीं से आधार लेकर कही थी। प्रमाण-प्रमेय-नियम न मानने वाले सूत्रकार ने नियम से प्रतिषेधपक्ष का खण्डन किया है।

त्रैकाल्य का प्रतिषेध अयुक्त है, इसमें एक उदाहरण देते हैं—ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि की तरह। जैसे पश्चात्काल में सिद्ध ध्वनिरूप शब्द से पूर्वसिद्ध वाद्ययन्त्र की सिद्धि का अनुमान होता है। यहाँ शब्द साधन है, वाद्ययन्त्र साध्य है। अनभिव्यक्त वाद्ययन्त्र का ध्वनि से अनुमान होता है। 'वीणा बज रही है' या 'वंशी बज रही है'—ऐसा हम ध्वनिविशेष सुनकर ही अनुमान करते हैं। इसी प्रकार पूर्वसिद्ध उपलब्धिविषय का पश्चात्सिद्ध उपलब्धिहेतु से ज्ञान होता है।

यह एक उदाहरण दे दिया है। (२. १. ११) सूत्र में अवशिष्ट दोनों प्रकारों का भी इसी तरह उदाहरण समझ लेना चाहिये।

उन दोनों का भी यहाँ फिर से व्याख्यान क्यों नहीं किया गया ? यहाँ पूर्वोक्त बात ही समझायी जा रही है, कोई नयी बात नहीं कही जा रही; फिर उसे यहाँ कह दिया या वहाँ कह लें, क्या नयी बात हो जायेगी ॥ १५ ॥

'प्रमाण' तथा 'प्रमेय'—ये संज्ञायें संज्ञानिमत्त की स्थिति रहने पर व्यापकतया रहती हैं। जैसे संज्ञानिमित्त 'प्रमाण' उपलब्धि-साधन है, तथा 'प्रमेय' उपलब्धि-विषय। परंतु जब

---

१. 'त्रैकाल्ये'—इति पाठा०।

यदा च उपलब्धिविषयः क्वचिदुपलब्धिसाधनं भवति, तदा प्रमाणं प्रमेयमिति चैकोऽर्थोऽभिधीयते ।

अस्यार्थस्यावद्योतनार्थमिदमुच्यते—

प्रमेया[1] च तुला प्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥

गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणम्, ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम् । यदा सुवर्णादिना तुल्यान्तरं व्यवस्थाप्यते तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणम्, तुल्यान्तरं प्रमेयमिति । एवमनवयवेन तन्त्रार्थं उद्दिष्टो वेदितव्यः ।

आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् प्रमाता । बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात्[2] प्रमाणम् । उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम् । उभयाभावात् तु प्रमितिः । एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः ।

तथा च कारकशब्दा निमित्तवशात् समावेशेन वर्तन्त इति । वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ स्वातन्त्र्यात् कर्ता । वृक्षं पश्यतीति दर्शनेनाप्तुमिष्यमाणतमत्वात्

उपलब्धि-साधन ही कहीं उपलब्धि-विषय बन जाता है तो उस समय वह प्रमाण 'प्रमेय' भी बन जाता है और दोनों संज्ञाओं में से एक ही अर्थ लिया जाता है ।

इसी अर्थ को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं—

प्रमाणता के समान तुला प्रमेय भी है ॥ १६ ॥

गुरुत्व (वजन) तथा परिमाण के ज्ञान का साधन तुला 'प्रमाण' है, ज्ञान के विषय वजनी द्रव्य सुवर्णादि 'प्रमेय' है । जब उस तुले हुये सुवर्ण आदि से दूसरी चीज का तोल किया जाता है तब वही सुवर्णादि प्रमाण बन जाता है । इस प्रकार यहाँ शास्त्र (सूत्र) का अर्थ संघात (व्यापक) रूप से उपदिष्ट है—ऐसा समझना चाहिये ।

उपलब्धि विषय होने से प्रमेय में पढा गया 'आत्मा' उपलब्धि (ज्ञान) में स्वातन्त्र्य होने के कारण 'प्रमाता' भी कहलाता है, इसी तरह प्रमेयपरिपठित होते हुये भी ज्ञान-साधन होने से 'प्रमाण' है, उपलब्धिविषय होने से 'प्रमेय' है, दोनों ही विषय या साधन जब न हों तब वह 'प्रमिति' है । इस प्रकार अर्थविशेष में संज्ञा का समावेश लगा लेना चाहिए ।

इसी तरह कारक शब्द भी व्यवहृत होते हैं । जैसे—'वृक्ष खड़ा है' यहाँ वृक्ष अपनी स्थिति में स्वतन्त्र होने से 'कर्ता' है; परन्तु 'वृक्ष को देखता है'—इस वाक्य में दर्शन-

---

१. 'प्रमेयता च' इति पाठा० । शब्दोऽयं तात्पर्यटीकानुसारमत्र स्थापितः ।

२. 'बुद्धिरूपोपलब्धिसाधनत्वात्' इति पाठा० ।

कर्म। वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। 'वृक्षायोदकमासिञ्चति' इति आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति सम्प्रदानम्। वृक्षात्पर्णं पततीति 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यपादानम्। वृक्षे वयांसि सन्तीति 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यधिकरणम्। एवं च सति न द्रव्यमात्रं कारकम्, न क्रियामात्रम्, किं तर्हि ? क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम्। यत्क्रियासाधनं स्वतन्त्रः स कर्ता, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतमं कर्म, न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम्। एवं साधकतमादिष्वपि। एवं च कारकार्थान्वाख्यानं यथैव उपपत्तितः, एवं लक्षणतः कारकान्वाख्यानमपि न द्रव्यमात्रेण न क्रियया वा; किं तर्हि ? क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्त इति। कारकशब्दश्चायं प्रमाणं प्रमेयमिति, स च कारकधर्मं न हातुमर्हति ॥ १६ ॥

अस्ति भोः! कारकशब्दानां निमित्तवशात् समावेशः। प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि, उपलब्धिहेतुत्वात्; प्रमेयं चोपलब्धिविषयत्वात्। संवेद्यानि च

क्रिया से ईप्सा का विषय होने के कारण वही 'कर्म' हो गया है। इसी प्रकार 'वृक्ष से चन्द्रमा को दिखाता है' यहाँ ज्ञप्ति का साधन होने से वही वृक्ष 'करण' है। 'वृक्ष को जल सींचता है' इस वाक्य में सींचे जाने वाले जल का वृक्ष अभिप्रेत है अतः वह 'सम्प्रदान' है। 'वृक्ष से पत्ते गिरते हैं' इसमें 'ध्रुवमपायेऽपादनम्' (पा० सू० १.४.२४) इस पाणिनि के नियम से वही वृक्ष 'अपादान' है। 'वृक्ष पर पक्षी बैठे हैं' इस वाक्य में 'आधारोऽधिकरणम्' (पा० सू० ४.१.२५) इस नियम से पक्षियों का आधार बन जाने से वह 'अधिकरण' है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्रव्य या क्रिया ही कारक नहीं होते;' अपितु क्रिया (व्यापार) का साधन तथा क्रिया(व्यापार)विशेष से युक्त कारक होता है। जो स्वतन्त्र रहता हुआ क्रिया का साधन है वह 'कर्ता' कहलाता है न कि केवल द्रव्य या केवल क्रिया। इसी तरह क्रिया से ईप्सिततम कारक 'कर्म' कहलाता है, न कि केवल द्रव्य या केवल क्रिया। इसी प्रकार साधकतम (क्रिया का अत्यन्त साधक) 'करण' आदि कारकों के विषय में भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार जैसे कारक के अर्थ का अन्वाख्यान युक्ति से किया गया है उसी तरह कारकों का स्वरूपकथन भी केवल द्रव्य या क्रिया से नहीं; अपितु 'क्रिया (व्यापार) विशेष से युक्त क्रियासाधन'— ऐसा कर लेना चाहिए। यह 'कारक' शब्द प्रमाण भी है, प्रमेय भी है, यह दोनों अवस्थाओं में अपने 'कारकत्व' को नहीं छोड़ता ॥ १६ ॥

शङ्का—हम उक्त रीति से कारकों का निमित्तों के सम्बन्धों से समावेश होना मान लेते हैं। प्रकृत में—प्रत्यक्षादि उपलब्धिहेतु होने से प्रमाण हैं, उपलब्धिविषय होने से प्रमेय हैं। ये प्रत्यक्षादि संवेद्य (विभाग से जानने योग्य) भी हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्ष से जानता हूँ', 'अनुमान से जानता हूँ', 'उपमान से जानता हूँ' 'शब्द प्रमाण से जानता हूँ'—ऐसा

प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि—प्रत्यक्षेणोपलभे, अनुमानेनोपलभे, उपमानेनोपलभे, आगमेनोपलभे; प्रत्यक्षम् मे ज्ञानम्, आनुमानिकं मे ज्ञानम्, औपमानिकं मे ज्ञानम्, आगमिकं मे ज्ञानमिति विशेषा[1] गृह्यन्ते। लक्षणतश्च ज्ञाप्यमानानि ज्ञायन्ते विशेषेण—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' इत्येवमादिना।

सेयमुपलब्धिः प्रत्यक्षादिविषया किं प्रमाणान्तरतः, अथान्तरेण प्रमाणान्तरमसाधनेति ?

कश्चात्र विशेषः ?

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ? ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेनोपलभ्यन्ते ? येन प्रमाणेनोपलभ्यन्ते तत् प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यत इति अनवस्थामाह—तस्याप्यन्येन, तस्याप्यन्येनेति। न चानवस्था शक्याऽनुज्ञातुम्; अनुपपत्तेरिति ॥ १७ ॥

अस्तु तर्हि प्रमाणान्तरमन्तरेण निःसाधनेति ?

विभक्त प्रमाणरूप से प्रत्यक्षादि का ग्रहण करता है। इसी तरह 'मेरा यह ज्ञान प्रत्यक्ष से हुआ है', 'अनुमान से हुआ है', 'उपमान से हुआ है', 'आगम से हुआ है', ऐसे भेद से भी ये प्रमाण गृहीत होते हैं। ये प्रत्यक्षादि, लक्षण से जाने जाते हुए 'यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है, अतः प्रत्यक्ष है'—ऐसे अपनी विशेषताओं से पृथक् हैं।

हमारा आशय यह है कि प्रत्यक्षादि का यह उपर्युक्त ज्ञान क्या किसी प्रमाणान्तर से होता है ? या किसी प्रमाणान्तर के विना ही असाधन हैं ?

सिद्धान्ती पूछता है—यह ज्ञान तुम्हारे बताये प्रकारों में से किसी भी प्रकार से हो, विशेषता क्या आयेगी ? प्रश्नकर्ता उत्तर देता है—

यदि यह ज्ञान अन्य प्रमाण से सिद्ध होता है तो (इनसे भिन्न) प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा ? ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण से उपलब्ध होते हैं तो ये जिस प्रमाण से उपलब्ध होते हों उस प्रमाणान्तर की सत्ता माननी पड़ेगी। इससे अनवस्था यह पैदा होगी कि उस उस ज्ञान के लिये पूर्व-पूर्व प्रमाणान्तर की अनन्त कल्पनायें करनी पड़ेंगी। प्रायः अयुक्त होने के कारण इस अनवस्था का मानना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

तो दूसरा पक्ष—प्रमाणान्तर के विना ही असाधन है—यह मान लें ? पूर्वपक्षी कहता है—

---

१. 'ज्ञानविशेषाः' इति पाठा०।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ? ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्तते, आत्माद्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्स्यते, अविशेषात् ? ॥ १८ ॥

एवं च सर्वप्रमाणविलोप इत्यत आह—

न; प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वात् दृश्यदर्शने प्रमाणम्, स च प्रत्यक्षान्तरेण चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते। प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावाद् दर्शनहेतुरनुमीयते। 'तमसि प्रदीपमुपाददीथाः' इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते। एवं प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धिः।

इन्द्रियाणि तावत् स्वविषयग्रहणेनैवानुमीयन्ते। अर्थाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षास्त्वावरणेन लिङ्गेनानुमीयन्ते। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद् गृह्यते। एवं

उक्त प्रत्यक्षादि के ज्ञान में प्रमाणान्तर न मानने पर आत्मादि प्रमेय की सिद्धि में भी प्रमाणान्तर नहीं मानना पड़ेगा ? ॥ १८ ॥

यदि इस प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रमाणांन्तर निवृत्त हो जाता है तो प्रमेय (आत्मा आदि) के ज्ञान में भी प्रमाणान्तर मानने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि बात दोनों जगह बराबर है ? ॥ १८ ॥

इस तरह आपका 'सब प्रमाणों का प्रकरण' ही समाप्त हो जायेगा ? (इसका सिद्धान्ती उत्तर देते हैं—)

नहीं; प्रदीपप्रकाश की तरह उसकी सिद्धि हो जायेगी ॥ १९ ॥

जैसे—दीपक का प्रकाश प्रत्यक्ष का अङ्ग (साधन) होने से दृश्य को दिखाने में प्रमाण है, और वह प्रत्यक्षान्तर—चक्षुःसन्निकर्ष—से गृहीत होता है। तथा 'दीपक के रहते अन्धकार में दृश्य का दिखायी देना, और दीपक के न रहने पर दिखायी न देना–' इस व्यतिरेकव्याप्ति से दीपक में दर्शनहेतुत्व अनुमान प्रमाण से, तथा 'अन्धकार में दीपक का सहारा लेना चाहिये'—इस आप्तोदेश से भी सिद्ध किया जा सकता है ! अतः सिद्ध हो गया कि दीपक की तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी दर्शन के अनुसार उन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान हो जाता है।

अतीन्द्रिय इन्द्रियों का स्वविषयग्रहणरूप हेतु से अनुमान होता है, अर्थों का प्रत्यक्ष होता है, इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध आवरण हेतु से अनुमित होता है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान भी सुखादि ज्ञान की तरह आत्मनःसंयोग, तथा आत्मा के साथ समवाय (सम्बन्ध) से होता है—इस प्रकार प्रमाणविशेष का विभागपूर्वक विवेचन करना

प्रमाणविशेषौ विभज्य वचनीयः । यथा च दृश्यः सन् प्रदीपप्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुरिति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते, एवं प्रमेयं सत्किञ्चिदर्थजातमुपलब्धि-हेतुत्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थां लभते । सेयं प्रत्यक्षादिभिरेव प्रत्यक्षादीनां यथा-दर्शनमुपलब्धिर्न प्रमाणान्तरतः, न च प्रमाणमन्तरेण निःसाधनेति ।

तेनैव तस्याग्रहणमिति चेद् ? न; अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् । प्रत्यक्षा-दीनां प्रत्यक्षादिभिरेव ग्रहणमित्ययुक्तम्, अन्येन ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टमिति ? न; अर्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् । प्रत्यक्षलक्षणेनानेकोऽर्थः सङ्गृहीतः, तत्र केनचित् कस्यचिद् ग्रहणमित्यदोषः । एवमनुमानादिष्वपीति । यथा—उद्धृतेनोदकेना-शयस्थस्य ग्रहणमिति ।

ज्ञातृमनसोश्च दर्शनात् । अहं सुखी, अहं दुःखी चेति तेनैव ज्ञात्रा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते । 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१. १. १६) इति च तेनैव मनसा तस्यैवानुमानं दृश्यते, ज्ञातुर्ज्ञेयस्य चाभेदो ग्रहणस्य ग्राह्यस्य चाभेद इति ।

चाहिये । और जैसे प्रदीपप्रकाश स्वयं दृश्य होता हुआ दृश्यान्तर का दर्शनहेतु बनकर दृश्य (प्रमेय) दर्शन (प्रमाण) व्यवस्था को प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार आत्मादि (पदार्थ) भी जब स्वयं ज्ञान का विषय होता है तो 'प्रमेय', तथा जब किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान का साधन बन जाता है तो 'प्रमाण' कहलाता है । यों यह प्रत्यक्षादि का ज्ञान प्रत्यक्षादि की उपलब्धि के अनुसार गृहीत हो जाता है, इसके लिए न प्रमाणान्तर की आवश्यकता है. न प्रमाणान्तर के विना यह असाधन ही है ।

यदि यह कहें कि उसी (प्रत्यक्ष) से उस (प्रत्यक्ष) का ग्रहण नहीं होगा ? तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षादि सभी रूप अर्थ प्रत्यक्ष के साधारण लक्षण से गृहीत हैं । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षादि से प्रत्यक्षादि का ग्रहण युक्त नहीं, क्योंकि दूसरा दूसरे को देखता है—ऐसा ही लोक में देखा जाता है ? नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षादि रूप अर्थों में साधारण लक्षण समान है । उस प्रत्यक्ष के लक्षण में अनेक अर्थ संगृहीत हैं, अतः वहाँ किसी से किसी न किसी का ग्रहण हो जायेगा—अतः कोई दोष नहीं । इसी तरह अनुमानादि के विषय में भी समझना चाहिये; जैसे—जला-शय से उद्धृत जल का अनुमान होता है ।

ज्ञाता (आत्मा) तथा मन में अपने से ही अपना ज्ञान होता है । 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ'—यह उस ज्ञाता द्वारा उसका अपने विषय में ही ज्ञान देखा जाता है । 'युगपद् ज्ञान का अनुत्पाद मन की सत्ता में हेतु है' (१. १. १६) इस लक्षण से उसी मन से उस मन का अनुमान देखा जाता है । आत्मा में ज्ञाता तथा ज्ञेय का, और मन में ग्रहण व ग्राह्य का अभेद ही है, अतः वे स्व से स्व का ज्ञान करने में असमर्थ नहीं होते ।

निमित्तभेदोऽत्रेति चेत् ? समानम् । न निमित्तान्तरेण विना ज्ञाताऽऽत्मानं जानीते, न च निमित्तान्तरेण विना मनसा मनो गृह्यत इति ? समानमेतत्; प्रत्यक्षादिभिः प्रत्यक्षादीनां ग्रहणमित्यत्राप्यर्थभेदो न गृह्यत इति ।

प्रत्यक्षादीनां चाविषयस्यानुपपत्तेः । यदि स्यात् किञ्चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः—यत्प्रत्यक्षादिभिर्न शक्यं ग्रहीतुम्, तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत, तत्तु न शक्यं केनचिदुपपादयितुमिति । प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वं विषय इति ॥ १९ ॥

केचित्तु दृष्टान्तमपरिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायोपाददते—'यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते, तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरेण गृह्यते' इति ।

स चायम्—

क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनेकान्तः[1] ॥ २० ॥

यथा चायं प्रसङ्गो निवृत्तिदर्शनात् प्रमाणसाधनायोपादीयते, एवं प्रमेयसाधनायाप्युपादेयः; अविशेषहेतुत्वात् । यथा च स्थाल्यादिरूपग्रहणे

यदि कहें कि आत्मा तथा मन में तादृश ज्ञान के लिये एक सहकारिविशेष ग्राह्यग्राहकसम्बन्ध नियामक माना गया है ? तो प्रत्यक्षादि में भी बात बराबर है । तात्पर्य यह है कि यदि पूर्वपक्षी कहे कि दूसरे निमित्त के विना ज्ञाता अपने आप को कैसे जानेगा, या ज्ञानसाधनरूप अन्य निमित्त हुए विना मन स्वयं को कैसे जानेगा ? तो यह ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में भी यह बात समान ही है । 'प्रत्यक्षादिकों से प्रत्यक्षादि का ग्रहण होता है' यहाँ भी पूर्वोक्त रीति से अर्थभेद न होने पर भी अर्थ जाना ही जाता है ।

ऐसा भी सम्भव है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अगोचर विषय की सिद्धि में प्रमाणान्तर की अपेक्षा हो सकती है? नहीं, ऐसा कोई विषय नहीं है जो इन प्रमाणों में से किसी का विषय न हो । अतः, दर्शनानुसारेण सत् हो या असत् वह प्रत्यक्षादि का विषय है ही ॥ १९ ॥

कुछ विद्वान् हेतु से अपरिगृहीत दृष्टान्त को विशेष हेतु के विना साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त करते हैं, जैसे—प्रदीपप्रकाश प्रदीपान्तर के विना स्वयं दिखायी दे जाता है, उसी तरह प्रमाण भी प्रमाणान्तर के विना उपलब्ध हो सकते हैं ?

वह यह—

कहीं (प्रदीपादि में) निवृत्ति दीखने से, कहीं (पटरूपादि में) निवृत्ति न दीखने से (यह हेतु) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है ॥ २० ॥

जैसे प्रदीप के उदाहरण (दृष्टान्त) से प्रमाणान्तर के विना प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि करते हैं उसी प्रकार यह उदाहरण प्रमेय (स्थाली-आदि) की सिद्धि के समय में ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि बात उभयत्र समान है । अथ च, स्थाल्यादि का रूप जानने

---

१. क्वचिदिदं सूत्रत्वेन न लिखितम् ।

प्रदीपप्रकाशः प्रमेयसाधनायोपादीयते, एवं प्रमाणसाधनायाप्युपादेयः; विशेष-हेत्वभावात् । सोऽयं विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपादेयो न प्रतिपक्ष इत्यनेकान्तः । एकस्मिंश्च पक्षे दृष्टान्त उपादेयो न प्रतिपक्षे दृष्टान्त इत्यनेकान्तः; विशेषहेत्वभावादिति ।

विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः[1] । विशेषहेतुपरिगृहीतस्तु दृष्टान्त एकस्मिन् पक्षे उपसंह्रियमाणो न शक्योऽननुज्ञातुम् । एवं च सत्यनेकान्त इत्ययं प्रतिषेधो न भवति ।

प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरुपलब्धावनवस्थेति चेद् ? न; संविद्विषय-निमित्तानामुपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः । प्रत्यक्षेणार्थमुपलभे, अनुमानेनार्थ-मुपलभे, उपमानेनार्थमुपलभे, आगमेनार्थमुपलभे इति, प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानु-मानिकं मे ज्ञानमौपमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति—संविद्विषयं संविन्निमित्तं चोपलभमानस्य धर्मार्थसुखापवर्गप्रयोजनस्तत्प्रत्यनीकपरिवर्जन-

---

के लिए जैसे प्रदीपप्रकाश आवश्यक है, उसी प्रकार उन प्रमाणादि को जानने के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता पड़ेगी ही—इस तरह विशेष हेतु के विना ही परिगृहीत 'दृष्टान्त' एक ही पक्ष में उपादेय होता है, प्रतिपक्ष में नहीं—अतः अनैकान्तिक है । अर्थात् प्रमाणान्तर को न मानने में प्रदीपप्रकाश दृष्टान्त को लेना तथा स्थाल्यादि के रूपप्रकाश के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता में न लेना—यह इस हेतु में अनैकान्तिक दोष है; क्योंकि एक ही पक्ष का दृष्टान्त लेने में कोई विशेष हेतु नहीं है ।

यदि उपर्युक्त दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का साधक कोई विशेष हेतु स्वीकार किया जाये तो उस पक्ष के दृष्टान्त के वल पर 'उपसंहार' (चतुर्थ अवयव) के स्वीकार होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा । तात्पर्य यह है कि विशेषहेतु से परिगृहीत दृष्टान्त एक पक्ष में उपसंहृत होता है तो इसमें आपको क्या आपत्ति है ! ऐसा मान लेने से आपका उठाया 'अनैकान्तिक' वाला प्रतिषेध भी नहीं वन सकेगा ।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उन्हीं प्रत्यक्षादिकों से सिद्धि मानने से अनवस्था दोष होने लगेगा ? नहीं; क्योंकि ज्ञानविषय कारणों की उपलब्धि होने से सम्पूर्ण व्यवहार चलते देखे जाते हैं । 'प्रत्यक्ष द्वारा विषय को जानता हूँ' 'अनुमान द्वारा साध्य को जानता हूँ', 'उपमान से उपमेय को जानता हूँ' 'आगम (शब्द) द्वारा विषय को जानता हूँ'—ऐसा, या 'मेरा ज्ञान प्रत्यक्षक है' 'आनुमानिक है', औपमानिक है', 'शाब्द है'—ऐसे ज्ञान, तथा ज्ञानविषय को जानने वाले पुरुष के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए तथा

---

१. भाष्यमिदं सूत्रत्वेन क्वचिदुल्लिखितम् । प्रमाणं प्रमाणान्तरनिरपेक्षम्, प्रकाश-कत्वात्, प्रदीपवदिति विशेषहेतुपरिग्रहे सतीत्यर्थः ।

प्रयोजनश्च व्यवहार उपपद्यते। सोऽयं तावत्येव निर्वर्त्तते। न चास्ति व्यवहारान्तरमनवस्थासाधनीयम्, येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति ॥ २० ॥

प्रत्यक्षपरीक्षाप्रकरणम् [२१-३७]

प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा

सामान्येन प्रमाणानि परीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्यन्ते। तत्र—

[पूर्वपक्षः]

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २१ ॥

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति।

न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजन्यस्य गुणस्योत्पत्तिरिति, ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादात्ममनःसन्निकर्षः कारणम्। मनःसन्निकर्षानपेक्षस्य चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वे युगपदुत्पद्येरन् बुद्धय इति मनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्। तदिदं सूत्रं पुरस्तात् कृतभाष्यम्[1] ॥ २१ ॥

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २२ ॥

तद्विरुद्ध को छोड़ने के लिए किये गये समग्र व्यवहार चलते हैं। ये व्यवहार उतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। अन्य कोई व्यवहार अवशिष्ट नहीं जिसमें अनवस्था दी जा सके, या जिसके द्वारा अनवस्था का ग्रहण कर सके ॥ २० ॥

प्रमाणों की सामान्यरूप से परीक्षा की जा चुकी, अब विशेषरूप से परीक्षा कर रहे हैं। उनमें सर्वप्रथम प्रत्यक्ष के विषय में विचार करते हैं—

लक्षण पूर्ण विषयविषयक न होने से प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं बनता ॥ २१ ॥

आत्ममनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है, वह आपने प्रत्यक्ष-लक्षण में नहीं दिखाया (अतः आपका प्रत्यक्षलक्षण पूर्ण नहीं है)।

असंयुक्त द्रव्य संयोगजन्य गुण की उत्पत्ति नहीं होती; जब कि ज्ञानोत्पत्ति होती है तब आत्ममनःसन्निकर्ष से लोक में ज्ञानोत्पत्ति देखे जाने से यह भी प्रत्यक्ष का कारण है। मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखते हुए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष का कारण मानने पर अनेक ज्ञान एक साथ उत्पन्न होने लगेंगे, अतः मनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है। इस सूत्र के व्याख्यान में कथनीय विषय का विस्तृत विवेचन हम पहले (१. १. ४) कर चुके हैं ॥ २१ ॥

आत्ममनःसन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

---

१. अत्र तात्पर्यकाराः—"तदिदम् 'नात्ममनसोः सन्निकर्षा०' इत्यादि सूत्रं पाठस्य पुरस्तात् कृतभाष्यम्"—एवं व्याचक्षते, तत्तु युक्तिपूर्वकं न्यायपरिशुद्धौ खण्डितम्।

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षम्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाववदिति ॥ २२ ॥

सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् कारणभावं ब्रुवतः—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ? ॥ २३ ॥

दिगादिषु सत्सु ज्ञानभावात् तान्यपि कारणानीति ? ।

अकारणभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः; दिगादिसन्निधेरवर्जनीयत्वात् । यदाप्यकारणं दिगादीनि ज्ञानोत्पत्तौ, तदापि सत्सु दिगादिषु ज्ञानेन भवितव्यम्, न हि दिगादीनां सन्निधिः शक्यः परिवर्जयितुमिति । तत्र कारणभावे हेतुवचनम्–एतस्माद्धेतोर्दिगादोनि ज्ञानकारणानीति ।। २३ ॥

आत्ममनःसन्निकर्षस्तर्ह्युपसङ्ख्येय इति ?

[सिद्धान्तपक्षः]

तत्रेदमुच्यते—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः[1] ॥ २४ ॥

आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष के विना प्रमेय का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के विना उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; अतः आत्ममनःसन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष में कारण है ॥ २२ ॥

[मध्यस्थ पुरुष पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती, दोनों को आपत्ति दे रहा है—] इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की सत्ता से ज्ञान (प्रत्यक्ष) की उत्पत्ति देखी जाने से उक्त सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का कारण बतलानेवाले के मत में—

दिशा देश, काल, आकाश में भी यही प्रसङ्ग होने लगेगा ॥ २३ ॥

प्रत्यक्ष के समय दिशा-आदि भी रहते हैं तो इन्हें भी प्रत्यक्ष का कारण मान लिया जाये ?

[मध्यस्थ पुरुष को इस आपत्ति का भाष्यकार परिहार करते हैं—] यदि उक्त दिशा-आदि को ज्ञान का कारण न मानें तो भी उनके सामीप्य को हटाना दुःशक है अर्थात् उनको कारण मानने या न मानने पर भी ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व वे रहते ही हैं, अतः उनका सामीप्य निराकृत करना असम्भव है। उनका कारणत्व सिद्ध करने के लिए आप (मध्यस्थ) को कोई हेतु दिखाना चाहिये कि इस हेतु से वे दिगादिक प्रत्यक्ष में कारण हैं ॥ २३ ॥

[पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछता है—] तो प्रत्यक्षलक्षण में 'आत्ममनःसन्निकर्ष' का उपसङ्ख्यान कर देना चाहिये ?

सिद्धान्ती उत्तर देता है—

आत्मा की ज्ञानरूप हेतु से सिद्धि होने के कारण (प्रत्यक्ष-लक्षण में) उसका असंग्रह नहीं है ॥ २४ ॥

---

१. 'नाऽवरोधः' इति, 'नानवबोधः' इति च पाठ० ।

ज्ञानमात्मलिङ्गम्; तद्गुणत्वात्। न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति ॥ २४ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २५ ॥

अनवरोध इति वर्त्तते। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१. १. १६) इत्युच्यमाने सिद्ध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो ज्ञानकारणमिति ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्तमात्ममनःसन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानः, असमानत्वात् तस्य ग्रहणम् ॥ २६ ॥

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ २७ ॥

आत्मा का गुण होने से ज्ञान उसका (साधक) है। असंयुक्त द्रव्य में संयोजक गुण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। अतः प्रत्यक्षलक्षण में ज्ञान का निवेश होने से आत्ममनः-सन्निकर्ष भी उसमें आ जाता है, पृथक्पाठ की कोई आवश्यकता नहीं ॥ २४ ॥

और अनेक ज्ञान के एक काल में न होने का साधक होने से मन का भी (प्रत्यक्ष-लक्षण में असंग्रह) नहीं (है) ॥ २५ ॥

ऊपर (२४वें सूत्र) से 'अनवरोधः' की अनुवृत्ति आ रही है। 'एक साथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति ही मन की सत्ता में हेतु है' (१. १. १६)—ऐसा जब हम कह चुके तो उसी से यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रत्यक्ष भी मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा रखता है ॥ २५ ॥

[यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि उक्त प्रकार से आत्मा तथा मन का प्रत्यक्षलक्षण में समावेश हो सकता है तो इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षण में कारण होने से आत्ममनस्क सन्निकर्ष की तरह ग्रहण हो सकता था, फिर उसका प्रत्यक्षलक्षण में शब्दतः ग्रहण क्यों किया ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—]

एकमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होने से इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष को शब्दतः (नामग्रहणपूर्वक) लक्षण में पढ़ा गया है ॥ २६ ॥

आत्ममनःसन्निकर्ष तो सामान्यतः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द—चारों ही प्रमाणों के सहकारी कारण हैं; परन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्ष में ही कारण है—यह विशेषता है। अतः उसका कण्ठतः शब्दपूर्वक ग्रहण किया गया है ॥ २६ ॥

[सूत्रकार कण्ठतः ग्रहण में एक कारण और बतला रहे हैं—]

सोये हुए तथा किसी एक विषय में आसक्त मन वाले पुरुषों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष में निमित्त कारणत्व होने से भी ॥ २७ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति। एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते। यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ प्रबोधकारणं भवतः, तदा प्रसुप्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते, तत्र न ज्ञातुर्मनसश्च सन्निकर्षस्य प्राधान्यं भवति, किं तर्हि ? इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य। न ह्यात्मा जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनस्तदा प्रेरयतीति।

एकदा खल्वयं विषयान्तरासक्तमनाः सङ्कल्पवशाद्विषयान्तरं जिज्ञासमानः प्रयत्नप्रेरितेन मनसा इन्द्रियं संयोज्य तद्विषयान्तरं जानीते। यदा तु खल्वस्य निःसङ्कल्पस्य निर्जिज्ञासस्य च व्यासक्तमनसो बाह्यविषयोपनिपातनाज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यम्। न ह्यत्रासौ जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनः प्रेरयतीति। प्राधान्याच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यम्, गुणत्वाद् नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति ॥ २७ ॥

प्राधान्ये च हेत्वन्तरम्—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ग्रहण है, आत्ममनःसन्निकर्ष का नहीं। कोई पुरुष 'मैं अमुक समय पुनः जग जाऊँगा'—ऐसा निश्चय करके सो जाता है, तो उस निश्चय के अनुसार जग जाता है। परन्तु जब कोई तीव्र शब्द या किसी वस्तु का स्पर्श जगने में कारण बन जायें तो उस सोये हुए को बीच में इन्द्रियसन्निकर्षहेतुक प्रबोध ज्ञान हो जाता है। उक्त प्रबोध ज्ञान में आत्मा या मन का सन्निकर्ष प्रधान (मुख्य) नहीं हैं; अपितु इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही प्राधान्य है; क्योंकि उस समय आत्मा किसी जिज्ञासा से प्रयत्नपूर्वक मन को कोई प्रेरणा नहीं करता।

इसी प्रकार कभी आत्मा किसी समय किसी दूसरे विषय में चित्त के आसक्त होने पर भी संकल्पवश अन्य विषय की जिज्ञासा करता हुआ मन को इन्द्रिय से लगा कर विषयन्तर जान लेता है; परन्तु यही निःसङ्कल्प रहे या कोई जिज्ञासा न करे तथा अन्य विषय में आसक्त हो तो उस समय भी बाह्य विषय का जो अकस्मात् ज्ञान होता है— उसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधान होता है, न कि आत्ममनःसन्निकर्ष; क्योंकि इसमें भी आत्मा कोई प्रयत्न करके मन को प्रेरणा नहीं करता।

इस प्रकार उक्त प्रत्यक्षलक्षण में मुख्य होने के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही ग्रहण करना चाहिये, न कि गौण आत्ममनःसन्निकर्ष का ॥ २७ ॥

इस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के मुख्य होने में एक और कारण है—

ज्ञानविशेषों (चाक्षुष, घ्राणज आदि विभिन्न प्रत्यक्षज्ञानों) का उन्हीं इन्द्रियों से व्यवहार होता हैं ॥ २८ ॥

तैरिन्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः। कथम्? घ्राणेन जिघ्रति, चक्षुषा पश्यति, रसनया रसयतीति; घ्राणविज्ञानं चक्षुर्विज्ञानं रसनविज्ञानं गन्धविज्ञानं रूपविज्ञानं रसविज्ञानमिति च। इन्द्रियविषयविशेषाच्च पञ्चधा बुद्धिर्भवति। अतः प्राधान्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येति ॥ २८ ॥

यदुक्तम्—'इन्द्रियार्थन्निसकर्षग्रहणं कार्यम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति, कस्मात्? सुप्तव्यासक्तमनसामिन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य ज्ञाननिमित्तत्वात्' इति, सोऽयम्—

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २९ ॥

यदि तावत् क्वचिदात्मनसोः सन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं नेष्यते? तदा 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (१. १. १६) इति व्याहन्येत। नेदानीं मनसः सन्निकर्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षते। मनःसंयोगानपेक्षायां च युगपद् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ मा भूद् व्याघात इति सर्वविज्ञानानामात्ममनसोः सन्निकर्षः कारणमिष्यते? तदवस्थमेवेदं भवति—'ज्ञानकारणत्वादात्ममनसोः सन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यम्' इति ॥ २९ ॥

उन उन इन्द्रिय तथा अर्थों से वे वे ज्ञान व्यवहृत होते हैं। जैसे—नाक से सूंघता है, आँख से देखता है, जिह्वा से चखता है; या यह नाक से प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान है, यह आँख से हुआ ज्ञान है, यह घ्राणेन्द्रिय से उत्पन्न गन्ध का ज्ञान है, यह चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न रूप का ज्ञान है और यह जिह्वेन्द्रिय से उत्पन्न रस का ज्ञान है आदि। इन्द्रिय तथा उनके विषयों के भेद से यह ज्ञान पाँच प्रकार का है। अस्तु। इस लिये भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्रधान होने से प्रत्यक्षलक्षण में इस 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का शब्दतः ग्रहण हुआ है ॥ २८ ॥

पूर्वपक्ष—यह जो कहा था कि 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ही प्रत्यक्षलक्षण में लेना चाहिये, आत्ममनःसन्निकर्ष को नहीं; क्योंकि सुप्त तथा व्यासक्तमना पुरुषों के आकस्मिक ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधानतया कारण है'—यह हेतु

विरोधी होने के कारण असद्धेतु है? ॥ २९ ॥

क्योंकि यदि आत्ममनःसन्निकर्ष को कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण न मानोगे तो 'युगपज्ज्ञानानुत्पाद ही मन की सत्ता में हेतु है' (१.१.१६)—यह वचन-भंग हो जायेगा; क्योंकि सुप्त-व्यासक्तमना पुरुषों का इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रखता। यदि यह ज्ञान मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखेगा तो फिर युगपद् अनेक ज्ञान भी उत्पन्न होने लगेंगे। और यदि, उक्त वचनभङ्ग न हो, इसलिए सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों में आत्ममनःसन्निकर्ष मानोगे तो फिर वही बात मान लेनी होगी कि ज्ञानकारण होने से आत्ममनःसन्निकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षण में ग्रहण करना चाहिए? ॥ २९ ॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३० ॥

नास्ति व्याघातः, न ह्यात्ममनःसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं व्यभिचरति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यमुपादीयते ; अर्थविशेषप्राबल्याद्धि सुप्तव्यासक्तमनसां ज्ञानोत्पत्तिरेकदा भवति। अर्थविशेषः = कश्चिदेवेन्द्रियार्थः, तस्य प्राबल्यम् = तीव्रता-पटुते। तच्चार्थविशेषप्राबल्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयम्, नात्ममनसोः सन्निकर्षविषयम्। तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रधानमिति।

असति प्रणिधाने, सङ्कल्पे चासति, सुप्तव्यासक्तमनसां यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं तत्र मनःसंयोगोऽपि कारणमिति मनसि क्रियाकारणं वाच्यमिति ?

यथैव ज्ञातुः खल्वयमिच्छाजनितः प्रग्रहो[1] मनसः प्रेरक आत्मगुणः, एवमात्मनि गुणान्तरं सर्वस्य साधकं प्रवृत्तिदोषजनितमस्ति, येन प्रेरितं मन इन्द्रियेण सम्बध्यते। तेन ह्यप्रेर्यमाणे मनसि संयोगाभावाद् ज्ञानानुत्पत्तौ सर्वार्थताऽस्य निवर्त्तते। एषितव्यं चास्य गुणान्तरस्य द्रव्यगुणकर्मकारणत्वम्;

उत्तरपक्ष—

किसी इन्द्रियविशेष के प्रबल होने से (वचनव्याघात नहीं है) ॥ ३० ॥

वचनव्याघात नहीं है, अर्थात् आत्ममनःसनिकर्ष का ज्ञानकारणत्व व्यभिचरित नहीं होता। हम तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कारण को प्रत्यक्षज्ञान में प्रधानतामात्र दे रहे हैं; क्योंकि सुप्त या व्यासक्तमना पुरुषों को अर्थविशेष के प्राधान्य से उस-उस समय में वैसा-वैसा ज्ञानोत्पाद हो जाता है। अर्थविशेष से तात्पर्य है कोई खास इन्द्रियार्थ, उसका प्रावल्य अर्थात् तीव्रता या पटुता। यह अर्थविशेष की प्रवलता इन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयक ही है, न कि आत्ममनःसन्निकर्पविषयक। अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रत्यक्षज्ञान में प्रधान है।

शङ्का—इच्छा तथा सङ्कल्प के न रहने पर सुप्त तथा व्यासक्तमना पुरुषों का जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ मनःसंयोग भी कारण है तो उस संयोग को उत्पन्न करनेवाली मनःक्रिया किस कारण से होती है—यह वताना चाहिये ?

उत्तर—जैसे आत्मा (ज्ञाता) का इच्छाजनित प्रयत्न मन का प्रेरक है, उसी प्रकार आत्मा में एक और (अदृष्ट) गुण है जो कि समग्र भोग तथा उनके साधनों का जनक है, तथा पूर्वोक्त (१.१.१७-१८) प्रवृत्ति तथा दोष से जनित है, इसकी प्रेरणा से मन इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है। वह अदृष्ट आत्मगुण यदि मन को प्रेरणा न करे तो संयोग न होने से ज्ञानोत्पत्ति न हो सकने से इसकी सर्वार्थता (सब कार्यों का कारण होना) निवृत्त हो जाती है; अदृष्ट गुण को द्रव्य, गुण तथा कर्मों का कारण मानना भी आवश्यक है; अन्यथा पृथ्वी-आदि चार भूतों के मूल कारण अणु सूक्ष्म

---

१. 'प्रयत्नः' इति पाठा०।

अन्यथा हि चतुर्विधानामणूनां भूतसूक्ष्माणां मनसां च ततोऽन्यस्य क्रियाहेतोरसम्भवात् शरीरेन्द्रियविषयाणामनुत्पत्तिप्रसङ्गः ॥ ३० ॥

विषयपरीक्षा

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ? ॥ ३१ ॥

यदिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानम् 'वृक्ष' इति एतत् किल प्रत्यक्षम्, तत् खल्वनुमानमेव। कस्मात् ? एकदेशग्रहणात् वृक्षस्योपलब्धेः। अर्वाग्भागमयं गृहीत्वा वृक्षमुपलभते; न चैकदेशो वृक्षः। तत्र यथा धूमं गृहीत्वा वह्निमनुमिनोति तादृगेव तद् भवति ? ॥ ३१ ॥

किं पुनर्गृह्यमाणादेकदेशाद् अर्थान्तरमनुमेयं मन्यसे ! अवयवसमूहपक्षे अवयवान्तराणि, द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे तानि चावयवी चेति ? अवयवसमूहपक्षे तावदेकदेशग्रहणाद् वृक्षबुद्धेरभावः, नागृह्यमाणमेकदेशान्तरं वृक्षो गृह्य-

---

भूत तथा इस मन में अदृष्ट गुण को छोड़कर अन्य कोई क्रियोत्पादक कारण न होने से शरीर, इन्द्रिय तथा विषयों की उत्पत्ति ही नहीं वनेगी—यह एक नयी वाधा आ खड़ी होगी ! ॥ ३० ॥

[इस प्रकार प्रत्यक्षलक्षण के स्वरूप की परीक्षा करने के वाद उसके विषय की परीक्षा प्रारम्भ की जा रही है—]

प्रत्यक्ष अनुमान ही है, क्योंकि अवयवी का एकदेश के ग्रहण से ज्ञान होता है ? ॥ ३१ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न 'वृक्ष' यह प्रत्यक्ष ज्ञान एक तरह से अनुमान ही है; क्योंकि यह वृक्ष के एक भाग (कुछ अवयवों) का ग्रहण करके ही हो जाता है। वृक्ष के अगले हिस्से को देखकर यह वृक्ष का ज्ञान कर लेता है, परन्तु अगला हिस्सा ही तो वृक्ष नहीं है ! वहाँ (अनुमान में) जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है, वही स्थिति यहाँ (वृक्ष के प्रत्यक्ष में) भी है। इस प्रकार 'प्रत्यक्षादि चार प्रमाण हैं' सिद्धान्ती की यह प्रतिज्ञा नष्ट हो गयी ? ॥ ३१ ॥

सिद्धान्ती पूछता है कि आप चक्षुःसन्निकर्ष से ज्ञायमान वृक्ष के अग्रभाग से अनुमान करने योग्य दूसरा क्या पदार्थ मानते हैं ?

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँ हमें दो विप्रतिपत्तियाँ हैं—१. 'अवयवी अवयवों से पृथक् नहीं हैं' इस अवयवसमूहपक्ष में अन्य अवयवों (जो दिखायी नहीं दिये थे) का अनुमान करते हैं, तथा २. 'अवयवों से कोई अवयवी नामक अर्थान्तर ही उत्पन्न होता है'—इस द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्ष में अवशिष्ट अवयवों तथा अवयवी का अनुमान करते हैं?

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है—अवयवसमूहपक्ष में, एकदेश (अग्रभाग) के ग्रहण से 'यह वृक्ष है' ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती; इसी प्रकार, गृह्यमाण एकदेश की तरह

माणैकदेशवदिति । अथ एकदेशग्रहणादेकदेशान्तरानुमाने समुदायप्रतिसन्धानात् तत्र वृक्षबुद्धिः ? न तर्हि वृक्षबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति । द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयः, अस्यैकदेशसम्बद्धस्याग्रहणात्, ग्रहणे चाविशेषादनुमेयत्वाभावः । तस्माद् वृक्षबुद्धिरनुमानं न भवति ।

एकदेशग्रहणमाश्रित्य प्रत्यक्षस्यानुमानत्वमुपपाद्यते । तच्च—

न; प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३२ ॥

न प्रत्यक्षमनुमानम् । कस्मात् ? प्रत्यक्षेणैवोपलम्भात् । यत् तदेकदेशग्रहणमाश्रीयते, प्रत्यक्षेणासावुपलम्भः । न चोपलम्भो निर्विषयोऽस्ति । यावच्चार्थजातं तस्य विषयः, तावदभ्यनुज्ञायमानं प्रत्यक्षव्यवस्थापकं भवति ।

किं पुनस्ततोऽन्यदर्थजातम् ? अवयवी, समुदायो वा । न चैकदेशग्रहणमनुमानं भावयितुं शक्यम्; हेत्वभावादिति ।

अन्यथापि च प्रत्यक्षस्य नानुमानत्वप्रसङ्गः; तत्पूर्वकत्वात् । प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं सम्बद्धावग्निधूमौ प्रत्यक्षतो दृष्टवतो धूमप्रत्यक्षदर्शनादग्नावनुमानं भवति । तत्र यच्च सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षम्, यच्च लिङ्गमात्रप्रत्यक्ष-

---

अगृह्यमाण एकदेश (अवशिष्ट अवयव) भी वृक्ष नहीं है, तव तो 'यह वृक्ष है' इस बुद्धि का ही अपलाप होने लगेगा ! यदि यह कहो कि एकदेश के ग्रहण से अवशिष्ट एकदेश का अनुमान करके समूहप्रतिसन्धान से 'यह वृक्ष है'—ऐसी बुद्धि हो सकती है ? हम कहते हैं कि तत्र भी 'यह वृक्ष है'—ऐसी बुद्धि कैसे बनेगी; क्योंकि तुमने अवयवान्तरों का ही अनुमान किया है, वृक्ष का तो अनुमान किया नहीं ! द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्ष में भी—अवयवान्तरसम्बद्ध होकर अवयवी कैसे गृहीत होगा ? यदि होता है तो दृश्यमान अवयव से सम्बद्ध होकर अवयवी का प्रत्यक्ष हो गया, तव वह अनुमेय नहीं होगा !

एकदेश का ग्रहण होकर वृक्षप्रत्यक्ष का अनुमान में अन्तर्भाव करना उचित—

नहीं; क्योंकि उस अवशिष्ट एकदेश का ग्रहण भी प्रत्यक्ष से ही होता है ।। ३२ ।।

प्रत्यक्ष अनुमान में अन्तर्भूत नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वपक्षी द्वारा गृहीत उस वृक्ष के अवशिष्ट एकदेश का भी प्रत्यक्ष होता है । जिसके एकदेश का ग्रहण आधार माना जाता है वह भी प्रत्यक्षविषय है । ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो विषय-रहित हो; क्योंकि जितने अग्रभाग के साथ अर्थसमुदाय विषय होंगे वे सब प्रत्यक्ष-व्यवस्थापक हैं—ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष भी सिद्ध हो जाता है ।

दृश्यमान अवयवों से भिन्न इस अवशिष्ट अर्थसमूह को आप क्या मानते है ? अवयवी, या समुदाय ! तव हेतु के न रहते उस एकदेश का ग्रहण अनुमान से कैसे होगा !

एक दूसरी युक्ति भी प्रत्यक्ष के अनुमानान्तर्भाव की बाधिका है, वह है–तत्पूर्वकत्व । अर्थात् अनुमान तो स्वयं प्रत्यक्षपूर्वक होता है, उसमें प्रत्यक्ष का अन्तर्भाव कैसे हो पावेगा !

ग्रहणम्, नैतदन्तरेणानुमानस्य प्रवृत्तिरस्ति। नत्वेतदनुमानम्; इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्। न चानुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति। सोऽयं प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदो महानाश्रयितव्य इति ॥ ३२ ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्[1] ॥ ३३ ॥

न चैकदेशोपलब्धिमात्रम्। किं तर्हि? एकदेशोपलब्धिः, तत्सहचरितावयव्युपलब्धिश्च। कस्मात्? अवयविसद्भावात्। अस्ति ह्ययमेकदेशव्यतिरिक्तोऽवयवी, तस्यावयवस्थानस्योपलब्धिकारणप्राप्तस्यैकदेशोपलब्धावनुपलब्धिरनुपपन्नेति।

अकृत्स्नग्रहणादिति चेद्, न; कारणतोऽन्यस्यैकदेशस्याभावात्। न चावयवाः

पहले कभी धूम-अग्नि को एक साथ प्रत्यक्ष देखने वाले को ही अब धूम के प्रत्यक्षदर्शन से अग्नि का अनुमान हो पाता है। अन्यथा अनुमान की इस पूरी प्रक्रिया में सम्बद्ध लिङ्ग (धूम) तथा लिङ्गी (वह्नि) का पहले प्रत्यक्ष, तथा अनुमानकाल में लिङ्गदर्शन के विना अनुमान की प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसे आप अनुमान तो कह नहीं सकते; क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ही है। अनुमेय (वह्नि) का यदि इन्द्रियसन्निकर्ष हो जाये तो वह अनुमान क्यों कर होगा ! यह अनुमान और प्रत्यक्ष का सबसे बड़ा भेद है—इसे प्रत्येक जिज्ञासु को समझे रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

[नैयायिकों के मत से घटावयवों से भिन्न एक अलग घटादि अवयवी होता है, परन्तु बौद्धों के मत में यह अवयवी कोई पृथक् प्रमेय नहीं है, अपितु वह परमाणुरूप अवयवसमूह ही है। बौद्धों के मत में परमाणुरूप कतिपय अवयवों का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु नैयायिकों के मत में अवयवी का भी होता है। अतः बौद्धों का आक्षेप है कि घटादि अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसका समाधान कर रहे हैं—]

एकदेश का ही प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु उसके साथ अवयवी का भी प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि वहाँ अवयवी भी रहता है ॥ ३३ ॥

एकदेश (अवयव) मात्र का ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; अपितु एकदेश के ज्ञान के साथ तत्सहचरित अवयवी का भी ज्ञान हो जाता है। कैसे ? क्योंकि उस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के समय अवयव के साथ उस अवयवी की भी सत्ता रहती है। यद्यपि यह अवयवी अपने उस अवयव से पृथक् है, परन्तु जब वह अवयवसंस्थानविशेष के रूप में में उपलब्धि-कारण हो तब एकदेश की उपलब्धि के समय कारण बन कर प्रत्यक्षज्ञान करा देगा तो वहीं मौजूद अवयवी का ज्ञान न हो—यह कैसे हो सकेगा !

यदि कहो कि एकदेश का ग्रहण होने से वह नहीं दिखायी देगा ? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि समवायिकारण को छोड़कर दूसरा एकदेश पृथक् नहीं है। पूर्वपक्षी कहता है कि

---

१. इदं न सूत्रं किन्तु भाष्यमेवेति केचित्। केचित्पुनरवयविसद्भावादित्येव सूत्रमिति वदन्ति।

कृत्स्ना गृह्यन्ते, अवयवैरेवावयवान्तरव्यवधानाद्; नावयवी कृत्स्नो गृह्यते इति, नायं गृह्यमाणेष्ववयवेषु परिसमाप्त इति सेयमेकदेशोपलब्धिरनिवृत्तैवेति? कृत्स्नमिति वै खल्वशेषतायां सत्यां भवति, अकृत्स्नमिति शेषे सति। तच्चैततदवयवेषु बहुष्वस्ति, अव्यवधाने ग्रहणाद् व्यवधाने चाग्रहणादिति।

अङ्ग तु भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्—गृह्यमाणस्यावयविनः किमगृहीतं मन्यते, येनैकदेशोपलब्धिः स्यादिति; न ह्यस्य कारणेभ्योऽन्ये एकदेशा भवन्तीति तत्रावयववृत्तं नोपपद्यत इति! इदं तस्य वृत्तम्—येषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणम्, अवयवानां तैः सह गृह्यते, येषामवयवानां व्यवधानाद् ग्रहणं तैः सह न गृह्यते। न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति।

समुदाय्यशेषता वा समुदायो वृक्षः स्यात्, तत्प्राप्तिर्वा; उभयथा ग्रहणाभावः। मूलस्कन्धशाखापलाशादीनामशेषता वा समुदायो वृक्ष इति स्यात्, प्राप्तिर्वा समुदायिनामिति, उभयथा समुदायभूतस्य वृक्षस्य ग्रहणं नोपपद्यते

सम्पूर्ण अवयवों का उस समय ग्रहण नहीं होता; क्योंकि पृष्ठभाग के अवयव अग्रभाग के अवयवों से व्यवहित हैं—इसलिये समग्र अवयवी भी गृहीत नहीं होता, तथा गृह्यमाण अवयवों में अवयवी पर्याप्त नहीं है, अतः एकदेशोपलब्धि में अवयव्युपलब्धि कैसे होगी? उत्तर है—'कृत्स्न'—ऐसा कथन तभी बन सकता है, जब कोई शेष न बचे; 'अकृत्स्न'—ऐसा भी तब कहते हैं, जब कोई शेष बच जाये। यह 'कृत्स्न' या अकृत्स्न' व्यवहार अनेक अवयवों के होने पर ही हो सकता है। तब जिन अवयवों में व्यवधान होता है, उनका ग्रहण नहीं हो पाता, अव्यवहितों का प्रत्यक्ष हो जाता है।

अवयवी को कृत्स्न या अकृत्स्न कैसे कहा जा सकता है?—पूछने पर, पूर्वपक्षी सम्भवतः यह भी कहने लगे कि ज्ञायमान वृक्षावयवी का क्या नहीं जाना गया मानते हो, जिससे मदुक्त एकदेशोपलब्धि बन सके; वृक्षावयवी का समवायिकारण शाखा, पत्र, मूल से अतिरिक्त कोई एकदेश नहीं होता, जिससे उसमें अवयवस्वभाव उपपन्न नहीं होता! परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन अयुक्त है; क्योंकि उस अवयवी का यह स्वभाव है कि जिन अवयवों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष व्यवधान होने से न हो उनके साथ वह गृहीत नहीं होता, तथा अव्यवहितों के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष से वह गृहीत हो जाता है। इतनी बात को लेकर वस्तुतः कोई भेद नहीं बनता।

[अब भाष्यकार 'परमाणुरूप अवयवसमूह ही अवयवी (वृक्ष) होता है' इस बौद्धमत का खण्डन कर रहे हैं—] समुदायवाले परमाणुओं की अशेषता (सम्पूर्णता) ही अवयवसमुदाय वृक्ष हो, या उन अवयवों का संयोग—उभयथा ही वृक्षबुद्धि का ग्रहण नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि मूल, स्कन्ध शाखा पत्र-आदि अवयवों की समग्रता को ही

इति। अवयवैस्तावदयवयवान्तरस्य व्यवधानादशेषग्रहणं नोपपद्यते। प्राप्तिग्रहणमपि नोपपद्यते; प्राप्तिमतामग्रहणात्। सेयमेकदेशग्रहणसहचरिता वृक्षबुद्धिर्द्रव्यान्तरोत्पत्तौ कल्पते, न समुदायमात्रे इति ॥ ३३ ॥

प्रसङ्गोपात्ता अवयविपरीक्षा

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ? ॥ ३४ ॥

यदुक्तम्—'अवयविसद्भावात्' इति, अयमहेतुः; साध्यत्वात्। साध्यं तावत्—एतत्कारणेभ्यो द्रव्यान्तरमुत्पद्यते इति, अनुपपादितमेतत्। एवं च सति विप्रतिपत्तिमात्रं भवति, विप्रतिपत्तेश्चावयविनि संशय इति ? ॥ ३४ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३५ ॥

यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं[1] नोपपद्यते। किं तत् सर्वम् ? द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। कथं कृत्वा ? परमाणुसमवस्थानं तावद् दर्शनविषयो न भवति, अतीन्द्रियत्वादणूनाम्। द्रव्यान्तरं चावयविभूतं दर्शनविषयो नास्ति, दर्शनविषयस्थाश्चेमे द्रव्यादयो गृह्यन्ते, ते निरधिष्ठाना न गृह्येरन्! गृह्यन्ते तु—

समुदायरूप से वृक्ष मानें या उन समुदायियों की परस्पर प्राप्ति (संयोग) मानें, दोनों ही नयों में समुदायभूत (अवयवी) वृक्ष का ग्रहण नहीं हो पायेगा; क्योंकि अवयवों से अवयवान्तर का व्यवधान होने के कारण ग्रहण नहीं वन सकेगा। अवयवों के परस्पर संयोग से भी ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि संयोगवाले अवयवों में यह ग्रहण नहीं होता, अतः यह एकदेशग्रहण के साथ होनेवाली 'यह वृक्ष है' ऐसी बुद्धि द्रव्यान्तरोत्पत्ति मानने पर तो वन सकती है, अवयवों का समुदायमात्र मानने पर नहीं बनेगी ॥ ३३ ॥

साध्य होने से अवयवों से भिन्न अवयवी में संशय है ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त ३३ वें सूत्र में एकदेशोपलब्धि न होने में 'अवयवसिद्भाव' हेतु दिया गया था, यह हेतु साध्य है। अर्थात् प्रमाणों से यह सिद्ध करना चाहिये कि 'इन कारणों से द्रव्यान्तर उत्पन्न होता है'। क्योंकि यह सिद्ध नहीं किया गया, अतः अयुक्त है। इस तरह उक्त हेतु में विप्रतिपत्ति होने लगेगी, तथा विप्रतिपत्ति से अवयवी में संशय होगा ॥३४॥

और अवयवी की सिद्धि न होने से सम्पूर्ण का ग्रहण न होगा ॥ ३५ ॥

यदि अवयवी सिद्ध न होगा तो सम्पूर्ण का ग्रहण न होगा। वह सम्पूर्ण क्या है ? द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। क्यों ऐसा होगा ? परमाणु का परस्परसंयोग प्रत्यक्ष का विषय नहीं हुआ करता; क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं। यदि उन्हें अवयवी मानें तो तुम्हारे मत से द्रव्यान्तर कह कर कोई अवयवी नहीं है। द्रव्यादि तो दर्शनविषय (अवयवी) में ही रहते हैं, अवयवी के न रहने पर वे निरधिष्ठान होते हुए प्रत्यक्ष कैसे होंगे ! लोक में अवयवी वृत्ति के लिये यह व्यवहार देखा जाता है—यह घट

१. अवयव्यसिद्धेः प्रत्यक्षाभावः, प्रत्यक्षाभावेऽनुमाद्यभावः इति सर्वप्रमाणाग्रहणमिति वार्तिकेऽर्थान्तरमपि व्याख्यातम्।

'कुम्भोऽयं श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दते अस्ति मृन्मयश्च' इति । सन्ति चेमे गुणादयो धर्मा इति । तेन सर्वस्य ग्रहणात् पश्यामः-अस्ति द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति ॥ ३५ ॥

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अवयव्यर्थान्तरभूत इति ।

संग्रहकारिते वै धारणाऽऽकर्षणे । संग्रहो नाम संयोगसहचरितं गुणान्तरं स्नेहद्रवत्वकारितमपां संयोगादामे कुम्भे, अग्निसंयोगात् पक्वे । यदि त्ववयविकारिते अभविष्यताम्, पांशुराशिप्रभृतिष्वप्यज्ञास्येताम्; द्रव्यान्तरानुत्पत्तौ च तृणोपलकाष्ठादिषु जतुसंगृहीतेष्वपि नाभविष्यतामिति ?

अथावयविनं प्रत्याचक्षाणको 'मा भूत् प्रत्यक्षलोपः' इत्यणुसञ्चयं दर्शनविषयं प्रतिजानानः किमनुयोक्तव्य इति ?

एकमिदं द्रव्यमित्येकबुद्धेर्विषयं पर्यनुयोज्यः । किमेकबुद्धिरभिन्नार्थविषयेति ?

काला है, एक है, बड़ा है, द्रव्यान्तर से संयुक्त है, इसमें चेष्टा है, इसकी सत्ता है, यह मृन्मय है'—इत्यादि । (अवयवों के वारे में ऐसा कोई व्यवहार नहीं देखते ।) ये गुणादि धर्म भी उस अवयवी (घट द्रव्य) में हैं, (न कि अवयवसमूह में) ! अतः इस 'सम्पूर्ण' के ग्रहण से हम मानते हैं कि अवयवी अवयवसमूह से पृथक् है ॥ ३५ ॥

तभी उसमें धारणा तथा आकर्षण भी बनेंगे ॥ ३६ ॥

धारण (इकट्ठा पकड़कर उठाना), आकर्षण (इकट्ठा खींचना) की उपपत्ति से भी अवयवी द्रव्यान्तर सिद्ध होता है । अर्थात् यह दृश्यमान घटादि अवयवी अवयवों से पृथक् नहीं है, अन्यथा इसमें धारण तथा आकर्षण नहीं बनेंगे ।

शङ्का—धारण तथा आकर्षण अवयवों के संग्रह होते हैं, संग्रह से तात्पर्य है—संयोग-सहचार से गुणान्तर का आ जाना, जैसे कच्चे घड़े में जल के संयोग से स्नेहद्रवत्व-प्रयुक्त गुणान्तर है तथा अग्नि के संयोग से पक्के घड़े में गुणान्तर । यदि ये कार्य (धारण, आकर्षण) अवयवी के कारण होते तो पांशुराशि (धूलिसमूह) में भी दिखायी देने चाहियें । अथच, द्रव्यान्तर की अनुत्पत्ति में ये न होते तो तृण, उपल, काष्ठ-आदि में या लाक्षा से संगृहीत मोती आदि में ये धारण-आकर्षण नहीं होने चाहियें; क्योंकि सिद्धान्ती के मत में भी वहाँ कोई अवयवी द्रव्यान्तर नहीं है ?

मध्यस्थ की शङ्का—अवयवी का खण्डन करनेवाले पूर्वपक्षी (बौद्ध) को—जो कि प्रत्यक्षप्रमाण का लोप न हो जाये, इसलिए विवशतः परमाणुसमूह में ही प्रत्यक्ष की स्थापना कर रहा है, क्या उत्तर देना चाहिए ?

उत्तर—'यह एक द्रव्य है'—यहाँ एकबुद्धि का विषय क्या होगा ? यह उससे

आहोस्वित् भिन्नार्थविषयेति ? अभिन्नार्थविषयेति चेद्, अर्थान्तरानुज्ञानादवयविसिद्धिः । नानार्थविषयेति चेद्, भिन्नेष्वेकदर्शनानुपपत्तिः । अनेकस्मिन्नेक इति व्याहता बुद्धिर्न दृश्यत इति ॥ ३६ ॥

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३७ ॥

यथा सेनाङ्गेषु वनाङ्गेषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिः, एवमणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिरिति ? यथा गृह्यमाणपृथक्त्वानां सेनावनाङ्गानामारात् कारणान्तरतः पृथक्त्वस्याग्रहणम्, यथा गृह्यमाणजातीनाम् 'पलाश इति वा', 'खदिर इति वा' नाराज्जातिग्रहणं भवति, यथा गृह्यमाणप्रस्पन्दानां नारात् स्पन्दग्रहणम्, गृह्यमाणे चार्थजाते पृथक्त्वस्याग्रहणादेकमिति भाक्तः प्रत्ययो भवति; न त्वणूनामगृह्यमाणपृथक्त्वानां कारणतः पृथक्त्वाग्रहणाद् भाक्त एकप्रत्ययोऽतीन्द्रियत्वादणूनामिति ।

पूछना चाहिए । क्या वह एकबुद्धि एकविषयक है, या नानार्थविषयक ? यदि एकार्थविषयक है तो अर्थान्तर की स्वीकृति से अवयवी की सिद्धि भी हो गयी । यदि वह नानार्थविषयक है तो अनेक में एक ज्ञान कैसे बनेगा ? 'अनेक में एक'—यह विरोधी ज्ञान कहीं नहीं देखा गया ॥ ३६ ॥

सेना या वन की तरह अनेक में एक का ग्रहण हो जायेगा—ऐसा भी नहीं मान सकते; क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं, उनका इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

जैसे सेना के अवयवों या वन के अवयवों में उनका पार्थक्य दूर से दिखायी न देने से अनेकों में एक बुद्धि हो जाती है, इसी तरह पार्थक्य से अगृहीत परमाणुसङ्घात में एकबुद्धि हो सकती है ?

सेनाङ्ग या वनाङ्ग के पृथक्त्व का ग्रहण हो सकता है, परन्तु दूरतारूपी कारणान्तर से उस पृथक्त्व का ग्रहण नहीं होता, और जैसे पलाश आदि की जाति गृहीत हो सकती है कि 'यह पलाश है' या 'यह खदिर है', परन्तु दूरता के कारण उसका जातिग्रहण नहीं हो पाता, तथा समीप में चेष्टाओं का स्पन्दन गृहीत हो सकता है परन्तु दूरता के कारण नहीं हो पाता; ऐसे-ऐसे अर्थसमूह को जब गृहीत करते हैं तो उसके पार्थक्य के अगृहीत होने से उसमें औपचारिक एकबुद्धि हो जाती है । यही बात परमाणुओं के बारे में नहीं कह सकते; क्योंकि परमाणुओं का तो पृथक्त्व गृहीत नहीं होता । कारणवशात् उनके पृथक्त्व गृहीत नहीं हैं तो एकबुद्धि परमाणुपुञ्ज में कैसे बन सकती है; कारण, अणु तो अतीन्द्रिय हैं ।

इदमेव च परीक्ष्यते—किमेकप्रत्ययोऽणुसञ्चयविषयः; आहोस्विन्नेति ? अणुसञ्चय एव सेनावनाङ्गानि। न च परीक्ष्यमाणमुदाहरणमिति युक्तम्; साध्यत्वादिति।

दृष्टमिति चेत् ? न; तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः। यदपि मन्यते—दृष्टमिदं सेनावनाङ्गानां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम्, न च दृष्टं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति ? तच्च नैवम्; तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः। दर्शनविषय एवायं परीक्ष्यते। योऽयमेकमिति प्रत्ययो दृश्यते, स परीक्ष्यते–किं द्रव्यान्तरविषयो वा, अथाणुसञ्चयविषय इति ? अत्र दर्शनमन्यतरस्य साधकं न भवति। नानाभावे चाणूनां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम् अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, यथा स्थाणौ पुरुष इति। ततः किम् ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिः।

स्थाणौ पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानम्[1] ? योऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययस्त-

---

इस प्रसङ्ग में यही परीक्ष्य है कि क्या अणुसमूह 'एक' इस बुद्धि का विषय बनता है ? या नहीं ? सेनाङ्ग या वनाङ्ग वाले उदाहरण भी अणुसमूह की तरह ही समझें। अणुसमूह के समान वे भी यहाँ, साध्य होने से परीक्षा के विषय हैं, उन्हें, उदाहरणरूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

उनका वैसा (अभेदेन) प्रत्यक्ष होता है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह प्रत्यक्ष परीक्षा (संशय) का विषय बन सकता है। यह जो मानते हो—"सेनाङ्ग या वनाङ्गों का पार्थक्य गृहीत न होने से 'अभेदेन एक है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है, एक बार कृतप्रत्यक्ष का प्रत्याख्यान हो नहीं सकता" ? यह बात भी उचित नहीं है; क्योंकि उसी प्रश्न पर तो वहाँ विचार हो रहा है कि दर्शनविषय कौन बन सकता है। 'एक—इस बुद्धि का विषय कौन बने—क्या उस बुद्धि का विषय द्रव्यान्तर है या वही अणुसमूह ?' इस परीक्षा के अवसर पर किसी एक (सेना इत्यादि) का उदाहरण प्रत्यक्षसाधक रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अणुओं के नाना होने पर भी पृथक्त्व के गृहीत न होने से 'अभेदेन एक' यह ज्ञान तो वैसा ही है जैसा तदभाववान् में सत्ता का आरोपित ज्ञान, जैसे स्थाणु में पुरुषत्व का आरोप। इससे क्या नुकसान (अनिष्ट) होगा ? 'अतत् में तत् का सत्ताज्ञान' के प्रधानापेक्षी होने से प्रधान (अणुसमूह में अभेदेन एकत्व) की सिद्धि होने लगेगी।

'स्थाणु में पुरुष'—इस ज्ञान में प्रधान कौन है ? यह जो 'पुरुष' में पुरुषबुद्धि है उसके रहते पुरुषसामान्य का ग्रहण हो कर 'यह पुरुष है' यह ज्ञान स्थाणु में भी होता

---

१. येन प्रत्ययेन विपरीतारोपः सम्पाद्यते सादृश्यवशात् तत्प्रधानम्, यथा—स्थाणौ पुरुषप्रत्ययस्य पुरुषे पुरुषप्रत्ययः।

स्मिन् सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोऽयमिति। एवं नानाभूतेष्वेकमिति सामान्यग्रहणात् प्रधाने सति भवितुमर्हति। प्रधानं च सर्वस्याग्रहणादिति नोपपद्यते। तस्मादभिन्न एवायमभेदप्रत्यय एकमिति।

इन्द्रियान्तरविषयेष्वभेदप्रत्ययः प्रधानमिति चेद्, न; विशेषहेत्वभावात् दृष्टान्ताव्यवस्था। श्रोत्रादिविषयेषु शब्दादिष्वभिन्नेष्वेकप्रत्ययः प्रधानमनेकस्मिन्नेकप्रत्ययस्येति। एवं च सति दृष्टान्तोपादानं न व्यवतिष्ठते; विशेषहेत्वभावात्। अणुषु सञ्चितेष्वेकप्रत्ययः किमतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स्थाणौ पुरुषप्रत्ययवत्? अथार्थस्य तथाभावात्तस्मिंस्तदिति प्रत्ययः, यथा—शब्दस्यैकत्वादेकः शब्द इति? विशेषहेतुपरिग्रहणमन्तरेण दृष्टान्तौ संशयमापादयत इति। कुम्भवत् सञ्चयमात्रं गन्धादयोऽपीत्यनुदाहरणं गन्धादय इति।

एवं परिमाणसंयोगस्पन्दजातिविशेषप्रत्ययानप्यनुयोक्तव्यः, तेषु चैवं प्रसङ्ग इति।

१. एकत्वबुद्धिस्तस्मिंस्तदिति इति विशेषहेतुर्महदिति प्रत्ययेन सामाना-

---

है। इसी प्रकार 'अनेकों में एक'—इस सामान्यग्रहण से कोई प्रधान हो तो अनेक में एकत्व गृहीत हो सकता है, पर अणुओं के नाना होने से सब का ग्रहण न हो पाने के कारण उनमें प्रधानत्व उपपन्न नहीं हो पा रहा है। अतः अभिन्न में अभेद का प्रत्यय ही, 'एक' ऐसी बुद्धि है।

यदि यह कहो कि श्रवणादि इन्द्रियान्तर के विषयों (शब्दादि) में अभेदज्ञान को ही यहाँ प्रधान मान लिया जाये? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि विशेष हेतु न होने से इस दृष्टान्त की अव्यवस्था बनेगी। तात्पर्य यह है कि श्रोत्रदि के प्रत्यक्षविषया शब्दादि अभिन्न में एक प्रत्यय का यहाँ (चाक्षुपपरीक्षाप्रसङ्ग में) प्राधान्येन उपन्यास करना—युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि आपका यह दृष्टान्त विशेष हेतु न होने से स्वयं अव्यवस्थित है। इकट्ठे अणुओं में एकबुद्धि क्या 'अतत् में तत्ता' ज्ञान है, जैसे—स्थाणु में पुरुष का ज्ञान? या अर्थ ही वैसा होने से स्वसत्ताज्ञान, जैसे एक शब्द होने से उसमें एकत्वबुद्धि? यों दोनों ही तरह से, विशेष हेतु न मिलने के कारण आपके दृष्टान्त संशयग्रस्त हैं। जैसे—'घट की तरह गन्धादि भी अणुसञ्चय मात्र हैं' इसमें गन्धादि उदाहरण संशयापन्न हैं; क्योंकि उनकी सञ्चयता भी घटादि की तरह साध्य है।

इस प्रसङ्ग में इस अणुसमूहवादी से—एकबुद्धि की तरह परिमाण, संयोग, चेष्टा, जाति-विशेष, आदि के ज्ञान को लेकर भी प्रश्न करना चाहिये।

१. तत् में एकत्वप्रत्यय विशेष हेतु है तो इस साध्य में 'महत्' ज्ञान से सामानाधिकरण्य होने के कारण 'यह एक है' तथा 'महान् है'—ये दोनों ज्ञान एक ही विषय तथा

धिकरण्यात् । एकमिदं महच्चेति एकविषयौ प्रत्ययौ समानाधिकरणौ भवतः, तेन विज्ञायते—यन्महत्तदेकमिति । अणुसमूहातिशयग्रहणं महत्प्रत्यय इति चेत् ? सोऽयममहत्सु अणुषु महत्प्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवतीति । किं चातः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिरिति भवितव्यं महत्येव महत्प्रत्ययेनेति ।

अणुः शब्दो महानिति च व्यवसायात् प्रधानसिद्धिरिति चेत् ? न; मन्द-तीव्रताग्रहणमियत्तानवधारणाद्, यथा द्रव्ये । अणुः शब्दोऽल्पो मन्द इत्येतस्य ग्रहणं महान् शब्दः पटुस्तीव्र इत्येतस्य ग्रहणम् । कस्मात् ? इयत्तानवधारणात् । न ह्ययम् 'महान् शब्दः' इति व्यवस्यन् 'इयानयम्' इत्यवधारयति, यथा बदरा-मलकबिल्वादीनि ।

२. संयुक्ते इमे इति च द्वित्वसमानाश्रयप्राप्तिग्रहणम् ।

द्वौ समुदायावाश्रयः संयोगस्येति चेत्—कोऽयं समुदायः ? प्राप्तिरनेकस्य, अनेका वा प्राप्तिरेकस्य समुदाय इति चेत् ? प्राप्तेरग्रहणं प्राप्त्याश्रितायाः । संयुक्ते इमे वस्तुनी इति नात्र द्वे प्राप्ती संयुक्ते गृह्येते ।

समान अधिकरण में हो रहे हैं । इससे ज्ञात होता है कि 'जो महान् है वही एक है' ।

यदि यह कहो कि अणूसमूह का अतिशय (आधिक्य) बोधन के लिए यहाँ मह-च्छब्द का प्रयोग है ? तो यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि तब यह अमहान् (लघु) अणुओं में महत्त्व बतलाना 'अतत् में तत्ता' बोधन (आरोप) होगा, वास्तविक नहीं । इससे अनिष्ट यह होगा कि 'अतत् में तत्ता' ज्ञान के प्रधानापेक्षी होने से प्रधान की सिद्धि हुआ करती है, अतः 'महत्' का प्रत्यय 'महत्' में ही होगा, द्रव्यान्तर (अणु) में नहीं ।

'शब्द अणु भी है है महान् भी है'—ऐसा व्यवसाय होने से शब्द में प्रधान की सिद्धि हो जायेगी ? शब्द में अणुता, तीव्रता, पटुता आदि परिमाणविशेष का ज्ञान 'इयत्ता' का निश्चय न होने से नहीं होता, जैसा द्रव्य में हो जाता है । इयत्तानिश्चय न होने से 'शब्द अणु है, अल्प है, मन्द है'—यह ज्ञान तथा 'शब्द महान् है, तीव्र है'—यह ज्ञान नहीं होता । प्रयोक्ता पुरुष 'यह महान् शब्द है'—ऐसा निश्चय करता हुआ 'यह इतना बड़ा है'—ऐसा अवधारण नहीं कर पाता, जैसा बेर आमला-आदि फलों के विषय में कर लेता है ।

२. 'ये दोनों संयुक्त हैं'—यह संयोग-ज्ञान भी तभी बन सकता है जब द्वित्व के समान आश्रय में वह हो ।

पूर्वपक्षी यदि यह कहे—दो समुदाय इस संयोग के आश्रय हैं, तो उनसे हम पूछते हैं कि यह समुदाय कौन है ? क्या अनेक का एक संयोग या एक में अनेक संयोग ? तो संयोगाश्रित संयोग का ग्रहण नहीं हुआ करता । 'ये दोनों वस्तु संयुक्त होकर हैं'—इन ज्ञान में दो संयोग संयुक्त में गृहीत नहीं होते ।

अनेकसमूहः समुदाय इति चेद्, न; द्वित्वेन समानाधिकरणस्य ग्रहणात्। द्वाविमौ संयुक्तावर्थाविति ग्रहणे सति नानेकसमूहाश्रयः संयोगो गृह्यते। न च द्वयोरण्वोर्ग्रहणमस्ति। तस्मान्महती द्वित्वाश्रयभूते द्रव्ये संयोगस्य स्थानमिति।

३. प्रत्यासत्तिः प्रतीघातावसाना संयोगो नार्थान्तरमिति चेत् ? न; अर्थान्तरहेतुत्वात् संयोगस्य। शब्दरूपादिस्पन्दानां हेतुः संयोगः। नच द्रव्ययोर्गुणान्तरोपजननमन्तरेण शब्दे रूपादिषु स्पन्दे च कारणत्वं गृह्यते तस्माद् गुणान्तरम्, प्रत्ययविषयश्चार्थान्तरं तत्प्रतिषेधो वा–कुण्डली गुरुः, अकुण्डलश्छात्र इति। संयोगबुद्धेश्च यद्यर्थान्तरं न विषयः, अर्थान्तरप्रतिषेधस्तर्हि विषयः ? तत्र प्रतिषिध्यमानवचनम्। 'संयुक्ते द्रव्ये' इति यदर्थान्तरमन्यत्र दृष्टमिह प्रतिषिध्यते, तद्वक्तव्यमिति। द्वयोर्महतोराश्रितस्य ग्रहणान्नाण्वाश्रय इति।

अनेक संयोगसमूह को समुदाय मान लें ? नहीं मान सकते; क्योंकि युक्त द्वित्व से समानाधिकरणत्व का ही संयोग में ग्रहण कर पाता है, 'ये दो अर्थ (घट पट) संयुक्त हैं—इस ज्ञान में अनेकसमूह में संयोग गृहीत नहीं होता ! ओर फिर दो अणु का तो (अतीन्द्रिय होने से) ज्ञान भी नहीं हो पाता। अतः निष्कर्ष यह निकला कि द्वित्वाश्रयभूत महान् द्रव्य में ही संयोग वन सकता है।

३. अवरोध (रोक) समाप्त होकर समीप आ जाना ही संयोग है, इसके अतिरिक्त यह कुछ नहीं ?—ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि संयोग अर्थान्तिर का हेतु हैं, न कि स्वयं अर्थान्तिर। संयोग शब्द, रूप आदि तथा स्पन्द का हेतु है। दो द्रव्यों में गुणविशेष की उत्पत्ति के विना, शब्द, रूप तथा स्पन्द निरूपित कारणत्व (जनकत्व) नहीं गृहीत हो सकता, अतः यह गुणान्तर है। इस अर्थान्तर का या उसके प्रतिषेध का प्रत्यक्ष भी होता है, जैसे 'गुरु कुण्डल धारण किये हुए हैं' 'छात्र कुण्डल धारण किये हुए नहीं हैं'। (यदि यह अर्थान्तिर न होता तो 'कुण्डलगुरु' या 'गुरुकुण्डल' ऐसा शब्द प्रयुक्त होता, न कि मतुवर्थक 'कुण्डली'। इसी प्रकार 'अकुण्डल छात्र' या 'छात्राकुण्डल' शब्द-प्रयोग होता, न कि वहुव्रीहि समास'वाला। यह अर्थान्तर हैं तभी 'समर्थः पदविधिः' (२. १. १) इस पाणिनि के अनुशासन से मतुप्प्रत्यय तथा वहुव्रीहि समास की प्रवृत्ति हुई; क्योंकि उक्त शास्त्र अर्थ-सम्बन्ध में ही प्रवृत्त होता है; अन्यथा लोकशास्त्रविरोधप्रसङ्ग होने लगेगा। 'गुरु कुण्डल से संयुक्त है' इस बुद्धि का यदि अर्थान्तर विषय नहीं है, तो अर्थान्तरप्रतिषेध ही उसका विषय मानना पवड़ेगा। तब वहाँ प्रतिषिध्यमान क्या हैं—यह स्पष्टतः वतावें। अर्थात् उस 'संयुक्त द्रव्य में' इस प्रतीति में जो अर्थान्तिर अन्यत्र देखा गया है, परन्तु उसका यहाँ प्रतिषेध कर रहे हैं तो उसे शब्दतः वताइये कि वह क्या है ! दो 'महत्' में समवायेन वृत्तिमान् संयोग का ग्रहण होने से वह अण्वाश्रित नहीं हो सकता (;क्योंकि वैसा सम्भव नहीं है)।

जातिविशेषस्य प्रत्ययानुवृत्तिलिङ्गस्याप्रत्याख्यानम्, प्रत्याख्याने वा प्रत्यय-व्यवस्थानुपपत्तिः। व्यधिकरणस्यानभिव्यक्तेरधिकरणवचनम्। अणुसमवस्थानं विषय इति चेत् ? प्राप्ताप्राप्तसामर्थ्यवचनम्। किमप्राप्ते अणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्यते ? अथ प्राप्ते इति ? अप्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? व्यवहित-स्याणुसमवस्थानस्याप्युपलब्धिप्रसङ्गः, व्यवहितेऽणुसमवस्थाने तदाश्रयो जाति-विशेषो गृह्येत। प्राप्ते ग्रहणमिति चेत् ? मध्यपरभागयोरप्राप्तावनभिव्यक्तिः। यावत्प्राप्तं भवति तावत्यभिव्यक्तिरिति चेत् ? तावतोऽधिकरणत्वमणुसमवस्था-नस्य। यावति प्राप्ते जातिविशेषो गृह्यते तावदस्याधिकरणमिति प्राप्तं भवति। तत्रैकसमुदाये प्रतीयमानेऽर्थभेदः। एवं च सति योऽयमणुसमुदायो वृक्ष इति प्रतीयते, तत्र वृक्षबहुत्वं प्रतीयेत—यत्र यत्र ह्यणुसमुदायस्य भागे वृक्षत्वं गृह्यते स स वृक्ष इति।

तस्मात् समुदिताणुसमवस्थानस्यार्थान्तरस्य जातिविशेषाभिव्यक्तिविषयत्वा-दवयव्यर्थान्तरभूत इति ॥ ३७ ॥

---

४. एकाकारप्रतीतिक हेतु के जातिविशेष का अप्रत्याख्यान भी, समूह को अवयवी मानने पर, नहीं बनेगा। यदि किसी तरह बन भी जाये तो भी उक्त प्रतीतिव्यवस्था नहीं बन पायेगी; क्योंकि आश्रयप्रतीति के विना जातिप्रतीति कैसे होगी !

यदि व्यधिकरण की अभिव्यक्ति न होने से परमाणु का अधिकरणत्व अप्रत्याख्यात होता है तो जाति मानेंगे तब वह व्यधिकरण कौन सा है ? वताइये। यदि कहें कि परमाणु ही किसी संयोगविशेष से रहते हुये उस जाति को व्यक्त करते हैं, तो यह वता-इये कि संयुक्त अणुसमूह में जातिविशेष को व्यक्त करता है, या असंयुक्त अणुसमूह में। यदि असंयुक्त में व्यक्त करता है ? तो व्यवहित अणुसंयुक्त की उपलब्धि होने लगेगी; अर्थात् व्यवहित अणुसंयुक्त में भी तदाश्रित जातिविशेष गृहीत होने लगेगा। यदि कहें कि संयुक्त में ग्रहण होता है ? तो उस अणुसमूह के मध्य तथा पृष्ठभाग से संयोग न होने के कारण उनमें ही अनभिव्यक्ति रहेगी। यदि कहें कि जितने के साथ संयोग हुआ, उतने में जाति की अभिव्यक्ति हो जायेगी ? तो अभिव्यक्त जातिविशेष का अधिकरण कौन है—यह वताइये। अर्थात् जितने अणुसमूह के संयुक्त होने पर जातिविशेष गृहीत होता है, उतना उसका अधिकरण हो जायेगा। एवं च—वहाँ एकसमुदाय की प्रतीति में विषय का वहुत अर्थभेद है। इस तरह जो 'अणुसमुदाय वृक्ष हैं'—ऐसी प्रतीति होती है, वहाँ वृक्षवहुत्व प्रतीत होने लगेगा। उस अणुसमुदाय के जिस जिस भाग में वृक्षत्व गृहीत होगा वह वह भाग वहाँ 'वृक्ष' कहलायेगा। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि वृक्षत्व का अधिकरण कह कर जो लिया जाता है वह अणुसमूह न होकर अर्थान्तर ही जातिविशेष का आश्रय वन सकता है। वह अर्थान्तर अवयवी हो सकता है, न कि अणुसमूह ॥३७॥

अनुमानपरीक्षाप्रकरणम् [३८-४४]

परीक्षितं प्रत्यक्षम् । अनुमानमिदानीं परीक्ष्यते—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ? ॥ ३८ ॥

अप्रमाणमिति—एकदाप्यर्थस्य न प्रतिपादकमिति । रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते, तदा च 'उपरिष्टाद् वृष्टो देवः' इति मिथ्यानुमानम् । नीडोपघातादपि पिपीलिकाण्डसञ्चारो भवति, तदा च 'भविष्यति वृष्टिः' इति मिथ्यानुमान-मिति । पुरुषोऽपि मयूरवाशितमनुकरोति, तदापि शब्दसादृश्यान्मिथ्यानुमानं भवति ? ॥ ३८ ॥

न; एकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३९ ॥

नायमनुमानव्यभिचारः, अननुमाने तु खल्वयमनुमानाभिमानः । कथम् ? नाविशिष्टो लिङ्गं भवितुमर्हति । पूर्वोदकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं

प्रत्यक्ष का परीक्षण किया जा चुका, अब अनुमान का परीक्षण किया जा रहा है—

रोध, उपघात, तथा सादृश्य से अनुमान मिथ्या सिद्ध होने के कारण वह भी अप्रमाण है ॥ ३८ ॥

पीछे जो आप अनुमान के तीन भेद कर आये, उनमें एक भी अर्थ का यथार्थप्रतिपादक नहीं है । जैसे शेषवदनुमान का उदाहरण है—नदी भरी हुई दिखायी देने से अनुमान होता है—'ऊपर कहीं वर्षा हुई है'; परन्तु कहीं आगे अवरोध (रुकावट) होने पर भी तो नदी भरी हुई दिखायी दे सकती है, अतः भरी हुई नदी देख कर वृष्टि का अनुमान मिथ्यानुमान है; क्योंकि यहाँ पूर्णत्वहेतु व्यभिचारी है । इसी तरह पूर्ववदनुमान का उदाहरण—'चींटी अण्डा उठाये ले जा रहीं हैं, अतः वृष्टि होगी'—भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि यहाँ 'चीटियों का अण्डे उठाना' हेतु उनके विल (शरणस्थल) के नष्टभ्रष्ट होने से भी हो सकता है, अतः वह व्यभिचारी है । इसी प्रकार सामान्यतोदृष्टानुमान का उदाहरण—'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी' भी मिथ्यानुमान ही हैं; क्योंकि पुरुष भी परिहास या आजीविका के लिये मोर की वोली वोल लेते हैं, अतः यह 'मोर की वोली' हेतु यहाँ व्यभिचारी है ॥ ३८ ॥

नहीं; क्योंकि एकदेश, त्रास, सादृश्य हेतुओं से उन उदाहरणों में अर्थान्तर आ जाता है ॥ ३९ ॥

आपके द्वारा अनुमान के खण्डन में जो हेतु दिये हैं, उनसे अनुमान में व्यभिचार नहीं आता । ये उक्त उदाहरण सही 'अनुमान' नहीं; बल्कि अननुमान में अनुमानभिमान हैं । कैसे ? सामान्य नदीवृद्धि विशेषण से अविशिष्ट होकर अनुमान में हेतु नहीं बनती, अपितु पहले के जल से विशिष्ट वर्षा का जल, प्रवाह का वेग, बहुत से झाग, फल, सूखे

स्रोतसो बहुतरफेनफलपर्णकाष्ठादिवहनं चोपलभमानः पूर्णत्वेन नद्याः 'उपरि वृष्टो देवः' इत्यनुमिनोति, नोदकवृद्धिमात्रेण। पिपीलिकाप्रायस्याण्डसञ्चारे 'भविष्यति वृष्टिः' इत्यनुमीयते, न कासाञ्चिदिति। 'नेदं मयूरवाशितं तत्सदृशोऽयं शब्दः' इति विशेषापरिज्ञानान्मिथ्यानुमानमिति। यस्तु विशिष्टाच्छब्दाद् विशिष्टमयूरवाशितं गृह्णाति तस्य विशिष्टोऽर्थो गृह्यमाणो लिङ्गम्, यथा—सर्पादीनामिति। सोऽयमनुमातुरपराधो नानुमानस्य, योऽर्थविशेषेणानुमेयमर्थं विशिष्टार्थदर्शनेन बुभुत्सत इति ॥ ३९ ॥

वर्तमानकालपरीक्षा

त्रिकालविषयमनुमानं त्रैकाल्यग्रहणादित्युक्तम्, अत्र च—

वर्त्तमानाभावः; पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ? ॥ ४० ॥

वृन्तात्प्रच्युतस्य फलस्य भूमौ प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं स पतितोऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितकालः; योऽधस्तात् स पतितव्योऽध्वा, तत्संयुक्तः कालः पतितव्य-

---

पत्ते, जंगल की लकड़ी-आदि उस जल में वेग से वहते हुए देखे और साथ में नदी को भी वढा हुआ देखे तव वह अनुमान में हेतु वनती है कि 'ऊपर वर्षा हुई है, नदी बढी होने से', अर्थात् केवल उदकवृद्धि से नहीं। इसी तरह वहुत-सी चींटियों के बराबर गमनागमन से 'वृष्टि होगी' यह अनुमान होता है, न कि कुछ चींटियों के गमनागमन से। 'यह मोर की वोली नहीं है, उसी तरह की पुरुष की वोली है'—ऐसा विशेष ज्ञान न होने से मिथ्यानुमान होता है। जो प्रमाता विशिष्ट शब्द से विशिष्ट मयूर ध्वनि (बोली) को जव ग्रहण करता है तव उस ध्वनि का विशिष्ट अर्थ गृहीत होता हुआ हेतु वनता है, जैसे सर्पादियों को मयूर की खास वोली सुनकर ही उनके अस्तित्व का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार अनुमाता का ही यह अपराध माना जायेगा कि वह अर्थविशेष हेतु से अनुमेय अर्थ को सामान्य अर्थ से जानने की इच्छा करता है, अनुमान का इसमें क्या दोष ! ॥ ३९ ॥

पूर्वपक्ष—पीछे (१.१.५ में) आप 'त्रिकालयुक्त अर्थ अनुमान से गृहीत होते हैं, अतः अनुमान त्रिकालविषय है'—ऐसा कह आये हैं; और यहाँ—

वर्तमानकाल नहीं है; क्योंकि गिरती हुई वस्तु के केवल पतितकाल तथा पतितव्य-काल ही उपपन्न हैं ? ॥ ४० ॥

डाल से टूटे फल के भूमि की ओर आते समय ऊपर (डाल और फल के बीच) का मार्ग पतित-मार्ग हुआ, उसमें लगने वाला काल 'पतितकाल' कहलाया। जो नीचे भूमि तक आने का मार्ग है वह पतितव्य-मार्ग हुआ, उसमें लगने वाला काल 'पतितव्य-

कालः; नेदानीं तृतीयोऽध्वा विद्यते यत्र पततीति वर्त्तमानः कालो गृह्येत ! तस्माद् वर्तमानः कालो न विद्यत इति ? ॥ ४० ॥

तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे; तदपेक्षत्वात् ॥ ४१ ॥

नाध्वव्यङ्ग्यः कालः; किं तर्हि ? क्रियाव्यङ्ग्यः–'पतति' इति। यदा पतन-क्रिया व्युपरता भवति स कालः पतितकालः, यदोत्पत्स्यते स पतितव्यकालः, यदा द्रव्ये वर्तमाना क्रिया गृह्यते स वर्त्तमानः कालः। यदि चायं द्रव्ये वर्तमानं पतनं न गृह्णाति कस्योपरममुत्पत्स्यमानतां वा प्रतिपद्यते ! पतितः काल इति भूता क्रिया, पतितव्यः काल इति चोत्पत्स्यमाना क्रिया। उभयोः कालयोः क्रियाहीनं द्रव्यम्, अधः पततीति क्रियासम्बद्धम्। सोऽयं क्रियाद्रव्ययोः सम्बन्धं गृह्णातीति वर्तमानः कालः, तदाश्रयौ चेतरौ कालौ तदभावे न स्याता-मिति ॥ ४१ ॥

अथापि—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ४२ ॥

काल' कहलायेगा; अब ऐसा तीसरा कौन मार्ग रह गया जिसे हम 'गिरता है'— ऐसा कहते हुये वर्तमान काल कह सकें ! अतः वर्तमान काल ही नहीं हैं—ऐसा हम मान लें ? ॥ ४० ॥

उत्तर देते हैं—

वर्तमानकाल न मानोगे तो वर्तमानापेक्षित भूत, भविष्यत् काल की भी अनुपपत्ति होने लगेगी ॥ ४१ ॥

समय मार्ग से नहीं, अपितु 'पड़ता है'–इस क्रिया से व्यक्त होता है। 'पड़ता है' से आरंभ होकर जब पतन-क्रिया समाप्त हो जाती है वह काल 'पतितकाल', तथा जब पतन-क्रिया उत्पन्न होगी वह काल 'पतितव्य काल' कहलाता है, और जब फल आदि द्रव्य में वर्तमान पतन-क्रिया गृहीत होती है, वह 'वर्तमानकाल' कहलाता है। यदि यह पूर्वपक्षी वर्तमान पतनक्रिया को नहीं जानता है तो वह समाप्ति (भूतकाल) तथा प्रागभाव (भविष्यत्काल) किसके सम्बन्ध में प्रतिपादन करेगा ? पतितकाल भूत-क्रिया का तथा पतितव्यकाल भविष्यत्क्रिया का बोधक है। इन दोनों ही कालों में द्रव्य क्रियाहीन रहता है । 'नीचे गिरता है'—यह वर्तमानकाल अवश्य वर्तमान क्रिया से सम्बद्ध है। यह वर्तमानकाल द्रव्य-क्रिया का सम्बन्ध ग्रहण करता है, बाकी दोनों काल इसी पर आश्रित हैं, यदि यह न होगा तो वे कहाँ से होंगे ! ॥ ४१ ॥

भूत भविष्यत् को परस्परनिरूपणाधीन मान लें, उनके लिये एक पृथक् वर्तमानकाल मानने की क्या आवश्यकता है ? इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अतीत (भूत) अनागत (भविष्यत्) की इतरेतरापेक्षया सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

यद्यतीतानागतावितरेतरापेक्षौ सिद्धयेताम्, प्रतिपद्येमहि वर्त्तमानविलोपम्। नातीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः, नाप्यनागतापेक्षाऽतीतसिद्धिः। कया युक्त्या? केन कल्पेनातीतः कथमतीतापेक्षाऽनागतसिद्धिः, केन च कल्पेनानागतः कथमनागतापेक्षातीतसिद्धिरिति नैतच्छक्यं निर्वक्तुम्, अव्याकरणीयमेतद्वर्तमानलोप इति।

यच्च मन्येत–'ह्रस्वदीर्घयोः, स्थलनिम्नयोः, छायाऽऽतपयोश्च यथेतरेतरापेक्षया सिद्धिरेवमतीतानागतयोः' इति? तन्नोपपद्यते, विशेषहेत्वभावात्। दृष्टान्तवत् प्रतिदृष्टान्तोऽपि प्रसज्यते, यथा–रूपस्पर्शौ गन्धरसौ नेतरेतरापेक्षौ सिध्यतः; एवमतीतानागतावितिं, नेतरेतरापेक्षा कस्यचित्सिद्धिरिति। यस्मादेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभावः। यद्येकस्यान्यतरापेक्षा सिद्धिरन्यतरस्येदानीं किमपेक्षा? यद्यन्यतरस्यैकापेक्षा सिद्धिरेकस्येदानीं किमपेक्षा? एवमेकस्याभावे अन्यतरन्न सिध्यतीत्युभयाभावः प्रसज्यते॥ ४२॥

अर्थसद्भावव्यङ्ग्यश्चायं वर्त्तमानः कालः—'विद्यते द्रव्यम्, विद्यते गुणः, विद्यते कर्म' इति। यस्य चायं नास्ति, तस्य—

यदि अतीत व अनागत काल एक दूसरे के आश्रय से सिद्ध हो सकें तो हम भी वर्तमानकाल को न मानें; परन्तु न भूत की अपेक्षा रखकर भविष्यत् की सिद्धि की जा सकती है, न भविष्यत् की अपेक्षा रखकर भूत की। किस तर्क से? किस समर्थ प्रमाण से वह अतीत है तथा उसपर आश्रित अनागत की सिद्धि हो पायेगी! अथ च, किस समर्थ प्रमाण से अनागत है तथा तदपेक्ष अतीत की सिद्धि हो पायेगी!—इसका आप निर्वचन नहीं कर सकते, अतः वर्तमान का न मानना भी सभी को निर्वचन में बाधक होगा!

जो यह मानता है कि—'जैसे ह्रस्व-दीर्घ की, उच्च-नीच स्थल की, छाया-आतप की इतरेतरापेक्षया सिद्धि होती है, उसी तरह अतीत-अनागत की भी मान लें'? यह नहीं मान सकते; क्योंकि ऐसा मानने में कोई विशेष हेतु नहीं है। दृष्टान्त की तरह प्रतिदृष्टान्त (विपरीत दृष्टान्त) भी प्रसक्त होता है; जैसे रूप तथा स्पर्श, गन्ध तथा रस इतरेतरापेक्षया सिद्ध नहीं किये जा सकते, इसी प्रकार अतीत अनागत में समझना चाहिये। और इतरेतरापेक्षया किसी की भी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव (अन्यतराभाव) होने से दोनों का ही अभाव (उभयाभाव) हो जायेगा। यदि एक की दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि मानें तो बाकी बचे दूसरे की किसकी अपेक्षा से सिद्धि होगी? यदि अन्यतर की एकापेक्षया सिद्धि मानें तो उस एक की अब किसकी अपेक्षा से सिद्धि होगी? इस प्रकार एक का अभाव होने पर दूसरा भी सिद्ध नहीं हो पायेगा, अतः दोनों का ही असिद्धि-प्रसङ्ग आ पड़ेगा॥ ४२॥

यह वर्तमानकाल न केवल पतनादि क्रिया से, अपितु अर्थ-सत्ता से भी व्यक्त होता है, जैसे—'यह द्रव्य वर्तमान है', 'यह गुण वर्तमान है', 'यह कर्म विद्यमान है'—आदि। जिस अर्थ की सत्ता नहीं होती, उसके—

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम्, न चाविद्यमानमसदिन्द्रियेण सन्निकृष्यते । न चायं विद्यमानं सत्किञ्चिदनुजानाति । प्रत्यक्षनिमित्तं प्रत्यक्षविषयः प्रत्यक्षज्ञानं सर्वं नोपपद्यते, प्रत्यक्षानुपपत्तौ तत्पूर्वकत्वादनुमानागमयोरनुपपत्तिः । सर्वप्रमाण-विलोपे सर्वग्रहणं न भवतीति ॥ ४३ ॥

उभयथा च वर्त्तमानः कालो गृह्यते—क्वचिदर्थसद्भावव्यङ्ग्यः, यथा—अस्ति द्रव्यमिति; क्वचित् क्रियासन्तानव्यङ्ग्यः, यथा—पचति, छिनत्तीति । नानाविधा चैकार्था क्रिया क्रियासन्तानः क्रियाभ्यासश्च । नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति स्थाल्यधिश्रयणमुदकासेचनं तण्डुलावपनमेधोऽपसर्पणमग्न्यभिज्वालनं दर्वीघट्टनं मण्डस्रावणमधोऽवतारणमिति । छिनत्तीति क्रियाभ्यासः, उद्यम्योद्यम्य परशुं दारुणि निपातयन् छिनत्तीत्युच्यते । यच्चेदं पच्यमानं छिद्यमानं च तत्क्रिय-माणम् । तस्मिन् क्रियमाणे—

वर्तमान के अभाव में प्रत्यक्ष न होने से सभी का ग्रहण नहीं होगा ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है, और अविद्यमान असत् इन्द्रिय से सन्निकृष्ट नहीं हो सकता । यह पूर्वपक्षी विद्यमान सत् को कुछ स्वीकार नहीं करता, तो उसके मतमें प्रत्यक्ष का कारण, प्रत्यक्ष का विषय तथा प्रत्यक्ष ज्ञान—यह सब उपपन्न नहीं हो सकेगा । अनुमान तथा शब्द प्रमाण के प्रत्यक्षपूर्वक होने से, प्रत्यक्ष के अभाव में वे दोनों भी अनुपपन्न ही रहेंगे । यों, सब प्रमाणों के विलुप्त हो जाने से सभी का ग्रहण न हो सकेगा ॥ ४३ ॥

वर्तमानकाल दो प्रकार से गृहीत होता है—कहीं वह अर्थ-सत्ता से व्यक्त होता है, जैसे—'यह द्रव्य है'; कहीं क्रियासन्तान से व्यक्त होता है, जैसे—'पकाता है', 'काटता है' आदि । एक अर्थ के लिये होने वाली नाना प्रकार की क्रियायें 'क्रियासन्तान' तथा 'क्रियाभ्यास' कहलाती हैं । 'क्रियासन्तान' का उदाहरण है—'पचति' । यहाँ एक अर्थ के लिये—बटलोई (पात्र) का चूल्हे पर चढ़ाना, उसमें जल भरना, चावल डालना, चूल्हे में अग्नि जलाना, अग्नि तेज करने के लिये लकड़ी सरकाना, करछी से चावल को हिलाना, मांड़ पसारना, अन्त में बटलोई को नीचे उतारना—आदि अनेक प्रकार की क्रियायें होती हैं । 'छिनत्ति'—यह 'क्रियाभ्यास' का उदाहरण है, यहाँ 'कुठार को ऊपर उठा उठाकर काष्ठ पर पटकता हुआ काटता है'—ऐसा अर्थ निकलता है । इन दोनों क्रियाओं में पकाया जा रहा तथा काटा जा रहा 'क्रियमाण' (वर्तमान क्रिया-कर्म) कहलाता है । उस क्रियमाण में—

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४४ ॥

क्रियासन्तानोऽनारब्धश्चिकीर्षितोऽनागतः कालः—पक्ष्यतीति। प्रयोजनावसानः क्रियासन्तानोपरमः अतीतः कालः—अपाक्षीदिति। आरब्धक्रियासन्तानो वर्त्तमानः कालः—पचतीति। तत्र या उपरता सा 'कृतता', या चिकीर्षिता सा 'कर्त्तव्यता', या विद्यमाना सा 'क्रियमाणता'। तदेवं क्रियासन्तानस्थस्त्रैकाल्यसमाहारः–'पचति', 'पच्यते' इति वर्त्तमानग्रहणेन गृह्यते। क्रियासन्तानस्य ह्यत्राविच्छेदो विधीयते; नारम्भः, नोपरम इति। सोऽयमुभयथा वर्त्तमानो गृह्यते—अपवृक्तः, व्यपवृक्तश्च अतीतानागताभ्याम्। स्थितिव्यङ्ग्यः–विद्यते द्रव्यमिति। क्रियासन्तानाविच्छेदाभिधायी च त्रैकाल्यान्वितः–पचति, छिनत्तीति। अन्यश्च प्रत्यासत्तिप्रभृतेरर्थस्य विवक्षायां तदभिधायी बहुप्रकारो लोकेषु उत्प्रेक्षितव्यः। तस्मादस्ति वर्तमानः काल इति ॥ ४४ ॥

उपमानपरीक्षाप्रकरणम् [४५–४९]

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ? ॥ ४५ ॥

कृतता (भूत व्यापार) तथा कर्तव्यता (भविष्यत्)—दोनों की उपपत्ति होने से दोनों ही तरह से शाब्दबोध बन जाता है ॥ ४४ ॥

जब क्रियासन्तान आरम्भ नहीं किया परन्तु आरम्भ करने की इच्छा है, वह अनागत काल है—'पकायेगा' ऐसा। जहाँ पाकप्रयोजन निवृत्त हो जाये, क्रियासन्तान का उपरम हो जाये वह काल अतीत काल है—'पका चुका' ऐसा। जब क्रियासन्तान आरम्भ किया जा चुका हो, वह वर्तमान काल है—'पकाता है' ऐसा। इसमें जो क्रिया समाप्त हो चुकी उसे 'कृतता' कहते हैं, जो अभी प्रारम्भ नहीं हुई परन्तु करने की इच्छा है, वह कहलायी 'कर्तव्यता', और जो क्रिया विद्यमान है उसे कहेंगे 'क्रियमाणता'। इस प्रकार क्रियासन्तानस्थ यह त्रैकाल्यव्यवहार 'पकाता है' या 'पकाया जाता है'—यों वर्तमान के ग्रहण से गृहीत होता है। इस वर्तमान काल में क्रियासन्तान का केवल नैरन्तर्यविधान है, न कि आरम्भ या उपरम।

यों यह वर्तमान, अतीत एवं अनागत उभय रीति में उभयथा गृहीत होता है—अतीत में अव्यपवृक्त (पश्चात्) तथा अनागत में व्यपवृक्त (पूर्व)। वर्तमान में सत्ताक्रिया का उदाहरण है—'द्रव्य है'। क्रियासन्तान के नैरन्तर्य का बोधक तथा त्रैकाल्यान्वित (त्रिकाल में होनेवाला क्रियासमूह) का उदाहरण है—'पकाता है' या 'काटता है'। सामीप्य आदि की अर्थविवक्षा में तद्बोधक अन्य उदाहरणों की लोकव्यवहार को देखकर कल्पना कर लेना चाहिये। अस्तु ! निष्कर्ष यह निकाला कि वर्तमान काल भी है, अतः अनुमान प्रमाण में त्रैकाल्यविषयों का ग्रहण हो सकता है ॥ ४४ ॥

अत्यन्तसादृश्य, प्रायसादृश्य तथा एकदेशसादृश्य के कारण उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती ? ॥ ४५ ॥

अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न चैवं भवति—'यथा गौरेवं गौः' इति ? प्रायसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि भवति–'यथाऽनड्वानेवं महिषः' इति ? एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वमुपमीयत इति ? ॥ ४५ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४६ ॥

न साधर्म्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते, किं तर्हि ? प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते, यत्र चैतदस्ति, न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धुं शक्यम् । तस्माद्यथोक्तदोषो नोपपद्यत इति ॥ ४६ ॥

अस्तु तर्ह्युपमानमनुमानम्—

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ? ॥ ४७ ॥

यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्, एवं गवा प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते ? ॥ ४७ ॥

विशिष्यत इत्याह । कया युक्त्या ?

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४८ ॥

अत्यन्तसादृश्य से उपमान सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि जैसी गौ हो ठीक वैसा ही बैल हो (कुछ न कुछ तो अन्तर होगा ही) । बाहुल्येन सादृश्य से उपमान की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि लोक में यह कब होता है कि जैसा बैल है वैसा ही भैंसा हो ! यद्यपि दोनों में प्रायसादृश्य है । एकदेशसाधर्म्य से भी उपमान सिद्ध नहीं होता; क्योंकि तब कुछ न कुछ सादृश्य से सब का सबके साथ उपमान बनने लगेगा ? ॥ ४५ ॥

प्रसिद्ध-साधर्म्य से उपमानसिद्धि होने के कारण उक्त दोष नहीं बनेंगे ॥ ४६ ॥

सादृश्य की समग्रता, प्रायता या अल्पता से नहीं; अपितु प्रसिद्धसादृश्य से साध्यसाधनभाव को लेकर उपमान प्रवृत्त होता है। ऐसा जहाँ है, वहाँ उपमान प्रतिषिद्ध नहीं हो सकता । अतः उक्त दोष नहीं बन पायेंगे ॥ ४६ ॥

तो उपमान को अनुमान ही मान लें—

क्योंकि उपमान में भी प्रत्यक्ष के हेतु से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होती है ? ॥ ४७ ॥

जैसे धूम के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष वह्नि का ग्रहण अनुमान कहलाता है, इसी प्रकार उपमान में गौ के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष–गवय या ग्रहण होता है । यह प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं हुआ, अतः क्यों न इसे अनुमान ही मान लें ? ॥ ४७ ॥

नहीं, यह अनुमान से भिन्न होता है; क्योंकि—

गवय का प्रत्यक्ष न होने पर उपमान की उपपत्ति नहीं लगती ॥ ४८ ॥

जब उपमानवाक्यश्रोता गौ का प्रत्यक्ष कर चुका हो, तब वन में गोसदृश अन-

यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवा समानमर्थं पश्यति, तदाऽयम् 'गवय' इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते, न चेदमनुमानमिति।

परार्थं चोपमानम्, यस्य ह्युपमेयमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति।

परार्थमुपमानमिति चेद् ? न; स्वयमध्यवसायात्। भवति च भोः! स्वयमध्यवसायः—'यथा गौरेवं गवयः' इति? नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते, उपमानं तु तन्न भवति—'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (१. १. ६)। न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो विद्यत इति॥ ४८॥

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः॥ ४९॥

तथेति समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति, नानुमानम्। अयं चानयोर्विशेष इति॥ ४९॥

(क) शब्दसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [५०–५७]

[पूर्वपक्षः]

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्?॥ ५०॥

वधारितसंज्ञक विषय को आँखों से देखता है तब (उद्‌बुद्धसंस्कार) 'यह गवय है' ऐसी उस संज्ञाशब्द की नियत शक्ति को प्रतिपन्न होता है—यह प्रक्रिया अनुमान कैसे हुई! क्योंकि गवय के प्रत्यक्ष की तरह अनुमान में वह्नि का प्रत्यक्ष आवश्यक नहीं!

दूसरी बात यह है कि (अनुमान से स्वयं को ज्ञान होता है, जबकि) उपमान से दूसरे को संज्ञाशब्द की व्युत्पत्ति करायी जाती है। जिसको उपमेय (गवय) का ज्ञान न हों उसको उपमान द्वारा उपमेय की प्रसिद्धि दिखला कर ज्ञान कराया जाता है।

तो परार्थोपमान ही क्यों न मान लिया जाय? नहीं; इसमें स्वयम् को भी अध्यवसाय होने से इसे परार्थोपमान नहीं मान सकते। 'जैसी गौ वैसा यह गवय है' यह स्वयम् को अध्यवसाय होता है? अध्यवसाय नहीं होता—यह हम नहीं कह रहे, हम तो कहते हैं—वैसा परार्थोपमान नहीं होता! उपमान का लक्षण है—'प्रसिद्ध-सादृश्य से साध्य की सिद्धि' (१.१.६)। जिसको दोनों (उपमा, उपमेय) ही ज्ञात है उसके लिये साध्य-साधनभाव क्या बनेगा?॥ ४८॥

'तथा'—इस उपसंहार से उपमान-सिद्धि होने से अनुमान तथा उपमान दोनों एक नहीं हो सकते॥ ४९॥

उपमान में समानधर्म का 'वैसा यह'—इस प्रकार उपसंहार होने से उपमान प्रमाण सिद्ध होता है, ऐसा उपसंहार अनुमान में नही होता। अर्थात् अनुमान में—'जैसा धूम वैसी अग्नि'—यह उपसंहार नहीं हो पाता, परन्तु उपमान में 'जैसी गौ वैसा यह गवय'—यों उपसंहार होता है। यही अनुमान तथा उपमान में भेद है। अतः दोनों को पृथक् प्रमाण माना गया॥ ४९॥

प्रत्यक्ष से अर्थोपलब्धि न होने पर अनुमेय होने से शब्दप्रमाण अनुमान है?॥ ५०॥

१. शब्दोऽनुमानम्, न प्रमाणान्तरम्; कस्मात् ? शब्दार्थस्यानुमेयत्वात् । कथमनुमेयत्वम् ? प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः । यथाऽनुपलभ्यमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चान्मीयत इति अनुमानम्, एवं मितेन शब्देन पश्चान्मीयतेऽर्थोऽनुपलभ्यमान इत्यनुमानं शब्दः ? ॥ ५० ॥

२. इतश्चानुमानं शब्दः—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ? ॥ ५१ ॥

प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरुपलब्धिः । अन्यथा ह्युपलब्धिरनुमाने, अन्यथोपमाने; तद्व्याख्यातम् । शब्दानुमानयोस्तूपलब्धिरद्विप्रवृत्तिः, यथानुमाने प्रवर्त्तते तथा शब्देऽपि विशेषाभावादनुमानं शब्द इति ? ॥ ५१ ॥

सम्बन्धाच्च ? ॥ ५२ ॥

३. शब्दोऽनुमानमिति वर्त्तते । सम्बद्धयोश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणम्, यथा सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणमिति ? ॥ ५२ ॥

[सिद्धान्तपक्षः]

१. यत्तावदर्थस्यानुमेयत्वादिति, तन्न—

---

१. शब्द अनुमान ही है, पृथक् प्रमाणान्तर नहीं; क्योंकि उसका अर्थ अनुमेय है । कैसे अनुमेय है ? प्रत्यक्ष से अनुपलब्ध होने के कारण । जैसे—अनुपलभ्यमान वह्नि प्रत्यक्ष से ज्ञात धूम अनुमित होता है, एवमेव शब्दप्रत्यक्षानन्तर उससे अनुपलभ्यमान अर्थ की अनुमिति होता है, अतः हम शब्द को अनुमान ही मान लें ? ॥ ५० ॥

२. इस वक्ष्यमाण कारण से भी शब्द अनुमान ही है—

शब्द ज्ञान के अनुमान से भिन्न प्रकार का न होने से ॥ ५१ ॥

शब्द यदि प्रमाणान्तर होता तो अनुमान से भिन्न प्रकार की उपलब्धि होनी चाहिये । आप पीछे उपमानप्रकरण में कह आये हैं—'उपमान में भिन्न उपलब्धि होती है, अनुमान में भिन्न, अतः उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है न कि अनुमानान्तर्भूत', परन्तु शब्द तथा अनुमान के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती; इन दोनों की तो समान उपलब्धि है, जैसे अनुमान से ज्ञान उत्पन्न होता है, ठीक उसी विधि से शब्द से भी । कोई विशेषता न होने से हम तो यही समझते हैं कि शब्द अनुमान ही है ॥ ५१ ॥

और सम्बन्ध से भी (शब्द अनुमान ही सिद्ध होता है) ॥ ५२ ॥

३. सम्बद्ध शब्दार्थ में ही सम्बन्ध-प्रसिद्धि होने पर शब्दोपलब्धि से अर्थग्रहण होता है, जैसे—सम्बद्ध लिङ्ग-लिङ्गी की सम्बन्ध-प्रसिद्धि होने पर लिङ्ग की उपलब्धि से लिङ्गी का ज्ञान होता है ? तात्पर्य यह निकला कि शब्द ज्ञान भी व्याप्तिज्ञानजन्य है, अतः वह वस्तुतः अनुमान ही है, उसे पृथक् प्रमाण मानने से क्या लाभ ? ॥ ५२ ॥

१. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि—'अर्थ के अनुमेय होने से शब्द प्रमाण अनुमान है', वह उचित नहीं—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

स्वर्गः, अप्परसः, उत्तरा कुरवः, सप्तद्वीपसमुद्रो[1] लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात् प्रत्ययः, किं तर्हि ? 'आप्तैरयमुक्तः शब्दः' इत्यतः सम्प्रत्ययः; विपर्यये सम्प्रत्ययाभावाद्। न त्वेवमनुमानमिति।

२. यत्पुनरुपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वादिति ? अयमेव शब्दानुमानयोरुपलब्धेः प्रवृत्तिभेदः—तत्र विशेषे सत्यहेतुर्विशेषाभावादिति।

३. यत्पुनरिदं सम्बन्धाच्चेति ? अस्ति च शब्दार्थयोः सम्बन्धोऽनुज्ञातः, अस्ति च प्रतिषिद्धः। 'अस्येदम्' इति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः, प्राप्तिलक्षणस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रतिषिद्धः। कस्मात् ? प्रमाणतोऽनुपलब्धेः[2]। प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थप्राप्तेर्नोपलब्धिः; अतीन्द्रियत्वात्। येनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दः, तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न गृह्यते। अस्ति चातीन्द्रियविषय-

---

आप्तोपदेश-सामर्थ्य से शब्द द्वारा ही अर्थज्ञान हो जाता है ॥ ५३ ॥

स्वर्ग, अप्सराएँ, उत्तर कुरुदेश, सात समुद्रवाला भूमण्डल इत्यादि अप्रत्यक्ष अर्थ का केवल शब्द से ज्ञान नहीं होता, 'आप्तपुरुषों ने यह शब्द इस अर्थ में कहा है' इस लिये उस शब्द से ज्ञान नहीं होता, अपितु 'आप्त पुरुषों ने यह शब्द इस अर्थ में कहा है' इसलिये उस शब्द से उस अर्थ का ज्ञान हो पाता है। यदि किसी शब्द के लिये वैसा आप्तोपदेष्टृत्व नहीं मिलता तो उस शब्द से शङ्कारहित ज्ञान भी नहीं होता। इस तरह शब्दज्ञान का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होता।

२. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा—'उपलब्धि भिन्न प्रकार की नहीं है' ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि शब्द की उक्त प्रवृत्ति अनुमान से भिन्न सिद्ध हो गयी। अतः अनुमान से शब्द में विशेषता आ गयी—तब 'विशेषाभाव' हेतु देना अयुक्त है।

३. पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात होना आवश्यक है, अतः सम्बन्ध होने से शब्द पृथक् प्रमाण नहीं है' ? यह भी उचित नहीं; क्योंकि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध स्वीकृत भी है, प्रतिषिद्ध भी है। जैसे—'इसका यह है' इस षष्ठी-विशिष्ट वाक्य को षष्ठी का अर्थविशेष सम्बन्ध स्वीकृत है, संयोग-समवायान्यतरस्वरूप शब्दार्थ का सम्बन्ध प्रतिषिद्ध है; ऐसा क्यों ? क्योंकि प्रमाण से उस अर्थविशेष की उपलब्धि नहीं होती। यतः प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्दार्थ-सम्बन्ध की उपलब्धि नहीं हो सकती; क्यों कि वह अतीन्द्रिय है। जिस इन्द्रिय से शब्द गृहीत होता है उस इन्द्रिय के विषयत्व को अर्थ अतिक्रान्त कर जाता है। अर्थ अतीन्द्रिय विषय है, कि शब्द उसका विषय नहीं बन

---

१. 'सप्त द्वीपाः, समुद्रो'—इति पाठा०।

२. क्वचित् सूत्रत्वेन परिगणितमेतद् भाष्यम्। न्यायसूचीनिबन्धे तु नास्ति, वृत्तिकृतापि च न व्याख्यातम्, नातः सूत्रम्।

भूतोऽप्यर्थः, समानेन चेन्द्रियेण गृह्यमाणयोः प्राप्तिर्गृह्यत इति ॥ ५३ ॥

प्राप्तिलक्षणे च गृह्यमाणे सम्बन्धे शब्दार्थयोः शब्दान्तिके वार्थः स्यात्, अर्थान्तिके वा शब्दः स्याद्, उभयं वोभयत्र। अथ खल्वयम्—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥ ५४ ॥

स्थानकरणाभावादिति चार्थः। न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते–शब्दान्तिकेऽर्थ इति। एतस्मिन् पक्षेऽप्यास्यस्थानकरणोच्चारणीयः शब्दस्तदन्तिकेऽर्थ इति—अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन्, न च गृह्यन्ते। अग्रहणान्नानुमेयः प्राप्तिलक्षणः सम्बन्धः। अर्थान्तिके शब्द इति स्थानकरणासम्भवाद् अनुच्चारणम्। स्थानम् = कण्ठादयः; करणम् = प्रयत्नविशेषः, तस्यार्थान्तिकेऽनुपपत्तिरिति। उभयप्रतिषेधाच्च नोभयम्। तस्मान्न शब्देनार्थः प्राप्त इति ॥ ५४ ॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ? ॥ ५५ ॥

सकता। व्यवहार यह देखा जाता है कि दोनों के समान इन्द्रिय से गृहीत होने पर ही उनका सम्बन्ध गृहीत होता है ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ के संयोग-समवायान्तरस्वरूप सम्बन्ध को गृहीत करते समय या तो अर्थ शब्दाधिकरण हो, या फिर शब्द अर्थाधिकरण हो या दोनों के अधिकरण हो। तब यह—

सम्बन्ध नहीं बनता; पूरण, प्रदाह, पाटन की उपलब्धि न होने से ॥ ५४ ॥

सूत्रोक्त 'च' का अर्थ कण्ठादि स्थान तथा प्रयत्नादि न होना है। यह अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता कि अर्थ शब्दाधिकरण है। इस पक्ष में कण्ठादि स्थान तथा वायुक्रियादि प्रयत्नविशेष से उच्चारणीय शब्द को अर्थ का अधिकरण माना जाये तो 'अन्न', 'अग्नि' तथा 'असि' शब्दों के उच्चारण करने पर क्रमशः उनके अर्थ 'पूरण' (पेट भरना), 'दाह' (जलना) या 'पाटन' (फाड़ना)—इनका मुख में ग्रहण होना चाहिये; परन्तु ग्रहण नहीं होता, अतः सिद्ध होता है कि शब्द-अर्थ का वैसा सम्बन्ध नहीं बनता।

'शब्द अर्थाधिकरण है'—ऐसा मानें तो अर्थ के स्थान तथा करण न होने से उच्चारण ही असम्भव है। 'स्थान' का अर्थ है कण्ठादि तथा 'करण' का वाय्वादि क्रियारूप प्रयत्नविशेष। इन दोनों की अर्थाधिकरणपक्ष में उपपत्ति नहीं बनती। इस प्रकार अर्थाधिकरणता तथा शब्दाधिकरणता—दोनों का ही प्रतिषेध हो जाने पर दोनों नहीं बनते, अतः दोनों में ही संयोगसम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

लोक में शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था देखने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ? ॥ ५५ ॥

शब्दादर्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयते—अस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम्। असम्बन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्गः। तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति? ।। ५५ ।।

अत्र समाधिः—

न; सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ।। ५६ ।।

न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम्, किं तर्हि? समयकारितं यत्तदवोचाम। 'अस्येदम्' इति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति, समयं तमवोचाम इति। कः पुनरयं समयः? 'अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयम्'–इति अभिधानाभिधेयनियमनियोगः। तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थसम्प्रत्ययो भवति। विपर्यये हि शब्दश्रवणेऽपि प्रत्ययाभावः। सम्बन्धवादिनापि चायमवर्जनीय इति।

प्रयुज्यमानग्रहणाच्च समयोपयोगो 'लौकिकानाम्। समयपालनार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्। वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थो लक्षणम्। पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति। तदेवं प्राप्तिलक्षणस्य शब्दार्थसम्बन्धस्यार्थतुषोऽपि अनुमानहेतुर्न भवतीति ।। ५६ ।।

शब्द से अर्थज्ञान होता है—ऐसा लोक में देखने से अनुमान होता है कि शब्दार्थसम्बन्ध व्यवस्था का कारण है। दोनों का सम्बन्ध न मानने पर शब्दमात्र से अर्थमात्र का ज्ञान होने लगेगा। इसलिये सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं है—ऐसा मान लें? ।। ५५ ।।

इसका उत्तर है—

नहीं; क्योंकि शब्दार्थसम्प्रत्यय सामयिक (साङ्केतिक) नहीं है ।। ५६ ।।

लोक में शब्दार्थ की व्यवस्था सम्बन्धापेक्ष नहीं; अपितु संकेतापेक्ष है। ऐसा हम दोनों कहते हैं—"'इसका यह' इस षष्ठीविशिष्ट वाक्य की किसी अर्थविशेष में स्वीकृति ही शब्दार्थ का सम्बन्ध है", तो यह हम संकेत के लिये ही कहते हैं। यह संकेत क्या है? 'इस शब्द का यह अर्थ अभिधेय है'—ऐसा विधिपरक अभिधानाभिधेय-नियम। इस नियम का उपयोग करने पर शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। इस संकेत का ज्ञान न हो तो विदेशी भाषा का शब्द सुनने पर भी हमें अर्थज्ञान नहीं हो पाता। शब्दार्थसम्बन्धवादी (मीमांसक) को भी यह संकेतनियम मानना ही पड़ेगा।

लौकिकों को प्रयुज्यमान अर्थ के ग्रहण से ही संकेत-ग्रहण होता है। इस संकेत की रक्षा के लिये 'पदलक्षण अर्थात् वाचक शब्द का अन्वाख्यान' रूप व्याकरणशास्त्र बना हैं। वाक्य रूप वाणी के शब्दों का अर्थलक्षण = भेदक है। जहाँ अर्थ परिसमाप्त हो जाता हो—वह पदसमूह 'वाक्य' कहलाता है। यों, शब्दार्थ का संयोगरूप सम्बन्ध अनुमानहेतु नहीं बन सकता–यह सिद्ध हो गया ।। ५६ ।।

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५७ ॥

सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययः, न स्वाभाविकः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्त्तते। स्वाभाविके हि शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वे यथाकामं न स्याद्, यथा—तैजसस्य प्रकाशस्य रूपप्रत्ययहेतुत्वं न जातिविशेषे व्यभिचरतीति ॥ '५७ ॥

(ख) शब्दविशेषपरीक्षाप्रकरणम् [५८–६९]

पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेषु—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ? ॥ ५८ ॥

१. तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवान् ऋषिः। शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवति। कस्मात् ? अनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते। दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वात् अदृष्टार्थमपि वाक्यम्—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते।

२. विहितव्याघातदोषाच्च—हवने 'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्' इति विधाय, विहितं व्याहन्ति—'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति,

---

जातिविशेष में नियम न होने से भी शब्दार्थ-सम्बन्ध सामयिक नहीं बनता ॥ ५७ ॥

शब्द से अर्थ का ज्ञान सांकेतिक है, न कि स्वाभाविक। ऋषि, आर्य तथा म्लेच्छ जन अर्थ-ज्ञान के लिये शब्दों का यथेच्छ आदान प्रदान करते हैं। यदि यह शब्दार्थ-सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो उनका यथेच्छ प्रयोग न हो पाता। जैसे कि सूर्य आदि का प्रकाश रूपज्ञान का स्वाभाविक हेतु है, वह कहीं अन्यजातीय में व्यभिचरित नहीं होता ॥ ५७ ॥

पूर्वपक्ष—पुत्रकामयाग, हवन तथा अभ्यास में—

मिथ्यात्व, विरोध तथा पुनरुक्ति दोष होने से शब्द में प्रामाण्य नहीं ॥ ५८ ॥

१. सूत्र में महर्षि ने 'तस्य' पद से शब्दविशेष का ग्रहण किया है। शब्द का प्रामाण्य सम्भव नहीं है; अनृत (= मिथ्या) दोष होने से, जैसे पुत्रकामेष्टि में। 'पुत्र की इच्छा रखने वाला पुरुष पुत्रकामयज्ञ करे'—यह वाक्य है, यहाँ यज्ञ के होते पुत्र जन्म नहीं दिखायी देता। यों जब उस वेद में दृष्टार्थक वाक्य ही मिथ्या है तो वहाँ के अदृष्टार्थक वाक्य—'स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे' में भी मिथ्यात्वकल्पना अनुमान से हो सकती है।

२. विहित के विरोध से भी शब्द प्रमाण नहीं हैं। जैसे हवन-प्रसङ्ग में 'उदित (सूर्य के रेखामात्र उदय होने पर) में हवन करे, अनुदित (रात्रि का सोलहवाँ भाग, जिसमें तारागण अस्त न हुए हों) में हवन करे, समयाध्युषित (प्रभात का वह समय जिसमें तारागण अस्त हो चुका हो, परन्तु सूर्योदय न हुआ हो) में हवन करे'—यह विधधानकर

श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति"। व्याघाता-च्चान्यतरन्मिथ्येति।

३. पुनरुक्तदोषाच्च–अभ्यासे देश्यमाने 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति पुनरुक्तदोषो भवति। पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति। तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृत-व्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति ॥ ५८ ॥

न; कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५९ ॥

नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ, कस्मात्? कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्। इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति। इष्टिः करणं साधनम्, पितरौ कर्तारौ, संयोगः कर्म, त्रयाणां गुणयोगात् पुत्रजन्म। वैगुण्याद्विपर्ययः। इष्ट्याश्रयं तावत्कर्म

अन्यत्र उसका विरोध किया जाता है—'जो उदित में हवन करता है, उसकी आहुति को श्याव (श्वान) खा जाता है (वह आहुति लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाती), जो अनु-दित में हवन करता है, उसकी आहुति को शबल (श्वान) खा जाता है; जो समया-ध्युषित में हवन करता है, उस आहुति को वे दोनों (श्वान) मिलकर खा जाते हैं' (उसे लक्ष्यतक नहीं पहुंचने देते)। ये दोनों उक्त वाक्य परस्परविरुद्ध हैं, अतः इनमें से कोई एक मिथ्या है।

३. शब्द प्रमाण मानने पर पुनरुक्त दोष भी आता है। जैसे—एकादश सामिधेनी के पञ्चदशत्वबोधक अभ्यास (आवृत्तिगणना) के प्रसङ्ग में—'पहली को तीन बार तथा अन्तिम को तीन बार आवृत्त करता है'। यह अभ्यास पुनरुक्तदोषसम्पन्न है। पुनरुक्त दोष प्रमत्तों के वाक्य में मिलता है, ऋषि-वाक्य में कैसे आया! यदि है तो वे भी प्रमत्त हैं, उनका वाक्य प्रमाण कैसे होगा? अतः यह सिद्ध हुआ कि अनृत, व्याघात तथा पुन-रुक्त दोषों के कारण शब्द प्रमाण नहीं है ॥ ५८ ॥

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

अनृत दोष नहीं; क्योंकि कर्मकर्तृसाधनविपर्यय से (वहाँ फलादर्शन है) ॥ ५९ ॥

पुत्रकामेष्टिप्रतिपादक श्रुति में फलदर्शन न होने से अनृत दोष दिया था, वह नहीं हैं; क्योंकि वहाँ कर्म, कर्ता, तथा करण का विपर्यय हो सकता है। यज्ञ से माता-पिता संयुक्त हो कर पुत्र पैदा करते हैं—अतः यज्ञ, साधन (करण) हुआ, माता-पिता कर्ता हुए, उनका संयोग कर्म हुआ, तीनों के उचित सम्बन्ध से पुत्र-जन्म होता है, उनके विपर्यय में नहीं होता। यज्ञाश्रित कर्मविपर्यय जैसे—यज्ञ का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान न

अत्र—'द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यां पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥'
इति बलिमन्त्रोऽनुसन्धेयः।

वैगुण्यं समीहाभ्रेषः[1], कर्तृवैगुण्यम्–अविद्वान् प्रयोक्ता कपूयाचरणश्च। साधनवैगुण्यम्–हविरसंस्कृतमुपहतमिति, मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वरवर्णहीना इति, दक्षिणा दुरागता हीना निन्दिता चेति। अथोपजनाश्रयं कर्मवैगुण्यम्—मिथ्यासम्प्रयोगः। कर्तृवैगुण्यम्—योनिव्यापादो बीजोपघातश्चेति। साधनवैगुण्यम् इष्टावभिहितम्। लोके च 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' इति विधिवाक्यम्, तत्र कर्मवैगुण्यम्–मिथ्यामन्थनम्, कर्तृवैगुण्यम्–प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः, साधनवैगुण्यम्–आर्द्रं सुषिरं दार्विति। तत्र फलं न निष्पद्यत इति नानृतदोषः; गुणयोगेन फलनिष्पत्तिदर्शनात्। न चेदं लौकिकाद्भिद्यते–'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इति ॥ ५९ ॥

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ६० ॥

न व्याघातो हवनः–इत्यनुवर्त्तते। योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति ततोऽन्यत्र

करना। कर्तृविपर्यय जैसे—माता-पिता अविद्वान् (वैदिक विधि के ज्ञाता न) हों, निन्दित आचरण वाले हों। साधनविपर्यय जैसे—हवि असंस्कृत हो, या कुत्ता बिल्ली आदि से अपवित्र कर दी गयी हो; मन्त्र स्वरवर्णहीन तथा न्यूनाधिक पढ़े जायें। यज्ञ के बाद दी जाने वाली दक्षिणा का धन जूआ, चोरी या रिश्वतखोरी से कमाया हुआ हो; कम हो, या सुवर्ण के अतिरिक्त निषिद्ध धातु के रूप में दिया जाये।

पुत्रोत्पादनाश्रित कर्मविपर्यय जैसे—मिथ्यासम्प्रयोग (अनुचित सम्बन्ध)। कर्तृविपर्यय जैसे—मातृयोनि में या पिता के शुक्र में खराबी। साधनविपर्यय तो इष्टिप्रसङ्ग में कह ही दिया गया।

लोक में भी यह विपर्यय देखते हैं—'अग्नि की इच्छा रखने वाला अरणिमन्थन करे' (दो लकड़ियों को रगड़े) यह विधिवाक्य है। यहाँ कर्मविपर्यय जैसे—गलत ढंग से उनको रगड़ना। कर्तृविपर्यय जैसे—रगड़ने वाले का प्रज्ञा या प्रयत्न में प्रमाद करना। साधन-विपर्यय जैसे—लकड़ियाँ गीली या पोली (दीमक लगी हुई) हों। यहाँ भी ऐसी स्थितियों में अग्नि नहीं बन पाती; क्योंकि यथोचित सम्बन्ध से ही फलनिष्पत्ति देखी जाती है।

पूर्वपक्षी का दिया हुआ 'पुत्रेच्छु पुत्रेष्टि से यज्ञ करे' उदाहरण में दृष्ट उदाहरण से भिन्न नहीं, अतः उसमें अनृत दोष देकर शब्द को अप्रमाण नहीं कह सकते ॥ ५९ ॥

स्वीकार करके पुनः भिन्न काल में हवन करनेवाले को उक्त दोष कहने से (व्याघातदोष नहीं है) ॥ ६० ॥

वचनव्याघात दोष भी नहीं है; क्योंकि जो अभ्युपेत हवनकाल को छोड़ कर अन्य काल में हवन करता है, ऐसे अभ्युपगत कालभेद में यह दोष कहा गया है—'श्याव श्वा

---

१. समीहा = तदङ्गसमिदादिकर्मानुष्ठानम्, तस्या भ्रेषः = भ्रंशः, अननुष्ठानमिति यावत्।

जुहोति, तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते—'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति'; तदिदं विधिभ्रेषे निन्दावचनमिति ॥ ६० ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६१ ॥

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेति प्रकृतम्। अनर्थकोऽभ्यासः = पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासः = अनुवादः। योऽयमभ्यासः 'त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इत्यनुवाद उपपद्यते; अर्थवत्त्वात्। त्रिर्वचनेन हि प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामिधेनीनां भवति। तथा च मन्त्राभिवादः[1]—'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' इति पञ्चदशसामिधेनीर्वज्रं मन्त्रोऽभिवदति, तदभ्यासमन्तरेण न स्यादिति ॥ ६१ ॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६२ ॥

प्रमाणं शब्दो यथा लोके ॥ ६२ ॥

विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६३ ॥

इसकी आहुति को खा डालता है जो उदित समय में हवन करता है'—यह विधिभ्रंश में निन्दापरक श्रुति है। इससे वचनव्याघात नहीं होता (अतः यह वचनव्याघात शब्दाप्रामाण्य में हेतु नहीं कहा जा सकता) ॥ ६० ॥

अनुवादोपपादन होने से (भी पुनरुक्त दोष नहीं है) ॥ ६१ ॥

अभ्यास में पुनरुक्त दोष नहीं है—यह प्रसङ्ग चल रहा है। निरर्थक अभ्यास (आवृत्ति) पुनरुक्त होता है, परन्तु सार्थक अभ्यास अनुवाद कहलाता है। 'प्रथम की तीन आवृत्ति तथा अन्तिम की तीन आवृत्ति करें'—इस श्रुति में यह अभ्यास सार्थक होने से अनुवाद है; क्योंकि प्रथम तथा अन्तिम के त्रिरावर्तन से सामिधेनियों में पञ्चदशत्व सिद्ध हो पायेगा। जैसा कि मन्त्राभिवाद है—'मैं इस पञ्चदश सामिधेनीरूप वाग्वज्र से शत्रु को मारूँगा, जो हमसे द्वेष करता है, या जिससे हम द्वेष करते हैं।' यहाँ पञ्चदश सामिधनीरूप वाग्वज्र का मन्त्र अभिवदन कर रहा है। यह पञ्चदशत्व एकादश सामिधेनियों में आवृत्ति के विना नहीं बन सकता। अतः अनुवाद सार्थक है ॥ ६१ ॥

वाक्यविभाग के अर्थवान् होने से भी शब्द प्रमाण है ॥ ६२ ॥

शब्द (वेद-वाक्य) प्रमाण है, सार्थक विभागवान् होने से, जैसे—लोक में (मन्त्रादिवाक्य) ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है—

१. विधि वचन २. अर्थवाद वचन तथा ३. अनुवाद वचन—यों विनियोग होने से ॥ ६३ ॥

---

१. अभि मुख्याय कर्मणे प्रवृत्तये वादो वाक्यमित्यर्थः।

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि—विधिवचनानि, अर्थवादवचनानि, अनुवादवचनानीति ॥ ६३ ॥

तत्र—

विधिर्विधायकः ॥ ६४ ॥

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु = नियोगः, अनुज्ञा वा, यथा—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि ॥ ६४ ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६५ ॥

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः, सम्प्रत्ययार्था—स्तूयमानं श्रद्दधीतेति । प्रवर्त्तिका च, फलश्रवणात् प्रवर्तते—'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति' इत्येवमादि ।

अनिष्टफलवादो निन्दा, वर्जनार्था—निन्दितं न समाचरेदिति । 'स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते[1]

ब्राह्मणाख्य श्रुतिवाक्यों का विधिवचन, अर्थवादवचन तथा अनुवादवचन—यों तीन प्रकार का विनियोग है ॥ ६३ ॥

वहाँ—

विधायक (प्रवतर्क) वाक्य को 'विधि' कहते हैं ॥ ६४ ॥

उनमें जो वाक्य विधायक है, प्रेरक (प्रवृत्तिहेतु) है, उसे 'विधि' कहते हैं । विधि-वाक्य नियोग (आदेशात्मक), तथा अनुज्ञा (कामचारात्मक) वाक्य हैं, जैसे 'स्वर्गेच्छुक अग्निहोत्र हवन करे' इत्यादि वाक्य ॥ ६४ ॥

स्तुतिवाक्य, निन्दावाक्य, परकृतिवाक्य तथा पुराकल्पवाक्य अर्थवाद हैं ॥ ६५ ॥

विधि की फलोत्कर्षबोधक प्रशंसा ही 'स्तुति' है । वह स्तुति उन मन्त्रों में साधारणजनों का विश्वास जमाने के लिये होती है कि जिसकी स्तुति की जा रही है, उसमें वे श्रद्धा करें तथा तदनुसार कर्म करें । विधि का स्तुतिपरक फल सुन कर मनुष्य उधर प्रवृत्त हो सकता है । जैसे 'विश्वजिता यजेत' इस विधिवाक्य का स्तुतिवाक्य है—'देवगण सर्वविजयी हो गये, उन्होंने सब को जीत लिया, (अतः) सर्वप्राप्ति (वशीकार) के लिये, सर्वविजय के लिये (यह विश्वजित् यज्ञ है) इससे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, सब को जीता जा सकता है'—आदि

अनिष्ट फल को बतलानेवाले वाक्य निन्दावाक्य हैं, वे उस निन्दित कर्म के निषेधक हैं । जैसे—'यों कहिये कि यह ज्योतिष्टोमयज्ञ ही सब यज्ञों में प्रथम (मूर्धन्य) है, जो इस यज्ञ को न कर अन्य (विधि) से यज्ञ करता है, वह गढे में ही गिरता है, उसका किया हुआ

१-१. 'गर्तपत्यमेव तज्जीयते वा प्रवामीयते वा' इति शावरभाष्योद्धृतः पाठः । अस्य "गर्तपतनं यथा भवति यथैव जीयते, 'ज्या वयोहानौ'"—इति व्याख्या ।

पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा[1]' इत्येवमादि ।

अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः । 'हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति अथ पृषदाज्यम्[1], तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिधारयन्ति, अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यमित्येवमभिदधति' इत्येवमादि ।

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति । 'तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा वहिष्पवमानं सामस्तोममस्तोममस्तौषन् योने यज्ञं प्रतनवामहे' इत्येवमादि ।

कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादाविति ? स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद् विध्याश्रयस्य द्योतनादर्थवादाविति ॥ ६५ ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६६ ॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च । पूर्वः शब्दानुवादः, अपरोऽर्थानुवादः । यथा पुनरुक्तं द्विविधम् एवमनुवादोऽपि । किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते ? अधिकारार्थम् । विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते, निन्दा वा, विधिशेषो वाऽभि-

---

वह अन्य यज्ञ विना फल दिये ही नष्ट हो जाता है या वह अन्यफलदृक् यष्टा असमय में मर जाता है' इत्यादि ।

अन्यकर्तृक विरोधक विधिवाक्य 'परकृति' अर्थवाद कहलाता है । जैसे—'पहले वपाहोम कर अभिधारण करे पश्चात् पृषदाज्य अभिधारण करें ? यहाँ चरकशाखा के याज्ञिक पृषदाज्य (दधिसर्पि) का पहले अभिधारण करते हैं, वे कहते हैं कि पृषदाज्य अग्नि के प्राण हैं' ।

इतिहासमिश्रित विधिवाक्य 'पुराकल्प' अर्थवाद कहलाता है । जैसे—'ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में इस वहिष्पवमान सामस्तोममन्त्र की इसीलिए स्तुति की कि इससे वे अपने यज्ञों का विस्तार कर पावें'—यहाँ पुराकाल के ब्राह्मणों द्वारा वहिष्पवमान सामस्तोम मन्त्र की स्तुति द्वारा ईसका विधान बतलाया गया है ।

परकृति, तथा पुराकल्प अर्थवाद कैसे हैं ? ये दोनों स्तुति या निन्दा वाक्य से अभिसम्बद्ध होकर विध्याश्रित किसी अर्थ का द्योतन कराने के कारण अर्थवाद हैं ॥६५॥

विधिविहित का अनुवचन अनुवाद वाक्य है ॥ ६६ ॥

विधि का अनुवचन, तथा विहित का अनुवचन 'अनुवाद' कहलाता है । इनमें प्रथम शब्दानुवाद, तथा द्वितीय अर्थानुवाद है । जैसे 'पुनरुक्त' दो प्रकार का होता है उसी प्रकार अनुवाद भी दो प्रकार का है । यहाँ विहित का अनुवाद किसलिये है ? अधिकार (फलप्राप्ति के लिये साधनप्रवृत्ति) के लिये । अर्थात् विहित को लेकर जिससे स्तुति,

---

१. 'पृषदाज्यं सदध्याज्ये'—इति अमरकोशः (२. ७. २४) ।

धीयते। विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति। एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम्।

लोकेऽपि च विधिः, अर्थवादः, अनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्। 'ओदनं पचेत्' इति विधिवाक्यम्। अर्थवादवाक्यम्–'आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्'। अनुवादः–पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः, क्षिप्रं पच्यतामिति वा, अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्, पच्यतामेवेति चावधारणार्थम्।

यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्, एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति ॥ ६६ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः; शब्दाभ्यासोपपत्तेः ? ॥ ६७ ॥

पुनरुक्तमसाधु, साधुरनुवादः–इत्ययं विशेषो नोपपद्यते, कस्मात् ? उभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते, चरितार्थस्य शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति ? ॥ ६७ ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६८ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः। कस्मात् ? अर्थवतोऽभ्यासस्यानुवादभावात्। समानेऽभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम्। अर्थवानभ्यासोऽनुवादः, शीघ्रतरगमनोपदेशवत्।

निन्दा या विधिशेष बतलाया जाये। विहितानन्तर-कर्तव्यबोधन के लिये भी अनुवाद होता है। इसी तरह अन्य उत्प्रेक्षा भी कर लेनी चाहिये।

लोक में भी, विधि, अर्थवाद तथा अनुवाद यों तीन प्रकार का वाक्य होता है। 'ओदन पकाओ' यह विधिवाक्य है। अर्थवाद वाक्य है—'आयु, तेज, बल, सुख, प्रतिभा सब कुछ अन्न में प्रतिष्ठित है'। अनुवाद वाक्य है—'आप पकाइये, पकाइये'—यह आवृत्ति, या 'जल्दी पकाइये'। 'अरे, पकाओ' यह अध्येषणार्थक अनुवाद है, तथा 'पकाइये ही'—यह अवधारणार्थक अनुवादवाक्य है।

जैसे लौकिक वाक्य में विभाग द्वारा अर्थग्रहण होने से वह प्रमाण है, उसी तरह वेदवाक्यों का भी विभाग से अर्थग्रहण होने से उसमें प्रामाण्य मानना उचित ही है ॥ ६६ ॥

शब्दाभ्यासोपपादनमात्र होने से अनुवाद और पुनरुक्त में कोई अन्तर नहीं ? ॥ ६७ ॥

'पुनरुक्त दोष है, तथा अनुवाद सार्थक होने से समीचीन है'—यह विभाजन ठीक नहीं; क्योंकि दोनों में जिसका अर्थ पहले से जान लिया गया है, ऐसा शब्द ही दुहराया जाता है। चरितार्थ शब्द के दुहराये जाने से दोनों ही निरर्थक हैं ? ॥ ६७ ॥

अधिक जल्दी चलने के आदेश की तरह अनुवाद से पुनरुक्त की समानता नहीं है ॥ ६८ ॥

अनुवाद और पुनरुक्त में समानता नहीं; क्योंकि सार्थक आवृत्ति ही अनुवाद कहलाती है। निष्प्रयोजन आवृत्ति में पुनरुक्त निरर्थक होता है, पर सार्थक अभ्यास तो

शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम्, शीघ्रतरं गम्यतामिति क्रियातिशयोऽभ्यासेनैवोच्यते। उदाहरणार्थं चेदम्। एवमन्योऽप्यभ्यासः। 'पचति पचति' इति क्रियानुपरमः। 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' इति व्याप्तिः। 'परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः' इति परिवर्जनम्। 'अध्यधिकुड्यं निषण्णम्' इति सामीप्यम्। 'तिक्तं तिक्तम्' इति प्रकारः। एवमनुवादस्य स्तुतिनिन्दाशेषविधिष्वधिकारार्थता, विहितानन्तरार्थता चेति ॥ ६८ ॥

किं पुनः प्रतिषेधहेतूद्धारादेव शब्दस्य प्रमाणत्वं सिध्यति ? न; अतश्च—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्, आप्तप्रामाण्यात् ॥ ६९ ॥

किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यम् ? तत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते—इदं कृत्वेष्टमधिगच्छति, इदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति, तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः।

मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव एतत् प्रामाण्यम्। किं कृतमेतत् ? आप्तप्रामाण्यकृतम्। किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम् ?

अनुवाद ही होगा। जैसे—'जल्दी-जल्दी चलिये, और जल्दी चलिये'—यहाँ गमनक्रियातिशय अभ्यास (आवृत्ति) से ही कहा जा सकता है। यह एक उदाहरण दे दिया, अन्य उदाहरणों की भी कल्पना कर लेना चाहिये। 'पकाता है, पकाता है' यह अभ्यास क्रियासातत्य, 'इस देश का ग्राम-ग्राम रमणीय हैं' यह व्याप्ति, 'त्रिगर्त देश से परे परे वर्षा हुई' यह त्रिगर्त्त में वृष्टिपरिवर्जन, 'दीवाल दीवाल पर बैठा हुआ' यह अभ्यास सामीप्य का बोधक है। 'तिक्त-तिक्त' यह अभ्यास प्रकार (भेद) का बोधन कराता है।

इस प्रकार अनुवाद स्तुति, निन्दा, विधिशेष में तथा विहितानन्तरकर्तव्यता के बोधन कराने में काम आता है, अतः सार्थक है। (परन्तु पुनरुक्त, अर्थवान् न होने से दोषरूप है। अतः दोनों में कोई समानता नहीं है) ॥ ६८ ॥

क्या पूर्वपक्षी द्वारा उठायी गयी आशङ्काओं के निवारण से ही शब्द प्रमाण सिद्ध हो जाता है ? नहीं; इसलिये भी—

मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्य की तरह उसमें भी प्रामाण्य है; क्योंकि वह भी आप्तोदेश है ॥ ६९ ॥

आयुर्वेद का प्रामाण्य क्या है ? यह आयुर्वेद उपदेश करता है—'यह करके इष्ट (स्वास्थ्य) को प्राप्त किया जा सकता है, या यह न करके अनिष्ट (रोग) से छुटकारा पाया जा सकता है'। इस उपदेश के अनुसार चलने से वैसा ही सत्यार्थ, (अनुकूल कार्य) होता देखा गया है।

मन्त्रों से भी विष, भूत प्रेत, तथा टोना-टोटका का प्रतिषेध देखा जाने से, मन्त्रों की सत्यार्थता (यथार्थता) स्पष्ट है, अतः उनमें प्रामाण्य है। यह प्रामाण्य उनमें कैसे आता है ? आप्तोपदेश के प्रामाण्य से। आप्तोदेश में क्या प्रामाण्य है ? उस विषय का साक्षा-

साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति । आप्ताः खलु साक्षात्कृत-धर्माणः 'इदं हातव्यम्, इदमस्य हानिहेतुः, इदमस्याधिगन्तव्यम्, इदमस्याधिगम-हेतुः' इति भूतान्यनुकम्पन्ते । तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वयमनवबुध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति । न चानवबोधे समीहा, वर्जनं वा, न वाऽकृत्वा स्वस्तिभावः, नाप्यस्यान्य उपकारकोऽप्यस्ति । 'वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूत-मुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्ति' इति एवमाप्तोपदेशः । एतेन त्रिविधेनाप्तप्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽ-र्थस्य साधको भवति, एवमाप्तोपदेशः प्रमाणम् । एवमाप्ताः प्रमाणम् ।

दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनादृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति । आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति । अस्यापि चैकदेशः 'ग्रामकामो यजेत' इत्येवमादिर्दृष्टार्थस्तेनानुमातव्यमिति ।

लोके च भूयानुपदेशाश्रयो व्यवहारः । लौकिकस्याप्युपदेष्टुरुपदेष्टव्यार्थ-ज्ञानेन परानुजिघृक्षया यथाभूतार्थचिख्यापयिषया च प्रामाण्यं तत्परिग्रहादाप्तोप-देशः प्रमाणमिति ।

त्कार, प्राणियों पर दया (उनके अहित की परिहारेच्छा) तथा यथार्थकथन की इच्छा । आप्त जन उस विषय को साक्षात् किये रहते हैं और 'यह छोड़ देना चाहिये, यह इसके छोड़ देने में कारण है' या 'यह ग्रहण करना चाहिए, यह इसके ग्रहण में कारण है'—यों उपदेश द्वारा वे साधारण जनों पर दया करते हैं ! वे साधारण प्राणी स्वयं हिताहित को नहीं समझ पाते, उपदेश बिना उन्हें समझने में दूसरा कोई कारण नहीं । समझ आये विना हित की इच्छा तथा अहित का परिवर्जन नहीं बनेगा, और विना हिताचरण (दवा-आदि) किये स्वस्तिभाव (स्वास्थ्य-आदि कल्याण) नहीं होगा, उसका कोई अन्य साथी भी नहीं है जो उसका हित सोच सके ! तब वे आप्तपुरुष सोचते हैं कि 'हम इन निरीह प्राणियों को जैसा हमने देखा है वैसे सत्य का उपदेश करें ताकि ये हेय को छोड़ दें, अधिगन्तव्य को प्राप्त कर लें' । यही आप्तोपदेश है । इस तीन प्रकार के आप्त प्रामाण्य से परिगृहीत हो क्रियमाण वह आप्तोदेश प्रयोजन का साधन होता है । यों, हमारे मत में आप्तोपदेश और आप्त पुरुष दोनों प्रमाण हैं ।

दृष्टार्थ आप्तोदेश आयुर्वेद से अदृष्टार्थक आप्तोदेश वेदभाग के प्रामाण्य का अनु-मान कर लेना चाहिये; क्योंकि 'आप्तोपदेश' हेतु उभयत्र समान है । इस वेदभाग का भी 'ग्राम की इच्छा करने वाला यज्ञ करे'—यह एकदेश तो दृष्टार्थ है ही, इस दृष्टार्थ से भी अवशिष्ट अदृष्टार्थ में प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिए ।

लोक में बहुत सा व्यवहार आप्तोपदेशाश्रित ही है । लौकिक उपदेष्टा के उपदेष्टव्य अर्थज्ञान से दूसरे प्राणियों पर अनुग्रहाकांक्षा से या उसकी यथाभूत अर्थ को बतलाने की इच्छा से उसके उपदेश में प्रामाण्य आता है, तथा उस उपदेश के अनुसार साधारणजनों द्वारा आचरण किया जाता है, अतः आप्तोपदेश प्रमाण है ।

द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्—इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति।

नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्ययुक्तम्। शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न; नित्यत्वात्। नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तिः। नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेद्, न; लौकिकेष्वदर्शनात्। तेऽपि नित्या इति चेद्, न; अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः। नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति। अनित्यः स इति चेत्? अविशेषवचनम्। अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति! यथानियोगं चार्थस्य प्रत्यायनाद् नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं नित्यत्वात् प्रामाण्यानुपपत्तिः। यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके, तस्य नियोगसामर्थ्यात् प्रत्यायको भवति; न नित्यत्वात्।

मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां

द्रष्टा तथा प्रवक्ता के उभयत्र समान होने से भी उस अदृष्टार्थ में प्रामाण्य का अनुमान कर लेना चाहिये। जो आप्त पुरुष वेदमन्त्रों के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के प्रवक्ता हैं, जब उनसे उपदिष्ट आयुर्वेदादि सत्य हैं तो उन्हीं द्वारा उपदिष्ट वेदमन्त्र भी सत्य होने चाहिये—यों अनुमान करना चाहिये।

वेदवाक्यों के नित्य होने से ही उनमें प्रामाण्य है, फिर यहाँ उन्हें आप्तोदेश मान कर उनमें प्रामाण्य सिद्ध करना अनुचित है? (तथा परस्परविरोधी भी है, क्योंकि जो नित्य है वह आप्तोपदिष्ट क्यों कर होगा?) शब्द का वाचत्व (संकेत से बोधकत्व) हेतु से अर्थप्रतिपादन में प्रामाण्य है, न कि नित्यत्व हेतु से। केवल नित्यत्व मानने पर सबका सबसे ज्ञान होने से शब्द-अर्थ की 'इस शब्द का यह अर्थ है'—यह व्यवस्था नहीं बनेगी। अनित्य मानने पर उसमें वाचकत्व न बनें—ऐसी बात भी नहीं; क्योंकि अनित्य लौकिक शब्दों में भी अर्थ देखा जाता है, नित्यत्व नहीं। उन लौकिक शब्दों को भी नित्य मान लेने पर, उनमें से कुछ के अनाप्तोपदेश होने से जो अर्थवैपरीत्य देखा जाता है, वह अनुपपन्न होने लगेगा; क्योंकि नित्य होने से ही शब्द प्रमाण है! अनाप्तोदिष्ट 'शब्द अनित्य है' यह वचन तो लौकिक यथार्थ प्राकृत शब्दों में भी संगत हो सकता है। लौकिक अनाप्तोपदेश ही अनित्य मानना है तो उसमें कोई हेतु दिखाना चाहिये। शब्द के साथ यथासंकेत अर्थ-ज्ञान होने से संज्ञाशब्दों का लोक में प्रामाण्य है। नित्यत्व के रहने से प्रामाण्य नहीं बनता। एवं च—लौकिक शब्द जिस अर्थ में संकेतित है, उसका वह ज्ञान करा देता है, न कि नित्य होने से ज्ञान कराता है।

अतीतानागत मन्वन्तर-युगान्तर में सम्प्रदायाभ्यास-प्रयोग से उनका निरन्तर बना

नित्यत्वम्। आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यम्। लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति ॥ ६९ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

●

[द्वितीयमाह्निकम्]

प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षाप्रकरणम् [१-१२]

[पूर्वपक्षः]

अयथार्थः प्रमाणोद्देश[1] इति मत्वाऽऽह—

न चतुष्ट्वम्, ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि ? ऐतिह्यम्, अर्थापत्तिः, सम्भवः, अभावः- इत्येतान्यपि प्रमाणानि, तानि कस्मान्नोक्तानि ?

'इति होचुः' इत्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्— ऐतिह्यम्।

रहना ही वेदों का नित्यत्व है। आप्तप्रमाण्य होने से उनका प्रामाण्य है—यह बात लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों में समान है ॥ ६९ ॥

वात्स्यायनीय न्याय(भाष्यसहित न्यायदर्शन) के द्वितीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त

●

सिद्धान्ती का किया हुआ प्रमाणों का नाम से परिगणन यथार्थ नहीं, ऐसा मानकर पूर्वपक्षी कहता है—

केवल चार ही प्रमाण नहीं; अपितु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव भी प्रमाण हैं ? ॥ १ ॥

शङ्का—चार ही प्रमाण नहीं; बल्कि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव—ये भी प्रमाण हैं, इनका परिगणन क्यों नहीं किया ?

'ऐसा किन्हीं ने कहा था'—यों वक्ता का नामनिर्देश न होते हुये जो प्रवाद-(जनश्रुति) परम्परा चली आती है, 'उसे 'ऐतिह्य' कहते हैं।

---

१. प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः, कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चापि साङ्ख्याः शब्दश्च ते उभे ॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन ॥
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥

इत्यभियुक्तोक्त्या प्रमाणविभाजकसंख्यायां संशय इति भावः।

अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः। आपत्तिः = प्राप्तिः, प्रसङ्गः। यत्राभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः, यथा–मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति। किमत्र प्रसज्यते ? सत्सु भवतीति।

सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणदन्यस्य सत्ताग्रहणम्, यथा–द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम्, आढकस्य सत्ताग्रहणात् प्रस्थस्येति।

अभावः = विरोधी, अभूतं भूतस्य, अविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकम्, विधारके हि वाय्वभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति ? ॥ १ ॥

सत्यम् एतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणान्तराणि। प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन प्रतिषेध उच्यते। सोऽयम्—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

अनुपपन्नः प्रतिषेधः। कथम् ? 'आप्तोपदेशः शब्दः' इति, न च शब्दलक्षणमैतिह्याद्व्यावर्त्तते। सोऽयं भेदः सामान्यात् सङ्गृह्यत इति। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य

फल से आपादन (प्रत्ययविशेषप्रसक्ति) को 'अर्थापत्ति' कहते हैं। आपत्ति = प्राप्ति, अर्थात् प्रसङ्ग। जहाँ अभिधीयमान अर्थ में अन्य अर्थ प्रसक्त हो उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे—'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती'। यहाँ अन्य अर्थ प्रसक्त हुआ—'मेघों के होने पर वृष्टि होती है'।

सम्भव से तात्पर्य है; 'अविनाभावी अर्थ की सत्ता के ग्रहण से अन्य की सत्ता का भी ग्रहण'। जैसे—द्रोण (परिमाणविशेष) की सत्ता के ग्रहण से आढक की सत्ता का ग्रहण, आढक की सत्ता के ग्रहण से प्रस्थ की सत्ता का ग्रहण।

अभाव कहते हैं विरोधी को, यथा-भूत का विरोधी अभूत। जैसे—वर्षा का अविद्यमान होना विद्यमान वायु-मेघ के संयोग का प्रतिपादक है अर्थात् मेघ होने पर वृष्टि का अभाव बतलाता है कि धारणाविरोधी वायु-मेघ संयोग के गुरु होने से जल का पतन नहीं होगा ? ॥ १ ॥

समाधान—अवश्य ये प्रमाण हैं; परन्तु प्रमाणान्तर नहीं हैं। प्रमाणान्तर मानकर हमारे पूर्वोक्त परिगणन का निषेध किया जा रहा है, यह उचित नहीं; क्योंकि—

शब्द में ऐतिह्य का तथा अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो जाने से, और सम्भव या अभाव के प्रमाणान्तर न होने से (प्रमाणचतुष्ट्व का निषेध कैसे होगा !) ॥२॥

यह परिगणन का निषेध नहीं बनता; क्योंकि हमने पीछे कहा है—'आप्तोदेश शब्द प्रमाण होता है' (१. १. ७)। यह शब्द प्रमाण ऐतिह्य से व्यावृत्त नहीं होता। अतः यह ऐतिह्यरूप शब्द का भेद समानतया शब्द में ही अन्तर्भूत (संगृहीत) हो सकता

सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम् । तथा चार्थपत्तिसम्भवाभावाः । वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव ।

अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः, तदप्यनुमानमेव ।

'अस्मिन् सतीदं नोपपद्यते' इति विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुत्पत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनुमीयते । सोऽयं यथार्थं एव प्रमाणोद्देश इति ॥ २ ॥

अर्थापत्तिप्रामाण्यपरीक्षा

'सत्यमेतानि प्रमाणानि, न तु प्रमाणन्तराणि' इत्युक्तम्, अत्रार्थापत्तेः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते । तथा हीयम्—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ? ॥ ३ ॥

असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीति सत्सु भवतीत्येतदर्थादापद्यते, सत्स्वपि चैकदा न भवति—सेयमर्थापत्तिरप्रमाणमिति ? ॥ ३ ॥

नानैकान्तिकत्वमर्थापत्तेः;

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥

है । प्रत्यक्ष द्वारा सम्बद्ध व्याप्यव्यापकभावापन्न अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादन करना अनुमान का कार्य है । आपके अर्थापत्ति, संभव, और अभाव भी यही कार्य करते हैं । वाक्यार्थज्ञान से अनभिहित अर्थ का विरोधी भाव से ज्ञान अर्थापत्ति कहलाता है, यह अनुमान ही तो है । अविनाभाववृत्ति से सम्बद्ध समुदाय-समुदायी के समुदाय से दूसरे अर्थ का ग्रहण होना 'सम्भव' कहलाता है, यह भी अनुमान ही है । 'इसके होने पर यह नहीं होता'—ऐसे विरोधी प्रतिवन्धक के प्रसिद्ध होने पर कार्य की अनुपपत्ति से प्रतिबन्धक कारण का अनुमान होता है, अतः 'अभाव' भी अनुमान ही है । इसलिए हमारा प्रमाणपरिगणन यथार्थ ही है ।। २ ।।

शङ्का—आपने कहा–'सचमुच ये प्रमाण हैं, परन्तु प्रमाणान्तर नहीं हैं'; यहाँ अर्थापत्ति में प्रमाणत्वस्वीकृति हमें जची नहीं; क्योंकि यह—

अर्थापत्ति अप्रमाण है, अनैकान्तिक (व्यभिचार) होने से ? ।। ३ ।।

'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती' इस वाक्य से अर्थापत्ति द्वारा आप यह गृहीत करते हैं कि 'मेघ होने पर वृष्टि होती है'; परन्तु सचाई यह है कि कभी-कभी मेघ होने पर वृष्टि नहीं भी होती । अतः यह अर्थापत्ति प्रमाण नहीं बनता ? ।। ३ ।।

उत्तर—अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं है; क्योंकि—

अनर्थापत्तिरूप उक्त उदाहरण में अर्थापत्त्यभिमान किया जाने से ।। ४ ।।

'असति कारणे कार्यं नोत्पद्यते' इति वाक्यात्प्रत्यनीकभूतोऽर्थः सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इत्यर्थादापद्यते। अभावस्य हि भावः प्रत्यनीक इति। सोऽयं कार्योत्पादतः सति कारणेऽर्थादापद्यमानो न कारणस्य सत्तां व्यभिचरति, न खल्वसति कारणे कार्यमुत्पद्यते, तस्मान्नानैकान्तिकी।

यत्तु सति कारणे निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यं नोत्पद्यत इति ? कारणधर्मोऽसौ, न त्वर्थापत्तेः प्रमेयम्। किं तर्ह्यस्याः प्रमेयम् ? सति कारणे कार्यमुत्पद्यते इति योऽसौ कार्योत्पादः कारणस्य सत्तां न व्यभिचरति तदस्याः प्रमेयम्। एवं तु सत्यनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानं कृत्वा प्रतिषेध उच्यते इति। दृष्टश्च कारणधर्मो न शक्यः प्रत्याख्यातुमिति ॥ ४ ॥

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थापत्तिर्न प्रमाणमनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः। तेनानेनार्थापत्तेः प्रमाणत्वं प्रतिषिध्यते, न सद्भावः—एवमनैकान्तिको भवति। अनैकान्तिकत्वादप्रमाणेनानेन न कश्चिदर्थः प्रतिषिध्यते इति ॥ ५ ॥

'कारण न होने पर कार्य नहीं होता' इस सिद्धान्त से 'कारण होने पर कार्य होता है'—यह विरोधी अर्थ अनुमान से ज्ञात हो जाता है। अभाव का भाव-विरोधी अर्थ है। यह कार्योत्पत्ति अनुमान से मालूम होती हुई कारण की सत्ता को व्यभिचरित नहीं करती। यह तो नहीं होता कि कारण न होने पर भी कार्य होता है। अतः अर्थापत्ति में अनैकान्तिकत्व दोष कैसे दिया जा सकता है !

यह भी होता है कि 'कारण होने पर भी निमित्तप्रतिवन्ध से कार्य उत्पन्न नहीं होता' ? यह प्रतिवन्धक कारण-धर्म है। ऐसा उदाहरण अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं बन सकता। तो इसका प्रमेय क्या है ? 'कारण होने पर कार्य होता है' इस व्याप्ति से जो कार्योत्पत्ति होती है वह कारण की सत्ता को व्यभिचरित न करे तो वैसा स्थल अर्थापत्ति का प्रमेय वन सकता है। पूर्वपक्षी का उदाहरण अर्थापत्ति का नहीं था, परन्तु उसने उसे उदाहरण मानकर प्रामाण्य-प्रतिषेध में उपस्थित कर दिया। यदि एक बार कहीं प्रतिवन्धक कारणधर्म प्रत्यक्ष कर लिया गया हो तो उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है ॥ ४ ॥

व्यभिचारदोष होने से प्रतिषेध में प्रामाण्य भी नहीं बनता ॥ ५ ॥

'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं हैं, हेतु के अनैकान्तिक होने से'—यह पूर्वपक्षी ने कहा था। इस तरह वह अर्थापत्ति के प्रामाण्य का खण्डन कर सकता है, परन्तु उसकी सत्ता का खण्डन नहीं हुआ; (क्योंकि लोक में ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अनैकान्तिक है, वह सव होता ही नहीं।) अतः यह प्रतिषेधहेतु स्वयं अनैकान्तिक वन गया। अनैकान्तिक होने के कारण इस प्रतिषेधहेतु से किसी अर्थ का प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है ! ॥५॥

अथ मन्यसे—नियतविषयेष्वर्थेषु स्वविषये व्यभिचारो भवति, न च प्रतिषेधस्य सद्भावो विषयः ? एवं तर्हि—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

अर्थापत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अव्यभिचारो विषयः। न च कारणधर्मो निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादकत्वमिति ॥ ६ ॥

अभावप्रामाण्यसिद्धिः

अभावस्य तर्हि प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते। कथमिति ?

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ? ॥ ७ ॥

अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धे वैजात्यादुच्यते, नाभावप्रमाण्यम्; प्रमेयासिद्धेरिति ॥ ७ ॥

अथायमर्थबहुत्वादर्थैकदेश उदाह्रियते—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः ॥ ८ ॥

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम्। कथम् ? लक्षितेषु वासःसु अनुपादेयेषु उपादेयानामलक्षितानामलंक्षणलक्षितत्वाद् लक्षणाभावेन लक्षितत्वादिति।

यदि यह कहो कि अर्थों में नियतविषयकत्व होने से स्वविषय में व्यभिचार वन सकता है, हम हेतु की सत्ता का निषेध नहीं कर रहे ? तव भी—

प्रमाण माना जाने पर भी, वह प्रतिषेध अर्थापत्ति में सिद्ध नहीं होता ॥ ६ ॥

अर्थापत्ति का भी 'कार्योत्पत्ति (वृष्टि) से कारणसत्ता (मेघसत्ता) का व्यभिचार न होना' विषय है। कारणधर्म (मेघसत्ता) प्रतिवन्धकनिमित्त होने पर कार्य (वर्षा) की उत्पत्ति न करे तो वह अर्थापत्ति का उदाहरण नहीं वन सकता ॥ ६ ॥

शङ्का—अभाव को प्रमाण मानना आपका उचित नहीं;

अभाव प्रमाण नहीं है; क्योंकि उसका कोई प्रमेय नहीं मिलता ? ॥ ७ ॥

क्योंकि अभाव का वहुत सा प्रमेय तो लोकसिद्ध ही है, इसमें वैजात्य नहीं है, अतः अभाव प्रमाण से सिद्ध होने वाला कोई प्रमेय न मिलने से वह प्रमाण नहीं है ? ॥ ७ ॥

उत्तर—अर्थवहुत्व होने पर भी अर्थैकदेश ही उपस्थित किया जा रहा है—

लक्षितों में अलक्षणलक्षित होने से अलक्षित अभाव के प्रमेय बन जायेंगे ॥ ८ ॥

उस अभाव का भी प्रमेय वन सकता है, कौन ? किसी वस्तु का लक्षण कर देने पर उस लक्षण से व्यतिरिक्त पदार्थ। जैसे–चिह्नित तथा अचिह्नित, उभयविध बस्त्रों के रहते कोई किसी से अचिह्नित वस्त्र मँगवाता है तो वह झट चिह्नित वस्त्रों को उनमें से हटा कर अचिह्नित वस्त्र ले आता है। यहाँ उन अचिह्नित वस्त्रों का ज्ञान कैसे हुआ ?

उभयसन्निधावलक्षितानि वासांस्यानयेति प्रयुक्तो येषु वासस्सु लक्षणानि न भवन्ति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते, प्रतिपद्य चानयति। प्रतिपत्तिहेतुश्च प्रमाणमिति ॥ ८ ॥

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्न; अन्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ९ ॥

यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते। न चालक्षितेषु वासस्सु लक्षणानि भूत्वा न भवन्ति, तस्मात्तेषु लक्षणाभावोऽनुपपन्न इति? न; अन्यलक्षणोपपत्तेः। यथाऽयमन्येषु वासस्सु लक्षणानामुपपत्तिं पश्यति, नैवमलक्षितेषु। सोऽयं लक्षणाभावं पश्यन्नभावेनार्थं प्रतिपद्यत इति ॥ ९ ॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः? ॥ १० ॥

तेषु वासस्सु लक्षितेषु सिद्धिर्विद्यमानता येषां भवति, न तेषामभावो लक्षणानाम्। यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्षणानि, तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः। यानि खलु भवन्ति तेषामभावो व्याहत इति? ॥ १० ॥

न; लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ॥ ११ ॥

केवल चिह्न न होना ही उन अचिह्नित वस्त्रों को चिह्नित वस्त्रों से पृथक् कर रहा था, अतः चिह्नाभाव वाले जितने वस्त्र मिले उन्हें वह ले आया। यहाँ चिह्नाभाव ही उस ज्ञान में कारण बना, अतः अभाव का प्रामाण्य सिद्ध है ॥ ८ ॥

'अर्थ (सत्ता) के न होने पर अभाव नहीं बनेगा'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उस अभाव का अन्य लक्षणों से उपपादन हो सकता है ॥ ९ ॥

जहाँ कुछ पहले है फिर वह न रहे, तब तो उसका अभाव बताना ठीक है, परन्तु जो है ही नहीं उसका अभाव कैसे होगा? अचिह्नित वस्त्रों में तो कोई चिह्न था नहीं, फिर उनमें चिह्नाभाव का ज्ञान प्रयोक्ता को कैसे हो गया?—यह पूर्वपक्षी का मन्तव्य भी उचित नहीं; क्योंकि अन्य लक्षणों द्वारा वहाँ उस अभाव का ज्ञान बन सकता है। यथा—वह प्रयोक्ता चिह्नित वस्त्रों में जैसे लक्षण पाता है वैसे अचिह्नितों में नहीं पावे तो 'वैसे लक्षण न पाना' ही एक तरह से उस अभाव का लक्षण उपपन्न हो गया और अचिह्नित अर्थ का बोधक बन गया ॥ ९ ॥

अलक्षितों में उस लक्षण का न होना अभाव की सिद्धि में हेतु नहीं बन सकता? ॥ १० ॥

उन चिह्नित वस्त्रों में जिन लक्षणों की विद्यमानता है, उनका अभाव तो है नहीं, फिर जो लक्षण (चिह्न) लक्षित (चिह्नित) में हैं, उनका अलक्षितों में भी अभाव बताना हेतु कैसे बनेगा? क्योंकि जो हैं उनका अभाव बताना तो विरुद्ध है? ॥ १० ॥

अहेतु नहीं है; लक्षणावस्थित की अपेक्षा से उसकी सिद्धि हो जायेगी ॥ ११ ॥

न ब्रूमः–यानि लक्षणानि भवन्ति तेषामभाव इति, किन्तु केषुचिल्लक्षणान्यवस्थितानि, अनवस्थितानि केषुचित्। अपेक्षमाणो येषु लक्षणानां भावं न पश्यति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यत इति ॥ ११ ॥

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

अभावद्वैतं खलु भवति—प्राक् चोत्पत्तेरविद्यमानता, उत्पन्नस्य चात्मनो हानादविद्यमानता। तत्रालक्षितेषु वासस्सु प्रागुत्पत्तेरविद्यमानतालक्षणो लक्षणानामभावः, नेतर इति ॥ १२ ॥

शब्दानित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१३-३९]

'आप्तोपदेशः शब्दः' इति प्रमाणभावे विशेषणं ब्रुवता नानाप्रकारः शब्द इति ज्ञाप्यते। तस्मिन् सामान्येन विचारः—किं नित्यः, अथानित्य इति ? विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः।

१. आकाशगुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके। २. गन्धादिसहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे। ३. आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको बुद्धिवदित्यपरे। ४. महाभूतसंक्षोभजः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्तिधर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये।

हम यह नहीं कहते कि 'जो लक्षण हैं, उनका अभाव है'; अपितु 'कुछ में लक्षणों के होने पर, कुछ अलक्षितों में व्यवस्थित (वृत्ति) भी रह जाते हैं, प्रयोक्ता जिन वस्तुओं में उन लक्षणों को नहीं देख पाता उनको लक्षणाभाव से जान लेता है' ॥ ११ ॥

उत्पत्ति से पूर्व अभावोपपत्ति बन जाने से भी अहेतु नहीं है ॥ १२ ॥

दो प्रकार का अभाव होता है—१. उत्पत्ति से पहले वस्तु का न रहना, तथा २. उत्पन्न के नाश से न रहना। यहाँ अचिह्नित वस्त्रों में उत्पत्ति से पूर्व पहले वाला अभाव है, न कि दूसरे प्रकार का। अतः यहाँ वस्तु को अविद्यमानता के लक्षण का अभाव सिद्ध हुआ उससे प्रमेय का प्रतिपादन होने से वह प्रमाण है—यह सिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

प्रमाण-लक्षण में 'आप्तोपदेश'—यह विशेषण देकर 'शब्द नाना प्रकार का होता है' यह वताया है। उस शब्द पर साधारणतः विचार कर रहे हैं कि क्या वह नित्य है, या अनित्य ? क्योंकि विप्रतिपत्ति के विमर्शापेक्ष होने पर संशय हुआ ही करता है।

वहाँ कुछ (मीमांसक) विद्वान् शब्द को विभु, नित्य तथा अभिव्यक्तिधर्मक मानते हैं। कुछ (साङ्ख्यकार) विद्वान् 'शब्द गन्धादि के साथ द्रव्य में रहने वाला गन्धादि की तरह रहता हुआ अभिव्यक्तिधर्मक है'—ऐसा मानते हैं। दूसरे (वैशेषिक) विद्वान् शब्द को आकाश का गुण तथा उत्पत्तिनिरोधधर्मक मानते हैं। 'महाभूतों के संयोगविशेष से उत्पन्न होनेवाला शब्द अनाश्रित है, उत्पत्तिधर्मा भी है, और निरोधधर्मा भी'—ऐसा कुछ (बौद्ध) विद्वान् मानते हैं।

अतः संशयः—किमत्र तत्त्वमिति ?

अनित्यः शब्द इत्युत्तरम् । कथम् ?

[1]आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ १३ ॥

आदिः = योनिः, कारणम्, आदीयते अस्मादिति । कारणवदनित्यं दृष्टम् । संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति । का पुनरियमर्थदेशना—कारणवत्त्वादिति ? उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति, भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति ।

सांशयिकमेतत्—किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य, आहोस्विदभिव्यक्तिकारणम् ? इत्यत आह—ऐन्द्रियकत्वात् । इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः । किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत् ? अथ संयोगजाच्छब्दासन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति ?

संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम् । दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते । न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं

अतः सन्देह होता है कि इनके कौन मत समीचीन है ?

'शब्द अनित्य है'—यह (नैयायिकों का) उत्तर है । कैसे ?—

आदिमान् होने से, ऐन्द्रियक होने से, अनित्य की तरह उपचार होने से ॥ १३ ॥

आदि से तात्पर्य है योनि, अर्थात् कारण—जिससे आदान (उत्पादन) किया जाये । जो कारणवान् है वह अनित्य देखा गया है । शब्द भी संयोगविभागज होने से कारणवान् है, अतः अनित्य है । यह क्या अर्थदेशना (अर्थप्राप्ति) हुई कि 'कारण होने से' ? हमारा मतलव है उत्पत्तिधर्मवान् होने से शब्द अनित्य है, तथा वह होकर नहीं होता है (विनष्ट हो जाता है), अतः विनाशधर्मक है !

तव तो संशय उठ खड़ा होगा कि क्या ये संयोगविभाग शब्द के उत्पत्तिकारण हैं ? या अभिव्यक्तिकारण ? इसलिये कहते हैं—ऐन्द्रियक होने से । इन्द्रिय के सन्निकर्ष से गृहीत होनेवाला 'ऐन्द्रियक' कहलाता है ।

क्या यह शब्द व्यञ्जक (इन्द्रिय संयोग) से समानदेशस्थ एकाधिकरणवृत्ति होता हुआ रूप की तरह अभिव्यक्त होता है ? या संयोगज शब्द से शब्दसन्तान होने पर श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यासन्न (सम्वद्ध) होता हुआ गृहीत होता है ?

संयोगनिवृत्ति होने पर भी शब्द का ग्रहण होता है, अतः व्यञ्जक से समानाधिकरण हो कर उस समान देश का ग्रहण नहीं हो सकता । काष्ठछेदनकाल में परशुदारुसंयोग की निवृत्ति होनेपर भी दूरस्थ व्यक्ति को जैसे शब्द गृहीत होता है । व्यञ्जक के विना व्यङ्ग्य का ग्रहण नहीं हुआ करता । इसलिये यहाँ संयोग व्यञ्जक नहीं है ।

---

१. वेदानां नित्यत्वे शाब्दप्रामाण्यप्रयोजकगुणविरहप्रयुक्ताप्रामाण्यसम्भवनिरासाय शब्दानित्यत्वप्रकरणमारभते सूत्रकारः ।

भवति, तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः, उत्पादके तु संयोगे संयोगजाच्छब्दाच्छब्द-सन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहणम्–इति युक्तं संयोगनिवृत्तौ शब्दस्य ग्रहणमिति ।

इतश्च शब्द उत्पद्यते, नाभिव्यज्यते; कृतकवदुपचारात् । तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते = तीव्रं सुखं मन्दं सुखम्, तीव्रं दुःखं मन्दं दुःखमिति; उपचर्यते च तीव्रः शब्दः, मन्दः शब्द इति ।

व्यञ्जकस्य तथाभावाद् ग्रहणस्य तीव्रमन्दता रूपवदिति चेद् ? न; अभिभवोपपत्तेः । संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीव्रमन्दतया, शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति, न तु शब्दो भिद्यते; यथा—प्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति ? तच्च नैवम्; अभिभवोपपत्तेः । तीव्रो भेरीशब्दो मन्दं तन्त्रीशब्दमभिभवति, न मन्दः । न च शब्दग्रहणमभिभावकम्, शब्दश्च न भिद्यते । शब्दे तु भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः । तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यत इति ।

अभिभवानुपपत्तिश्च, व्यञ्जकसमानदेशस्याभिव्यक्तौ प्राप्त्यभावात् । 'व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते शब्दः' इत्येतस्मिन् पक्षे नोपपद्यतेऽभिभवः; न

संयोग को उत्पादक मानने पर संयोगज शब्द से शब्दधारा सन्तान के उत्पत्ति-क्रम से श्रोत्रप्रत्यासन्न शब्द का ग्रहण होता है, अतः संयोग की निवृत्ति होने पर शब्द का ग्रहण उपपन्न ही है ।

इस कारण भी शब्द अनित्य है कि वह उत्पन्न होता है, अभिव्यक्ति नहीं होता । यतः अनित्य में तीव्रता या मन्दता का आरोप किया जाता है । जैसे सुख में तीव्रतादि का आरोप करके 'सुख तीव्र है, मन्द है', 'दुःख तीव्र है, मन्द है' कहा जाता है, उसी प्रकार 'शब्द तीव्र है, मन्द है'—ऐसा उपचार होता है ।

यदि कहें कि व्यञ्जक के वैसा होने से तीव्रतादि का ग्रहण होता है, रूप की तरह ? यह नहीं कह सकते; क्योंकि शब्द स्वाविर्भाव से दूसरे आविर्भूत शब्द को दबाता है । तात्पर्य यह है—यदि कहो कि व्यञ्जक संयोग की तीव्रता-मन्दता से शब्द का ग्रहण होने से उसमें तीव्रता-मन्दता होती है, शब्द भिन्न नहीं होता; जैसे—प्रकाश की तीव्रता-मन्दता से रूप का ग्रहण होता है ? यह नहीं कह सकते; क्योंकि तीव्र भेरीशब्द मन्द वीणाशब्द को दबा देता है, न कि मन्द तीव्र को । शब्दज्ञान यहाँ अभिभावक नहीं है; और शब्द आपके मत में भिन्न नहीं होता । हाँ ! शब्द यदि भिन्न हो तब तो वैसा अभिभव युक्त है। इसलिये यह स्थिर हुआ कि शब्द उत्पन्न होता है, अभिव्यक्त नहीं होता ।

अभिभव अनुपपन्न भी होने लगेगा; क्योंकि व्यञ्जक समानदेशवाले शब्द की प्राप्ति अन्यदीय शब्द की अभिव्यक्ति के समय उपपन्न नहीं है । तात्पर्य यह है कि 'व्यञ्जक से समानदेशस्थ शब्द अभिव्यक्त होता है'—इस मत में अभिभव उपपन्न नहीं होता; क्योंकि भेरीशब्द से तन्त्रीशब्द का संयोग तो हुआ नहीं । अर्थात् भेरीसंयोग तन्त्री से नहीं है ।

हि भेरीशब्देन तन्त्रीस्वनः प्राप्त इति ।

अप्राप्तेऽभिभव इति चेत्? शब्दमात्राभिभवप्रङ्गः। अथ मन्येत—असत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति? एवं सति यथा भेरीशब्दः कञ्चित्तन्त्रीस्वनमभिभवति, एवमन्तिकस्थोपादानमिव दवीयःस्थोपादानानपि तन्त्रीस्वनानभिभवेद्; अप्राप्तेरविशेषात्। तत्र क्वचिदेव भेर्यां प्रणादितायां सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रीस्वना न श्रूयेरन्निति। नानाभूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन कस्यचिच्छब्दस्य तीव्रेण मन्दस्याभिभवो युक्त इति। कः पुनरयमभिभवो नाम? ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणम् = अभिभवः। यथा—उल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्यादित्यप्रकाशेनेति ॥ १३ ॥

न; घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ? ॥ १४ ॥

न खलु आदिमत्त्वादनित्यः शब्दः। कस्माद्? व्यभिचारात्। आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम्। कथमादिमान्? कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति। कथमस्य नित्यत्वम्? योऽसौ कारणविभागेभ्यो न भवति, न तस्याभावो भावेन कदाचिन्निवर्त्यत इति।

यदि संयोग न होने पर भी अभिभव मानोगे तो शब्दमात्र का अभिभव होने लगेगा। मतलब यह है कि 'संयोग न होने पर अभिभव होता है'—ऐसा मानोगे तो ऐसी स्थिति में जैसे भेरीशब्द समीपस्थ वीणा शब्द को अभिभूत कर देता है, वैसे ही समीपस्थ अभिभव की तरह बहुत दूर के वीणाशब्द को अभिभूत करने लगेगा; क्योंकि संयोग की अप्राप्ति दोनों जगह समान है। तब कहीं एक भेरी के बजते ही उस समय संसार में सभी जगह के वीणाशब्द अभिभूत होने लगेंगे! उचित तो यह है कि नाना प्रकार के शब्दसन्तानों के रहते श्रोत्र के सन्निकर्ष में किसी शब्द के तीव्र होने पर मन्द शब्द अभिभूत हो जाता है। यह 'अभिभव' क्या चीज है? ग्रहण करने योग्य वस्तु के सजातीय ग्रहण से कृत अग्रहण ही 'अभिभव' कहलाता है। जैसे ग्रहणयोग्य उल्काप्रकाश का सूर्य के प्रकाश से अभिभव (अग्रहण) हो जाता है ॥ १३ ॥

[गत सूत्र में दिखाये गये हेतुओं में व्यभिचार दिखाते हैं—]

घटाभावसामान्य के नित्य होने से तथा नित्य में अनित्यवद् आरोप से (वे तीनों हेतु शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकते ?) ॥ १४ ॥

आदि(कारण)मान् होने से शब्द अनित्य है—ऐसा नहीं है; क्योंकि वह हेतु व्यभिचरित है। आदिमान् घटाभाव का नित्यत्व देखा गया है। आदिमान् कैसे है? क्योंकि कारणों का विभाग हो जाने पर घट नहीं रहता। नित्य कैसे है? कारणों के विभक्त होने पर जो नहीं होता, उसका अभाव किसी भी सत्ता से कभी निवृत्त नहीं हो सकता।

यदप्यैन्द्रियकत्वादिति ? तदपि व्यभिचरति—ऐन्द्रियकं च सामान्यं नित्यं चेति ।

यदपि कृतकवदुपचारादिति ? एतदपि व्यभिचरति—नित्येष्वनित्यवदुपचारो दृष्टः । यथा हि—भवति वृक्षस्य प्रदेशः, कम्बलस्य प्रदेशः; एवमाकाशस्य प्रदेशः, आत्मनः प्रदेश इति भवतीति ? ॥ १४ ॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ १५ ॥

नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम् ? अर्थान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्याऽऽत्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वम् । तच्चाभावे नोपपद्यते, भाक्तं तु भवति यत्तत्रात्मानमहासीद्यद् भूत्वा न भवति, न जातु तत्पुनर्भवति; तत्र नित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थ इति । तत्र यथाजातीयकः शब्दः न तथाजातीयकं कार्यं किञ्चिन्नित्यं दृश्यत इत्यव्यभिचारः ॥ १५ ॥

यदपि सामान्यनित्यत्वादिति ? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यमैन्द्रियकमिति—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १६ ॥

नित्येष्वव्यभिचार इति प्रकृतम् । नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वम्,

---

ऐन्द्रियकत्व हेतु भी व्यभिचारी है; क्योंकि वह ऐन्द्रियक सामान्य है, वह नित्य देखा गया है, अतः आदिमत्त्व हेतु की तरह व्यभिचारी है ।

कृतकवदुपचार हेतु भी अनित्य है; क्योंकि नित्यों में भी अनित्यत्व का उपचार देखा गया है, जैसे—'कम्बल का प्रदेश' (प्रान्त भाग), 'वृक्ष का प्रदेश'—ऐसा बोलते हैं; वैसे ही 'आकाश का प्रदेश' (प्रान्त भाग) 'आत्मा का प्रदेश'—यह भी बोला जाता है । अतः यह हेतु भी अनित्य है ? ॥ १४ ॥

तत्त्व तथा भाक्त में नानात्वरूप विभाग है; अतः उन हेतुओं में व्यभिचार नहीं है ॥ १५ ॥

नित्य से आपका क्या मतलब है ? जिस अनुत्पत्तिधर्मा अर्थान्तर की आत्महानि न हो उसे हम 'नित्य' कहते हैं । नित्यत्व घटाद्यभाव में नहीं बनता, हाँ, भाक्तप्रयोग बन सकता है । जिसने अपने को ध्वस्त कर दिया है, जो होकर नहीं होता, वह कभी नहीं हो सकता—इसलिये यों 'नित्य' की तरह होने से नित्य घटाभाव का प्रयोग होता है । परन्तु जैसी जाति का शब्द है वैसी जाति का कार्य कहीं नित्य नहीं देखा जाता, अतः कृतकवदुपचार हेतु भी व्यभिचारी नहीं है ॥ १५ ॥

तथा वह जो 'ऐन्द्रियकत्व' हेतु सामान्य में नित्यत्व का व्यभिचार बताया था ? वह भी नहीं बनता; क्योंकि ऐन्द्रियक हेतु के—

सन्तानानुमान का विशेषण होने से ॥ १६ ॥

नित्यत्व में अव्यभिचार है । हम यह नहीं कहते कि इन्द्रियग्रहणसामर्थ्य से शब्द में

किं तर्हि ? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानं तेनानित्यत्वमिति ॥ १६ ॥

यदपि नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारादिति ? न;

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानात् ॥ १७ ॥

नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ।

एवमाकाशप्रदेशः, आत्मप्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते, यथा कृतकस्य । कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते, अविद्यमानता च ? प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । किं तर्हि तत्राभिधीयते ? संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वम् । परिच्छिन्नेन द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाशं व्याप्नोति अव्याप्य वर्त्तत इति, तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यम् । न ह्यामलकयोः संयोग आश्रयं व्याप्नोति । सामान्यकृता च भक्तिः–आकाशस्य प्रदेश इति । अनेनात्मप्रदेशो व्याख्यातः ।

संयोगवच्च शब्दबुद्धयादीनामव्याप्यवृत्तित्वमिति । परीक्षिता च तीव्रमन्दता शब्दतत्त्वं न भक्तिकृतेति । कस्मात् पुनः सूत्रकारस्यास्मिन्नर्थे सूत्रं न श्रूयते इति ? शीलमिदं भगवतः सूत्रकारस्य—बहुष्वधिकरणेषु द्वौ पक्षौ न व्यवस्थापयति, तत्र शास्त्रसिद्धान्तात्तत्त्वावधारणं प्रतिपत्तुमर्हतीति मन्यते ।

अनित्यत्व है, अपितु इन्द्रियसामीप्य होने पर ग्राह्य होने के कारण शब्द का सन्तानानुमान है, अतः उसमें अनित्यत्व है ॥ १६ ॥

पूर्वपक्षी ने जो नित्यों में अनित्यवदुपचार बताया था ? वह भी नहीं बनता; क्योंकि–

कारणद्रव्य का प्रदेशशब्द द्वारा अभिधान होने से ॥ १७ ॥

नित्यों में व्यभिचार नहीं बनता । आकाशप्रदेश, आत्मप्रदेश—आदि में आत्मा या आकाश का कारणद्रव्य नहीं कहा जाता, जैसे अनित्य वृक्षादि में पदार्थों का कहा जाता है । वहाँ अविद्यमान का क्या अभिधान करते हो, अविद्यमान की तो प्रमाण से उपलब्धि नहीं हो पाती ? वहाँ केवल संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व अभिहित है । परिच्छिन्न द्रव्य से आकाश का संयोग है, वह आकाश को व्याप्त करके नहीं रहता, अपितु अव्याप्त होकर रहता है । यह बात अनित्य द्रव्य के समान है, जैसे—दो आमलकों का संयोग अपने आश्रय को व्याप्त करके नहीं रहता, अतः यह—'आकाश का प्रदेश' यह सामान्य सामान्यप्रयुक्त भाक्त प्रयोग है । इससे 'आत्मप्रदेश' शब्द का व्याख्यान भी समझ लें ।

शब्द, बुद्धि, सुख-आदि की तरह संयोगवत्त्व अव्याप्यवृत्ति है । यों, शब्द की तीव्रता-मन्दता के बारे में निर्णय कर दिया गया, उसे पूर्वपक्षी 'आकाशप्रदेश' की तरह भाक्त नहीं कह सकता । फिर सूत्रकार ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कोई सूत्र क्यों न बनाया ? यह भगवान् सूत्रकार का बड़प्पन है कि वे कई विषयों में जानबूझ कर दो पक्ष का उत्थान नहीं करते । वहाँ वे समझते हैं कि जिज्ञासु शिष्य शास्त्र-सिद्धान्तों के सहारे

शास्त्रसिद्धान्तस्तु न्यायसमाख्यातमनुमतं बहुशाखमनुमानमिति ॥ १७ ॥

अथापि खलु 'इदमस्ति इदं नास्ति' इति कुत एतत्प्रतिपत्तव्यमिति ? प्रमाणत उपलब्धेः, अनुपलब्धेश्चेति । अविद्यमानस्तर्हि शब्दः—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १८ ॥

प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्दः, कस्मात् ? अनुपलब्धेः । सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्यः ? एतन्नोपपद्यते, कस्माद् ? आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेनावृत्तः शब्दो नोपलभ्यते, असन्निकृष्टश्चेन्द्रियव्यवधानाद्वा—इत्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यत इति । सोऽयमनुच्चारितो नास्तीति ।

उच्चारणमस्य व्यञ्जकम्, तदभावात्प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरिति ? किमिदमुच्चारणं नामेति ? विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठ्यस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वादिप्रतिघातः, यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिरिति । संयोगविशेषो वै प्रतिघातः प्रतिषिद्धं च संयोगस्य व्यञ्जकत्वम्, तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणम्, अपि त्वभावादेवेति ।

से अन्यतर पक्ष में तत्त्वनिर्णय जान सकता है। शास्त्र-सिद्धान्त से उनका तात्पर्य है—न्यायशास्त्र में कथित, उन के (सूत्रकार) द्वारा अनुमोदित अनेक प्रकार के अनुमान ॥ १७ ॥

तो भी 'यह है, यह नहीं है' इसके जानने का क्या उपाय है ? प्रमाणों द्वारा उपलब्धि या अनुपलब्धि न होने से उक्त उभय कोटियाँ जानी जा सकती हैं ।

अतः शब्द अविद्यमान हैं ?

उच्चारण से पूर्व अनुपलब्धि होने से, तथा आवरणादिकों की अनुपलब्धि माने जाने से (वह शब्द अनित्य है) ॥ १८ ॥

उच्चारण से पूर्व शब्द नहीं होता; क्योंकि उस समय उसकी उपलब्धि दिखायी नहीं देती । यदि यह कहें कि आवरणादि के कारण, होता हुआ शब्द भी अनुपलब्ध रहता है ? तो यह नहीं बनता; क्योंकि उस समय आवरणादि को अनुपलब्धि के कारणरूप में नहीं देखते ! जैसे 'शब्द इस आवरण से आवृत है, अतः उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, या तो वह सन्निकृष्ट नहीं है'—ऐसा अनुपलब्धिकारण भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता । अतः अनुच्चारित अवस्था में शब्द नहीं है—यही मानना चाहिये ।

'उच्चारण शब्द का व्यञ्जक है, उसके न होने से उस समय उपलब्धि नहीं हो पाती' ऐसा मान लें ? तो हम पूछते हैं यह 'उच्चारण' क्या है ? विवक्षाजनित प्रयत्न से उदरस्थ वायु का कण्ठ ताल्वादि में आकर टकराना । यह टक्कर एक प्रकार का संयोग ही है, और संयोग के व्यञ्जकत्व का हम पीछे खण्डन कर चुके । इसलिये 'व्यञ्जक न होने से उस समय शब्द की उपलब्धि नहीं होती'—ऐसा नहीं, अपितु 'उस शब्द के अभाव से उस समय उसकी उपलब्धि नहीं होती'—यही मानना चाहिये ।

सोऽयमुच्चार्यमाणः श्रूयते, श्रूयमाणश्चाभूत्वा भवतीति अनुमीयते। ऊर्ध्वं चोच्चारणान्न श्रूयते–स भूत्वा न भवति, अभावान्न श्रूयत इति। कथम्? आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तम्। तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति॥ १८॥

एवं च सति तत्त्वं पांशुभिरिवावाकिरन्निदमाह—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः?॥ १९॥

यद्यनुपलम्भादावरणं नास्ति, आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति? कथं पुनर्जानीते भवान्–नावरणानुपलब्धिरुपलभ्यत इति? किमत्र ज्ञेयं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् समानम्! अयं खल्वावरणमनुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते—'नावरणमुपलभे' इति, यथा कुड्येनावृतस्यावरणमुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते, सेयमावरणोपलब्धिवदावरणानुपलब्धिरपि संवेद्यैवेति। एवं च सत्यपहृतविषयमुत्तरवाक्यमस्तीति॥ १९॥

अभ्यनुज्ञावादेन तूच्यते जातिवादिना—

'यह शब्द उच्चरित होता हुआ सुनायी देता है, सुनायी देता हुआ पहले न होकर होता है'—ऐसा उसके विषय में अनुमान होता है। इसी प्रकार उच्चारण के बाद वह सुनायी नहीं देता, अतः 'वह हो कर नहीं होता है—यों, अभाव होने से नहीं सुनायी देता'—ऐसा अनुमान होता है। वह कैसे? आवरणादि की वहाँ (अनुच्चारणकाल में) उपलब्धि न होने से, यह बात अभी हम पीछे कह चुके हैं। अतः शब्द उत्पत्ति-विनाशधर्मा है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ॥ १८॥

सचाई पर धूल डाल कर बात कुछ उलझाता हुआ-सा पूर्वपक्षी फिर शंका करता है—

उसकी अनुपलब्धि का ग्रहण न होने से आवरण की उपपत्ति हो सकती है?॥ १९॥

यदि आवरणकारणों के अनुपलम्भ से आवरण न होना मानते हो, तो अनुपलम्भ से आवरणानुपलब्धि भी नहीं माननी पड़ेगी, उसके अभाव में आवरण का प्रतिषेध कैसे होगा?

भाष्यकार पूछते हैं—आप कैसे जानते हैं कि आवरणानुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती? इसमें जानना क्या है, दोनों के ही प्रत्यात्मवेदनीय होने से बात बराबर है! यह आवरण को उपलब्ध न करता हुआ मन से यह समझ लेता है कि 'आवरण को नहीं प्राप्त कर पा रहा हूँ', जैसे दीवाल से व्यवहित आवरण के उपलब्ध होते हुए के बारे में मन से जान लेता है। उसी तरह आवरणानुपलब्धि का भी संवेदन स्वीकार करते ही हो, ऐसी स्थिति में आपका (जातिवादी का) उत्तर निःसार हो गया?॥ १९॥

जातिवादी अभ्यनुज्ञावाद (हठात् स्वीकृत पक्ष) से फिर कहता है—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ? ॥ २० ॥

यथाऽनुपलभ्यमानाप्यावरणानुपलब्धिरस्ति, एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति। यद्यभ्यनुजानाति भवान्—अनुपलभ्यमानावरणानुपलब्धिरस्तीति, अभ्यनुज्ञाय च वदति–नास्त्यावरणमनुपलम्भादित्येतद् । एतस्मिन्नप्यभ्यनुज्ञावादे प्रतिपत्तिनियमो नोपपद्यत इति ? ॥ २० ॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ २१ ॥

यदुपलभ्यते तदस्ति, यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति, इति अनुपलम्भात्मकमसदिति व्यवस्थितम् । उपलब्ध्यभावश्च–अनुपलब्धिरिति । सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते । सच्च खल्वावरणम् तस्योपलब्ध्या भवितव्यम्, न चोपलभ्यते, तस्मान्नास्तीति । तत्र यदुक्तम्–'नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात्'-इति अयुक्तमिति ॥ २१ ॥

अथ शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिजानानः कस्माद्धेतोः प्रतिजानीते ?

अस्पर्शत्वात् ? ॥ २२ ॥

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति, तथा च शब्द इति ? ॥ २२ ॥

सोऽयमुभयतः सव्यभिचारः–स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यः, अस्पर्शं च कर्मानित्यं

अनुपलम्भ से अनुपलब्धि होने के कारण आवरणानुपलब्धि अनुपलम्भ से नहीं मान सकते ? ॥ २० ॥

जैसे आवरणानुपलब्धि अनुपलभ्यमान होते हुए भी है, वैसे ही आवरण होते हुए भी वह अनुपलभ्यमान भी है ? हमारा मतलब है कि यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि अनुपलभ्यमान भी आवरणत्वानुपलब्धि है, तो यह स्वीकार करके ही आप यह भी कहते हैं कि—अनुपलम्भ से आवरण नहीं है, तो इस अभ्यनुज्ञावाद का प्रतिपादन ठीक नहीं हुआ ? ॥ २० ॥

अनुपलम्भात्मक होने से अनुपलब्धि का वह अहेतु है ॥ २१ ॥

जो उपलब्ध है वह है, जो उपलब्ध नहीं है वह नहीं है, तो अनुपलम्भात्मक द्रव्य असत् है—यह निश्चित हो गया । उपलब्ध्यभाव को अनुपलब्धि कहते हैं । यह अभाव के कारण उपलब्ध नहीं होता । सत् आवरण है । वह होता तो उसकी उपलब्धि होती; वह उपलब्ध नहीं हैं, अतः वह नहीं है । ऐसी स्थिति में, तुम्हारा 'अनुपलम्भ से आवरण की अनुपपत्ति नहीं होती'—यह कथन ही अयुक्त है, हमारा पक्ष नहीं ॥ २१ ॥

शब्द की नित्यता किस हेतु से प्रतिज्ञात करते हो ? क्या

अस्पर्शवत्त्व होने से ? ॥ २२ ॥

अस्पर्शवान् आकाश नित्य देखा गया है, उसी तरह का यह शब्द है ? ॥ २२ ॥

अन्वय-व्यतिरेक से शब्द के नित्यत्व में अस्पर्शवत्त्व हेतु व्यभिचारी है; क्योंकि

दृष्टम् । अस्पर्शत्वादित्येतस्य साध्यसाधर्म्येणोदाहरणम् ?—

न; कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥

अयं तर्हि हेतुः साध्यवैधर्म्येणोदाहरणम् ?

न; अणुनित्यत्वात् ॥ २४ ॥

उभयस्मिन्नुदाहृणे व्यभिचारान्न हेतुः ॥ २४ ॥

अयं तर्हि हेतुः—

सम्प्रदानात् ? ॥ २५ ॥

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टम्, सम्प्रदीयते च शब्द आचार्येणान्तेवा ,
तस्मादवस्थित इति ? ॥ २५ ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २६ ॥

येन सम्प्रदीयते तस्मै च, तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन लिङ्गेनो-
पलभ्यते ? सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति, सम्प्रदानं च प्राप्नोति–
इत्यवर्जनीयमेतत् ॥ २६ ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः ? ॥ २७ ॥

स्पर्शवान् अणु नित्य तथा अस्पर्शवान् कर्म अनित्य देखा गया है। अस्पर्शवत्त्व इस हेतु का साध्यसाधर्म्य से उदाहरण है ?

नहीं; कर्म का अनित्यत्व देखा जाने से ॥ २३ ॥

तो यह साध्यवैधर्म्य से उदाहरण हेतु है ?

नहीं; अणु का नित्यत्व देखा जाने से ॥ २४ ॥

दोनों ही उदाहरणों में व्यभिचार देखा जाने से 'अस्पर्शत्व' नित्यत्व में हेतु नहीं है ॥ २४ ॥

तो यह हेतु मान लें—

सम्प्रदान से ? ॥ २५ ॥

सम्प्रदीयमान स्थिर देखा गया है, शब्द का भी आचार्य द्वारा छात्र को सम्प्रदान होता है, अतः यह स्थिर (नित्य) है ? ॥ २५ ॥

यह सम्प्रदान हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि तदन्तराल की उपलब्धि नहीं होती ॥ २६ ॥

जिसके द्वारा जिसके लिये सम्प्रदान किया जाता है, उन दोनों के मध्य में इसका अवस्थान किस ज्ञापक हेतु से सिद्ध करोगे ? क्योंकि सम्प्रदीयमान पूर्वसिद्ध वस्तु दाता से दूर होकर सम्प्रदान को प्राप्त करती है। यह अपरिहार्य है। शिष्य सम्प्रदान नहीं है। ॥ २६ ॥

अध्यापन हेतु से सम्प्रदानत्व ज्ञापित हो सकता है ? ॥ २७ ॥

अध्यापनं लिङ्गम्; असति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यादिति ॥ २७ ॥

उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ? ॥ २८ ॥

समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः, संशयानिवृत्तेः—किमाचार्यस्थः शब्दोऽन्तेवासिनमापद्यते तदध्यापनम् ? आहोस्विन्नृत्योपदेशवद् गृहीतस्यानुकरणमध्यापनमिति ? एवमध्यापनमलिङ्गं सम्प्रदानस्येति ॥ २८ ॥

अयं तर्हि हेतुः—

अभ्यासात् ? ॥ २९ ॥

अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम् । 'पञ्चकृत्वः पश्यति' इति रूपमवस्थितं पुनः पुनर्दृश्यते । भवति च शब्देऽभ्यासः—दशकृत्वोऽधीतोऽनुवाकः, विंशतिकृत्वोऽधीत इति । तस्मादवस्थितस्य पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति ॥ २९ ॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ ३० ॥

अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति–द्विर्नृत्यतु भवान्, त्रिर्नृत्यतु भवान्

शिष्य के सम्प्रदानत्व में अध्यापन ही लिंग है; क्योंकि सम्प्रदान के न होने पर अध्यापन कैसा बनेगा ? ॥ २७ ॥

दोनों ही पक्षों में अध्यापन से, सम्प्रदान में हेतुत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता ॥ २८ ॥

अध्यापन में दोनों (गुरु तथा छात्र) ही पक्षों के तुल्य होने से इस हेतु की संशयग्रस्तता के कारण सम्प्रदानत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । आप अध्यापन किसे मानते हैं—क्या आचार्यस्थ शब्द शिष्य के पास जाता है, वह अध्यापन है ? या नृत्योपदेश में गृहीत के अनुकरण की तरह अध्यापन है ? (दोनों ही अवस्थाओं में स्थिरत्व नहीं बना,) अतः अध्यापन से सम्प्रदानत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । (उसके सिद्ध न होने पर शब्द की नित्यता फिर अहेतुक रह गयी ।) ॥ २८ ॥

तो फिर, इसे हेतु मान लें—

अभ्यास से ? ॥ २९ ॥

अभ्यस्यमान (आवृत्तियोग्य) पदार्थ स्थिर देखा गया है, जैसे—'पाँच बार देखता है' । जो रूप स्थिर है वही बार बार दिखायी दे सकता है । शब्द में भी अभ्यास देखा गया है, जैसे—'अनुवाक दस बार पढ़ा गया, बीस बार पढ़ा गया' । यहाँ स्थित (नित्य) शब्द के बार-बार ऊच्चारण को ही अभ्यास कहते हैं ? ॥ २९ ॥

नहीं; अस्थिरत्व मनाने पर भी उसमें औपचारिक अभ्यास बन सकता है ॥ ३० ॥

अन्य = अनवस्थित (अस्थिर = अनित्य) में भी अभ्यास हो सकता है, जैसे—'आप

---

१. अस्य भाष्यत्वमेव केचिद् वदन्ति ।

इति; द्विरनृत्यत्, त्रिरनृत्यद्; द्विरग्निहोत्रं जुहोति, द्विर्भुंङ्क्ते ॥ ३० ॥

एवं व्यभिचारात्, प्रतिषिद्धहेतावन्यशब्दस्य प्रयोगः प्रतिषिध्यते—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ? ॥ ३१ ॥

यदिदमन्यदिति मन्यसे, तत् स्वार्थेनानन्यत्वाद् अन्यन्न भवति, एवमन्यताया अभावः। तत्र यदुक्तम्–'अन्यत्वेऽप्यभ्यासोपचारात्' इति, एतदयुक्तमिति? ॥३१॥

शब्दप्रयोगं प्रतिषेधतः शब्दान्तरप्रयोगः प्रतिषिध्यते—

तदभावे नास्त्यनन्यता, तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अन्यस्यानन्यतामुपपादयति भवान्, उपपाद्य चान्यत् प्रत्याचष्टे, अनन्यदिति च शब्दमनुजानाति, प्रयुंक्ते चानन्यदिति। एतत् समासपदम्, अन्यशब्दोऽयं प्रतिषेधेन सह समस्यते ! यदि चात्रोत्तरं पदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः ? तस्मात्तयोरनन्यान्यशब्दयोरितरोऽनन्यशब्द इतरमन्यशब्दमपेक्षमाणः

दो वार नृत्य कीजिये, तीन वार नृत्य कीजिये !' 'वह दो वार नाचा' 'तीन वार नाचा', 'दो वार अग्निहोत्र करता है' 'दो वार खाता है'। (इस प्रकार अस्थिर में भी अभ्यास देखा जाता है) ॥ ३० ॥

शङ्का—इस प्रकार व्यभिचार दोष दिखाकर हेतु (सम्प्रदान तथा अभ्यास) का प्रतिषेध कर देने पर, 'अन्य' शब्द का भी प्रतिषेध किया जा सकता है—

यह 'अन्य' दूसरे से अनन्य होने से अनन्य ही है, अतः अन्यता नहीं बन सकती ? ॥ ३१ ॥

जिसको 'अन्य' कह रहे हैं वह स्वार्थ से अनन्य है, अतः वह अन्य नहीं हो सकता; यों (अन्य' न सिद्ध होने पर भी) 'अन्य में भी औपचारिक अभ्यास बन सकता है' आप का यह कथन अयुक्तियुक्त है ? ॥ ३१ ॥

[भाष्यकार कहते हैं कि वाक्छल से] शब्द-प्रयोग का प्रतिषेध करने वाले पूर्वपक्षी का यह शब्दान्तरप्रयोग के प्रतिषेध से उत्तर है—

उस 'अन्य' के अभाव में अनन्यता भी कहाँ रहेगी ? क्योंकि उन दोनों की सिद्धि परस्परापेक्ष है ।। ३२ ॥

आप अन्य की अनन्यता सिद्ध करना चाहते हैं, उसे सिद्ध करके 'अन्य' का प्रत्याख्यान करते हैं। 'अनन्यत्' शब्द को आप स्वीकार करते हैं, और उसका प्रयोग करते हैं। क्या आप नहीं जानते कि 'अनन्यत्' यह समस्त पद है ! यहाँ 'अन्य' शब्द प्रतिषेध (नञ्) के साथ समस्त है। यदि आपके मत में यहाँ उत्तरपद (अन्य) नहीं है तो

सिद्ध्यतीति । तत्र यदुक्तम्–'अन्यताया अभावः' इति, एतदयुक्तमिति ॥ ३२ ॥

अस्तु तर्हीदानीं शब्दस्य नित्यत्वम् ?

विनाशकारणानुपलब्धेः ? ॥ ३३ ॥

यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्भवति, यथा–लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागात् । शब्दश्चेदनित्यः, तस्य विनाशो यस्मात् कारणाद्भवति तदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते, तस्मान्नित्य इति ? ॥ ३३ ॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥

यथा विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्गः, एवमश्रवणकारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः । व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् ? प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम् । अथ विद्यमानस्य निर्निमित्तमश्रवणमिति विद्यमानस्य निर्निमित्तो विनाश इति । समानश्च दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे च, अश्रवणे चेति ॥ ३४ ॥

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३५ ॥

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः, यथा–यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति । किमनुमानमिति चेत् ?

इस नञ् के साथ किसका समास होगा ? अतः उन दोनों 'अन्य' तथा 'अनन्य' शब्दों में से एक 'अनन्य' शब्द दूसरे 'अन्य' शब्द की अपेक्षा रखता हुआ सिद्ध हो जाता है । तब आपने जो 'अनन्यता' का अभाव बताया, वह अयुक्त है ॥ ३२ ॥

शङ्का—तो क्या अब शब्द का नित्यत्व मान लें—

विनाशकारण की उपलब्धि न होने से ? ॥ ३३ ॥

जो अनित्य हैं, कारण से उसका विनाश होता है । जैसे—ढेले का विनाश उसके कारणद्रव्य के विभाग से । शब्द यदि अनित्य होता तो उसका विनाश जिस कारण से होता हो वह मिलता ! मिलता है नहीं, अतः शब्द नित्य है ? ॥ ३३ ॥

तब अश्रवणकारण की अनुपलब्धि से श्रवणनैरन्तर्य प्रसक्त होने लगेगा ! ॥ ३४ ॥

जैसे विनाशकारण की उपलब्धि न होने से शब्द का नित्यत्व मान रहे हो तब तो उसके अश्रवण कारण की उपलब्धि न होने से निरन्तर श्रवणप्रसक्ति होने लगेगी ! यदि 'व्यञ्जक न होने से श्रवण नहीं होता'—ऐसा कहोगे ? तो हम व्यञ्जक का पीछे निषेध कर आये । यदि विद्यमान का अकारण अश्रवण मानोगे ? तो विद्यमान का अकारण विनाश होने लगेगा । निमित्त के विना विनाश तथा अश्रवण में दृष्टविरोध की समानता ही है ॥ ३४ ॥

उपलभ्यमान होने पर अनुपलब्धि न होने से वह अहेतु है ॥ ३५ ॥

शब्द का विनाशकारण अनुमान से उपलभ्यमान होने से उसकी अनुपलब्धि से नित्यत्व नहीं माना जा सकता । जैसे—'जिस कारण से विषाणी है उसी कारण से अश्व है' । अनुमान क्या है ? सन्तान (शब्दधारा) का उपपादन । शब्दसन्तान उपपादित है, जैसे

सन्तानोपपत्तिः । उपपादितः शब्दसन्तानः संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरं ततोऽप्यन्यत्, ततोऽप्यन्यदिति । तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दमभिरुणद्धि[1] । [2]प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः । दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य, श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधान इति ।

घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नानाशब्दसन्तानोऽविच्छेदेन श्रूयते, तत्र नित्ये शब्दे घण्टास्थमन्यगतं वाऽवस्थितं सन्तानवृत्ति वाऽभिव्यक्तिकारणं वाच्यम्, येन श्रुतिसन्तानो भवतीति । शब्दभेदे चासति श्रुतिभेद उपपादयितव्य इति । अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्तानवृत्ति संयोगसहकारि निमित्तान्तरं संस्कारभूतं पटु मन्दमनुवर्तते, तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः, पटुमन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य, तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति ॥ ३५ ॥

न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते, अनुपलब्धेर्नास्तीति ?

संयोग-विभागज शब्द से शब्दान्तर, उससे अन्य तथा उससे अन्य—यों अनवस्था होने लगेगी ! (जब कि वास्तविकता यह है कि) कार्य (उत्तरोत्तर) शब्द कारण (पूर्व पूर्व) शब्द को रोक देता है । प्रतिघाती द्रव्य का संयोग अन्त्य शब्द का निरोधक है । लोक में यह देखा जाता है कि व्यवधानकारक दीवाल आदि से व्यवहित होने से समीप का शब्द भी सुनायी नहीं देता, तथा व्यवधान न हो तो दूर का शब्द भी सुनायी दे जाता है।

घण्टा बजने पर, तीव्र से तीव्रतर तथा मन्द से मन्दतर—यों श्रवण-भेद से उसकी नाना शब्दसन्तति अविच्छिन्नतया (निरन्तर) सुनने में आती है । नित्य शब्द माने जाने पर, घण्टास्थित अन्यगत या अवस्थित सन्तानवृत्ति को अभिव्यक्ति कारण बताना पड़ेगा, जिससे वह श्रुति-सन्तान सिद्ध हो सके । शब्दभेद न मानने पर श्रुति-भेद का उपपादन करना पड़ेगा । शब्द को अनित्य मानने पर, घण्टास्थित निमित्तान्तर ही सन्तानवृत्ति संयोग के साथ रहने वाले हो कर संस्कार के रूप में तीव्र, मन्द का अनुवर्तन करते हैं । इस अनुवर्तन से शब्द की सन्तानानुवृत्ति, तथा तीव्रता या मन्दता से शब्द की तीव्रता मन्दता सिद्ध हो जायेंगी और श्रुतिभेद भी उपपन्न हो जायेंगे ॥ ३५ ॥

निमित्तान्तर संस्कार उपलब्ध नहीं होता तो साधक प्रमाण के अभाव में वह नहीं है—ऐसा मान लें ?

---

१. निरुणद्धि—इति पाठा० ।

२. 'प्रतिघाति द्रव्यं कुड्यादि तत्संयोगो नभसः । एतदुक्तं भवति—घनतरद्रव्यसंयुक्तं नभो न शब्दसमवायिकारणतां प्रतिपद्यते; ततश्च सन्नप्यसमवायिकारणं शब्दो न शब्दान्तरमारभते'—इति वाचस्पतिमिश्राः । न्यायकन्दलीकारास्तु—'प्रतिघातिद्रव्यमत्र शब्दकारणीभूतो वायुरेव' इति वदन्ति ।

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३६ ॥

पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति, तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोत्पद्यते[1], अतः श्रवणानुपपत्तिः। तत्र प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते, तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्पत्तौ श्रुतिविच्छेदो यथा–प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति। कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः। कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति। तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति ॥ ३६ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः[2] ॥ ३७ ॥

यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते। अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते। एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतम्, न तेषां विनाशकारणं भवतोपपाद्यते, अनुपपादनादवस्थानम्, अवस्थानात् तेषां नित्यत्वं प्रसज्यत इति। अथ नैवम्, न तर्हि विनाशकारणानुप-

---

हाथ के कारण कम्पवारक संयोग द्वारा शब्द न होने से उपलब्धि नहीं होती ॥ ६६ ॥

पाणिक्रिया से पाणि-घण्टा संयोग होता है, उसके होने पर शब्दसन्तान उत्पन्न नहीं हो पाते, अतः श्रवण अनुपपन्न है। वहाँ 'प्रतिघाती द्रव्यसंयोग शब्द के निमित्तान्तर संस्कार को रोक देता है'—ऐसा अनुमान होता है; उसके निरोध से शब्दसन्तति उत्पन्न नहीं होती। उसके अनुत्पन्न होने पर श्रवण विच्छिन्न हो जायेगा; जैसे—प्रतिघाती द्रव्यसंयोग से वाण के क्रियाकारण संस्कार (वेग) के निरुद्ध होने पर वह आगे नहीं बढ़ता, स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य कम्पसन्तान का उपरम हो जाता है। अतः कांस्यपात्रादि में पाणि का संयोग संस्कारसन्तान का साधक हेतु है। इसलिये कारणान्तर संस्कारभूत की उपलब्धि नहीं होती ॥ ३६ ॥

विनाशकारण की उपलब्धि न होने से उसे स्थिर मानना पड़ेगा, और उसमें नित्यत्व प्रसक्त होने लगेगा ॥ ३७ ॥

यदि किसी का विनाशकारण उपलब्ध नहीं होता है, वह स्थिर माना जाता है। स्थिर होने पर उसमें नित्यता माननी पड़ेगी। इस प्रकार 'यह शब्दश्रुति शब्दाभिव्यक्ति है', यह मानोगे तो आपने उनके विनाशकारण का उपपादन नहीं किया, उसके अनुपपादन से उनमें स्थिरता (सत्ता) मानी जायेगी, स्थिरता से उनमें नित्यता प्रसक्त होगी।

---

१. 'नोपलभ्यते' इति पाठा०।

२. वृत्तिकृता न व्याख्यातमेतत्, अतो न सूत्रमिति केचित्।

लब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति ॥ ३७ ॥

कम्पसमानाश्रयस्य चानुनादस्य पाणिप्रश्लेषात् कम्पवत् कारणोपरमादभावः; वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेषात् समानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति ?

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥

यदिदं नाकाशगुणः शब्द इति प्रतिषिद्ध्यते. अयमनुपपन्नः प्रतिषेधः; अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य । रूपादिसमानदेशस्याग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेरस्पर्शव्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते, न च कम्पसमानाश्रय इति ॥ ३८ ॥

प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समानदेशो व्यज्यत इति नोपपद्यते, कथम् ?

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥

सन्तानोपपत्तेश्चेति चार्थः, तद् व्याख्यातम् । यदि रूपादयः शब्दश्च प्रतिद्रव्यं समस्ताः समुदिताः तस्मिन् समासे समुदाये यो यथाजातीयकः सन्निविष्टस्तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणेन भवितव्यम् शब्दे, रूपादिवत् । तत्र योऽयं विभागः—एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधर्माणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः श्रूयन्ते; यच्च विभागान्तरम्–सरूपाः समानश्रुतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रमन्द-

---

ऐसा नहीं है, उसके विनाशकारण की उपलब्धि से न तो स्थिरता बनेगी, न नित्यत्व ही सिद्ध होगा ! ॥ ३७ ॥

कम्प के साथी (समानाधिकरण) होकर अनुनाद (अनुवृत्तशब्द) का पाणि के कम्पवारक संयोग से, कम्प के नाश की तरह, कारणनाश से अभाव गाना जाता है । शब्दवैयधिकरण्य मानने पर प्रतिघातिद्रव्यसंयोग से समानाधिकरण का ही उपरम सम्भव है ?

अस्पर्शत्व हेतु से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ३८ ॥

'शब्द आकाशगुण नहीं है' यह प्रतिषेध तो शब्दाश्रय में अस्पर्शत्व होने से नहीं बनेगा । रूपादिसमानदेश का अग्रहण होते हुए शब्दसन्तानोपपादन से 'अस्पर्शव्यापि द्रव्याधिकरणक शब्द है'—यह ज्ञान होता है, न कि 'कम्पसमानाधिकरण' ॥ ३८ ॥

समास में विभक्त्यन्तरोपपादन से भी प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ३९ ॥

सन्तानोपपादन से भी प्रतिषेध नहीं बनता—यह सूत्रस्थ 'च' का अर्थ है । इसका व्याख्यान किया जा चुका । यदि रूपादि और शब्द प्रत्येक द्रव्य में समस्त तथा समुदित रहेंगे तो उस समस्त समुदाय में जो जैसी जाति का सन्निवेश होगा उसका वैसा ही ग्रहण शब्द में होना चाहिये, रूपादि की तरह । वहाँ यह जो विभाग किया गया गया है—'एक द्रव्य में नाना स्वरूपवाले भिन्न श्रुतिवाले विधर्मी शब्द अभिव्यक्त होते हुए सुने जाते हैं'; तथा यह जो दूसरा विभाग किया गया है—'सरूप (एक समान) समानश्रुति

धर्मतया भिन्नाः श्रूयन्ते–तदुभयं नोपपद्यते, ननाभूतानामुत्पद्यमानानामयं धर्मः, नैकस्य व्यज्यमानस्येति। अस्ति चायं विभागो विभागान्तरं च, तेन विभागोपपत्तेर्मन्यामहे—न प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यत इति ॥३९॥

शब्दपरिणामपरीक्षाप्रकरणम् [४०–५६]

द्विविधश्चायं शब्दः–वर्णात्मकः, ध्वनिमात्रश्च। तत्र वर्णात्मनि तावत्—

विकारादेशोपदेशात् संशयः ॥ ४० ॥

दध्यत्रेति केचिद् इकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यत इति विकारं मन्यन्ते। केचिदिकारस्य प्रयोगे विषयकृते यदिकारः स्थानं जहाति तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रुवते। संहितायां विषये इकारो न प्रयुज्यते तस्य स्थाने यकारः प्रयुज्यते स आदेश इति, उभयमिदमुपदिश्यते। तत्र न ज्ञायते–किं तत्त्वमिति ?

आदेशोपदेशस्तत्त्वम्—

विकारोपदेशे ह्यन्वयस्याग्रहणाद्विकाराननुमानम्। सत्यन्वये किञ्चिन्निवर्तते किञ्चिदुपजायत इति शक्यते विकारोऽनुमातुम्। न चान्वयो गृह्यते, तस्माद् विकारो नास्तीति।

सधर्मी शब्द तीव्र, मन्द भेद से भिन्न होते हुए सुने जाते हैं'—ये दोनों विभाग नहीं बनेंगे; क्योंकि ये अनेक धर्म नाना प्रकार के उत्पद्यमान शब्दों में सम्भावित हैं, न कि एक व्यज्यमान में अथवा अन्य विभाग भी क्लृप्त ही धर्म हैं। इस विभागोपपादन से हम मानते हैं कि शब्द प्रत्येक शब्द में रूपादिकों के साथ सन्निविष्ट होता हुआ व्यक्त नहीं होता ॥ ३९ ॥

यह शब्द दो प्रकार का होता है—१. वर्णात्मक, तथा २. ध्वनिमात्र। वहाँ वर्णात्मक में—

विकारात्मक आदेश कहने से संशय होता है ॥ ४० ॥

जैसे 'दध्यत्र' यहाँ कुछ विद्वान् (कालापमतानुसारी वैयाकरण) इकार में इत्व को हटाकर यत्व होता है, इसे विकार मानते हैं। कुछ (सारस्वतव्याकरणवाले) विद्वान् इकार के कार्यत्वेन दृष्ट प्रयोग में जो इकार स्थान छोड़ता है वहाँ यकार का प्रयोग कहते हैं। संहिताविषय (सन्धि) में इकार नहीं बोला जाता, वहाँ इकार के स्थान में यकार का प्रयोग होता है, यह प्रयोग 'आदेश' कहलाता है। यहाँ इकार, यकार—दोनों का उपदेश किया गया है। इस प्रसंग में, सचाई (तत्त्व) क्या है, पता नहीं लगता ? वैयाकरणमूर्धन्य पाणिनि के मत से आदेशोपदेश ही वहाँ सचाई है। विकारोपदेश मानने पर, अन्वयज्ञान न होने से विकार का अनुमान नहीं बनेगा। अन्वय होने पर, सुवर्ण में कुछ 'पिण्डाद्याकार' वहाँ निवृत्त होता है, कुछ 'कुण्डलाद्याकार' पैदा होता है, अतः अनुमान बन सकता है। चूँकि यहाँ कुण्डल, रुचकादि की सुवर्णावयवानुवृत्ति की तरह अन्वय नहीं हो पाता, अतः विकार नहीं है।

भिन्नकरणयोश्च वर्णयोरप्रयोगे प्रयोगोपपत्तिः। विवृतकरण इकारः, ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः, ताविमौ पृथक्करणाख्येन प्रयत्नेनोच्चारणीयौ। तयो-रेकस्याप्रयोगेऽन्यतरस्य प्रयोग उपपन्न इति।

अविकारे चाविशेषः। यत्रेमाविकारयकारौ न विकारभूतौ–यतते, यच्छति, प्रायंस्त इति, इकारः, इदमिति च; यत्र च विकारभूतौ–इष्ट्वा, दध्याहरेति; उभयत्र प्रयोक्तुरविशेषो यत्नः श्रोतुश्च श्रुतिरित्यादेशोपपत्ति।

प्रयुज्यमानाग्रहणाच्च। न खलु इकारः प्रयुज्यमानो यकारतामापद्यमानो गृह्यते, किं तर्हि? इकारस्य प्रयोगे यकारः प्रयुज्यते, तस्मादविकार इति।

अविकारे च न शब्दान्वाख्यानलोपः। 'न विक्रियन्ते वर्णाः' इति। न चैतस्मिन् पक्षे शब्दान्वाख्यानस्यासम्भवः, येन वर्णविकारं प्रतिपद्येमहीति।

न खलु वर्णस्य वर्णान्तरं कार्यम्–न हि इकाराद्यकार उत्पद्यते, यकाराद्वा इकारः। पृथक्स्थानप्रयत्नोत्पाद्या हीमे वर्णाः, तेषामन्योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यत इति युक्तम्। एतावच्चैतत्परिणामो विकारः स्यात् कार्यकारणभावो वा; उभयं च नास्ति। तस्मान्न सन्ति वर्णविकाराः।

भिन्न प्रयत्नजन्य वर्णों में एक के अप्रयोग में दूसरे का प्रयोग उत्पन्न होने लगेगा; क्योंकि इकार का विवृत प्रयत्न है, तथा यकार का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न। ये दोनों पृथग्व्यापार वाले प्रयत्न से उच्चारणीय हैं, इनमें एक के अप्रयोग पर दूसरे का प्रयोग उत्पन्न होता है।

अविकार मानने पर कोई विशेषता नहीं आयेगी; क्योंकि इनके उच्चारणों में वक्ता या श्रोता को प्रयत्नान्तर नहीं करना पड़ता। जैसे—'यतते, यच्छति, आयंस्त'—यहाँ 'य'; तथा 'इकार' 'इदम्' यहाँ 'इ' अविकार हैं; तथा 'इष्ट्वा' 'दध्यत्र' यहाँ ये दोनों विकार हैं। दोनों ही जगह प्रयोक्ता का समान प्रयत्न है, श्रोता को श्रवण भी वैसा ही होता है।

प्रयुज्यमान अक्षर में स्थानी अक्षर का ग्रहण न होने से जैसे इकार प्रयुज्यमान होते हुए वह यकारता के रूप में होता हुआ नहीं होता, बल्कि इस प्रकार के प्रयोग में यकार का प्रयोग होता है, अतः वह अविकार है।

अविकार मानने से शब्दान्वाख्यानपरम्परा का लोप भी नहीं होगा। 'वर्ण विकृत नहीं होते' इस पक्ष में शब्दान्वाख्यान असम्भव नहीं है कि हमें आपका वर्णविकारपक्ष मानना पड़े।

वर्ण से वर्णान्तर भी नहीं बनता, ऐसा नहीं होता कि इकार से यकार उत्पन्न हो या यकार से इकार उत्पन्न हो; क्योंकि वर्ण अपने-अपने अलग स्थान तथा प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाले हैं। उनमें दूसरा दूसरे के स्थान में प्रयुक्त होता है—यही मानना उचित है। इतना इसका यह परिणाम है—ऐसा विकार हो सकता है। अथवा कार्य-कारण भाव हो सकता है। ये दोनों नहीं हैं, अतः वर्णविकार नहीं है।

वर्णसमुदायविकारानुपपत्तिवच्च वर्णविकारानुपपत्तिः। 'अस्तेर्भूः' (पा० सू० २. ४. ५२) 'ब्रुवो वचिः' (२. ४. ५३) इति यथा वर्णसमुदायस्य धातुलक्षणस्य क्वचिद्विषये वर्णान्तरसमुदायो न परिणामो न कार्यम्, शब्दान्तरस्य स्थाने शब्दान्तरं प्रयुज्यते। तथा वर्णस्य वर्णान्तरमिति ॥ ४० ॥

२. इतश्च न सन्ति विकाराः—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४१ ॥

प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टम्, यकारे ह्रस्वदीर्घानुविधानं नास्ति, येन विकारत्वमनुमीयत इति ॥ ४१ ॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ? ॥ ४२ ॥

द्रव्यविकारा न्यूनाः समा अधिकाश्च गृह्यन्ते। तद्वदयं विकारो न्यूनः स्यादिति ? ॥ ४२ ॥

द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

अत्र नोदाहरणसाधर्म्याद्धेतुरस्ति; न वैधर्म्यात्। अनुपसंहृतश्च हेतुना दृष्टान्तो न साधक इति।

वर्णसमुदायविकारानुपपत्ति की तरह यह वर्णविकारानुपपत्ति भी मान लेनी चाहिये। जैसे—'अस्तेर्भूः' (पा० सू० २. ४. ५२), 'ब्रुवो वचिः' (पा० सू० २. ४. ५३) यह धातुलक्षण वर्णसमुदाय का किसी विषय में होने वाला वर्णसमुदाय (वचि) न परिणाम है, न विकार; बस, दूसरे शब्द के स्थान में दूसरा शब्द प्रयुक्त हो जाता है— इतना ही सिद्धान्त है। इस नय से दूसरे वर्ण के स्थान में दूसरा वर्ण प्रयुक्त होता है— यही सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

२. वर्ण इसलिये भी विकार नहीं है—

प्रकृति की विवृद्धि होने से विकार की विवृद्धि होने के कारण ॥ ४१ ॥

विकारों में प्रकृत्यनुविधान देखा जाता है; परन्तु यहाँ यकार में दीर्घादि की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती, जिससे यकार में विकारत्व का अनुमान न हो सके ॥ ४१ ॥

न्यून, सम तथा अधिक उपलब्धि से यहाँ विकारों का हेतुत्व नहीं बनता ? ॥४२॥

लोक में जैसे द्रव्यविकार में न्यूनता समता या अधिकता देखी जाती हैं वैसे इन वर्णों में विकार न्यून हो सकता है। अतः विकार का साधक कोई हेतु नहीं हैं ॥ ४२ ॥

दोनों प्रकार के हेतुओं के अभाव से दृष्टान्त असाधक है ॥ ४३ ॥

यहाँ न तो उदाहरणसादृश्य से हेतु है और न उदाहरणवैसादृश्य से। अतः हेतु से अनुपसंहृत दृष्टान्त साधक नहीं होता।

प्रतिदृष्टान्ते चानियमः प्रसज्येत, यथा–अनडुहः स्थानेऽश्वो वोढुं नियुक्तो न तद्विकारो भवति, एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न विकार इति। न चात्र नियमहेतुरस्ति दृष्टान्तः साधको न प्रतिदृष्टान्त इति ॥ ४३ ॥

द्रव्यविकारोदाहरणं च—

न; अतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४४ ॥

अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावोऽवकल्पते, विकाराश्च प्रकृतीरनुविधीयन्ते। न त्विवर्णमनुविधीयते यकारः। तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति ॥ ४४ ॥

द्रव्यविकारवैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ? ॥ ४५ ॥

यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम्, एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारविकल्प इति ? ॥ ४५ ॥

न; विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४६ ॥

अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये–यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा, तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वो व्यूहो निवर्त्तते व्यूहान्तरं चोपजायते, तं विकारमाचक्ष्महे। न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दात्माऽन्वयी–य इत्वं जहाति यत्वं चापद्यते। तत्र यथा

प्रतिदृष्टान्त में अनियम-प्रसक्ति भी होने लगेगी, जैसे गाड़ी में बैल के स्थान पर घोड़ा जोत दिया जाये तो वह उसका विकार थोड़े हो जायेगा ! इसी तरह इवर्ण के स्थान में यकार का प्रयोग हो तो वह विकार कैसे हुआ ! अतः यहाँ न तो नियमसाधन का दृष्टान्त ही साधक है, न प्रतिदृष्टान्त ॥ ४३ ॥

यहाँ द्रव्यविकार का उदाहरण भी—

नहीं; असमान द्रव्यों के विकारविकल्प से ॥ ४४ ॥

अपने से असमान जातीय द्रव्यों में प्रकृतिभाव क्लृप्त है, परन्तु वहाँ विकार प्रकृति का अनुविधान (अनुवृत्ति) करते हैं; यहाँ तो इवर्ण का यकार अनुविधान नहीं करता, अतः यहाँ द्रव्यविकार उदाहरण नहीं बन सकता ॥ ४४ ॥

द्रव्यविकार के वैषम्य की तरह वर्णविकारविकल्प मान लिया जाये ? ॥ ४५ ॥

जैसे द्रव्यत्वेन समान प्रकृति में विकार-विषमता देखी जाती है; इसी तरह यहाँ वर्णभाव से समान प्रकृति का विकारविकल्प क्यों न मान लिया जाये ? ॥ ४५ ॥

विकारधर्मानुपपत्ति के कारण नहीं मान सकते ॥ ४६ ॥

द्रव्यसामान्य में विकारधर्म यह है कि जैसा द्रव्य हो—मिट्टी हो या सुवर्ण हो, तदात्मक में अन्वय होने पर पूर्व पिण्डाद्याकृति निवृत्त हो जाती है, तथा कुण्डलाद्याकृति उत्पन्न हो जाती है—इसे विकार कहते हैं। वर्णसामान्य में कोई शब्दात्मा सुवर्ण व्यक्ति की तरह अन्वयी नहीं, जो इत्व को छोड़ दे और यत्व को ग्रहण कर ले ! वहाँ जैसे द्रव्यत्वेन समान होने पर भी विकारवैषम्य होने पर घोड़ा जैसे बैल नहीं हो पाता,

सति द्रव्यभावे विकारवैषम्ये नाऽनडुहोऽश्वो विकारः, विकारधर्मानुपपत्तेः; एवमिवर्णस्य न यकारो विकारः, विकारधर्मानुपपत्तेरिति ॥ ४६ ॥

३. इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः—

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४७ ॥

अनुपपन्ना पुनरापत्तिः। कथम्? पुनरापत्तेरननुमानादिति। इकारो यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवति, न पुनरिकारस्य स्थाने यकारस्य प्रयोगोऽप्रयोगश्चेत्यत्रानुमानं नास्ति ॥ ४७ ॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः? ॥ ४८ ॥

अननुमानादिति न। इदं ह्यनुमानम्—

सुवर्णं कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते, रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते, एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति? ॥ ४८ ॥

व्यभिचारादननुमानम्, यथा—पयो दधिभावमापन्नं न पुनः पयो भवति, किमेवं वर्णानां न पुनरापत्तिः? अथ सुवर्णवत् पुनरापत्तिरिति?

सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्च—

न; तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ॥ ४९ ॥

क्योंकि वहाँ विकारधर्म की उत्पत्ति नहीं है; इसी तरह इवर्ण भी यकार का विकार नहीं है, क्योंकि यहाँ विकारधर्म की उपपत्ति नहीं है ॥ ४६ ॥

३. इसलिये भी वर्ण विकार नहीं है, क्योंकि—

विकारापन्नों की पुनरापत्ति नहीं हुआ करती ॥ ४७ ॥

यहाँ पुनःप्राप्ति अनुपपन्न है; कैसे? पुनरापत्ति से विकार का अनुमान नहीं होता। यहाँ तो इकार यकार बनकर फिर इकार बन जाता है। यकार के स्थान में इकार का प्रयोग है, या अप्रयोग, अतः इस विषय में विकार का अनुमान नहीं होता ॥ ४७ ॥

सुवर्णादिकों के पुनरापादन से उक्त हेतु नहीं बनता? ॥ ४८ ॥

अनुमान नहीं होता—यह आपका कथन उचित नहीं; क्योंकि यह अनुमान है—'सुवर्ण कुण्डलत्व को छोड़कर रुचकत्व-आकृति प्राप्त कर लेता है, रुचकत्व को छोड़कर पुनः कुण्डलत्वाकृति धारण कर लेता है। इसी तरह इकार भी यकार बन कर पुनः इकार बन जाता है'? ॥ ४८ ॥

हेतु के व्यभिचरित होने से अनुमान नहीं है; जैसे दूध के दही बन जाने पर पुनः वह दूध नहीं बन सकता। क्या इस दूध की तरह वर्णों का पुनरापादन नहीं होता, या सुवर्ण की तरह पुनरापादन हो जाता है? सुवर्ण की तरह आपादन तो—

नहीं होता; क्योंकि उस सुवर्ण के विकार उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अवस्थितं सुवर्णं हीयमानेन धर्मेण उपजायमानेन च धर्मि भवति, नैवं कश्चिच्छब्दात्मा हीयमानेनेत्वेन उपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते, तस्मात् सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति ॥ ४९ ॥

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः[१] ? ॥ ५० ॥

वर्णविकारा अपि वर्णत्वं न व्यभिचरन्ति, यथा—सुवर्णविकारः सुवर्णत्वमिति ? ॥ ५० ॥

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य[१] ॥ ५१ ॥

कुण्डलरुचकौ सुवर्णस्य धर्मौ न सुवर्णत्वस्य, एवमिकारयकारौ कस्य वर्णात्मनो धर्मौ ? वर्णत्वं सामान्यम्, न तस्येमौ धर्मौ भवितुमर्हतः। न च निवर्तमानो धर्म उपजायमानस्य प्रकृतिः, तत्र निवर्तमान इकारो न यकारस्योपजायमानस्य प्रकृतिरिति ॥ ५१ ॥

४. इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ५२ ॥

'नित्या वर्णाः' इत्येतस्मिन् पक्षे इकारयकारौ वर्णौ—इत्युभयोर्नित्यत्वाद्

वर्तमान सुवर्ण हीयमान, तथा उत्पद्यमान धर्म से धर्मी बन सकता है; परन्तु कोई शब्दात्मा हीयमान इकार से उत्पद्यमान यकार द्वारा धर्मी नहीं बनता। अतः यहाँ सुवर्णोदाहरण नहीं घटता ॥ ४९ ॥

वर्णत्व के सामान्य होने से, वर्णविकारों का प्रतिषेध युक्त नहीं ॥ ५० ॥

वर्णविकार भी वर्णत्व को व्यभिचरित नहीं कर पाते, जैसे—सुवर्णविकार सुवर्णत्व को; (अतः वर्णविकार से वर्णत्व स्थिर होने से वर्ण विकार है ?) ॥ ५० ॥

सामान्यवान् का विकारधर्म (कार्ययोग) सामान्य का नहीं बना करता ॥ ५१ ॥

कुण्डल या रुचक—सुवर्ण के धर्म हैं, सुवर्णत्व के नहीं, इस तरह इकार यकार किस वर्णात्मा के धर्म होंगे ? वर्णत्व सामान्य है, उसके इकार-यकार धर्म नहीं बन सकते। जो विनष्ट होता है वह (हीयमान) धर्म उपजायमान धर्म की प्रकृति कैसे बन सकता है ! अतः निवर्तमान इकार उपजायमान यकार की प्रकृति नहीं है ॥ ५१ ॥

४. इसलिये भी वर्णविकार का अनुपपादन समझना चाहिये—

(क्योंकि) नित्य होनेपर उनमें विकार न बनेगा, अनित्य मानने पर उनका अनवस्थान होगा ॥ ५२ ॥

'वर्ण नित्य हैं' इस पक्ष में इकार-यकार दोनों ही वर्णों के नित्य होने से उनमें

---

१. १. सूत्रद्वयं यद्यपि न्यायसूचीनिबन्धे नोपलभ्यते इति तात्पर्यटीकाऽसम्मतिः स्पष्टं प्रतिभाति, तथापि वार्त्तिककृता सूत्रद्वयस्यापि व्याख्यानादस्माभिरिदं स्वीकृतम् ।—स०

विकारानुपपत्तिः। नित्यत्वेऽविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति ! अथानित्या वर्णा इति पक्षः ? एवमप्यनवस्थानं वर्णानाम्। किमिदमनवस्थानं वर्णानाम् ? उत्पद्य निरोधः। उत्पद्य निरुद्धे इकारे यकार उत्पद्यते, यकारे चोत्पद्य निरुद्धे इकार उत्पद्यत इति कः कस्य विकारः ! तदेतदवगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे वेदितव्यमिति ॥ ५२ ॥

नित्यपक्षे तु तावत् समाधिः—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ? ॥ ५३ ॥

नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधः। यथा नित्यत्वे सति किञ्चिदतीन्द्रियम्, किञ्चिदिन्द्रियग्राह्यम्, इन्द्रियग्राह्याश्च वर्णाः; एवं नित्यत्वे सति किञ्चिन्न विक्रियते, वर्णास्तु विक्रियन्त इति ?

विरोधादहेतुस्तद्धर्मविकल्पः; नित्यं नोपजायते नापैति। अनुपजनापायधर्मकं नित्यम्। अनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तम्, न चान्तरेणोपजनापायौ विकारः सम्भवतीति। तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते ? नित्यत्वमेषां निवर्त्तते। अथ नित्याः ? विकारधर्मत्वमेषां निवर्त्तते। सोऽयं विरुद्धो हेत्वाभासो धर्मविकल्प इति ॥ ५३ ॥

विकार नहीं बनेगा; क्योंकि नित्य मानने पर उनके अविनाशी होने से कौन किसका विकार होगा ! यदि 'वर्ण अनित्य हैं' यह पक्ष मानते हो तो भी वर्णों का अनवस्थान ही रहेगा। 'अनवस्थान' से तात्पर्य है 'उत्पन्न होकर उनका निरोध'। इकार के उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर यकार उत्पन्न होता है, और यकार के उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर इकार उत्पन्न होता है, तब बताइये—इनमें कौन किसका विकार बन सकता है ! यह 'उत्पन्न होकर निरोध' अवग्रह (असंहिता) करके सन्धि के विषय में या सन्धि करके अवग्रह के विषय में समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

शंका—नित्यपक्ष में तो समाधान हो सकता है—

नित्य वर्णों के अतीन्द्रिय होने से तथा तद्धर्मविकल्प से वर्णविकार का प्रतिषेध नहीं बन सकता ? ॥ ५३ ॥

'वर्ण नित्य हैं' यह मानने पर उनमें विकार नहीं होगा—यह आप नहीं कह सकते; क्योंकि नित्य होने पर कुछ पदार्थ अतीन्द्रिय तथा कुछ इन्द्रियग्राह्य होते हैं; वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं। इस प्रकार, नित्य होने पर कोई पदार्थ विकृत नहीं होता, वर्ण विकृत हो जाते हैं ?

उत्तर—यह 'तद्धर्मविकल्प' विरुद्ध होने से यहाँ हेतु नहीं बन सकता। नित्य न उत्पन्न होता है, न विनष्ट। नित्य अनुत्पादाविनाशधर्मक होता है, और अनित्य उत्पाद-विनाशधर्मक। उत्पत्ति, विनाश के विना विकार बनता नहीं। इस नय से, वर्ण यदि विकृत होते हैं तो उनमें नित्यत्व कहाँ रहा ! यदि नित्य हैं तो इनमें विकारधर्म कैसे रहेगा ! अतः आपका यह 'धर्मविकल्प' हेतु हेत्वाभास है ॥ ५३ ॥

अनित्यपक्षे समाधि :—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारोपपत्तिः ? ॥ ५४ ॥

यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवत्येवमेषां विकारो भवतीति ?

असम्बन्धादसमर्था अर्थप्रतिपादिका[1] वर्णोपलब्धिर्न विकारेण सम्बन्धादसमर्था, या गृह्यमाणा वर्णविकारमर्थमनुमापयेदिति । तत्र यादृगिदम् यथा गन्धगुणा पृथिव्येवं शब्दसुखादिगुणापीति, तादृगेतद्भवतीति । न च वर्णोपलब्धिर्वर्णनिवृत्तौ वर्णान्तरप्रयोगस्य निर्वर्तिका । योऽयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगः, यद्ययं वर्णोपलब्ध्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्वमापद्यते इति गृह्येत । तस्माद् वर्णोपलब्धिरहेतुर्वर्णविकारस्येति ॥ ५४ ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चोप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

'तद्धर्मविकल्पात्' इति न युक्तः प्रतिषेधः । न खलु विकारधर्मकं किञ्चिन्नित्यमुपलभ्यत इति वर्णोपलब्धिवदिति न युक्तः प्रतिषेधः । अवग्रहे हि दधि

शङ्का—अनित्य मानने पर तो उनमें विकारधर्म बन जायेगा—

वर्णों में अनवस्थायित्व (स्वल्पकालस्थायित्व) होने पर भी उनकी उपलब्धि की तरह उनमें विकार भी बन जायेगा ? ॥ ५४ ॥

जैसे स्वल्पकालस्थायी वर्णों का श्रवण उपपन्न होता है, उसी तरह उनकी अस्थायिता में उनका विकार भी सम्भव है ?

उत्तर—जब प्रकृतिशब्द (इकार) के साथ विकृतिशब्द (यकार) से असम्बद्ध रहने पर वर्णोपलब्धि अर्थप्रतिपादन में असमर्थ है तो विकार से सम्बन्ध न होने से उसका ज्ञान कराने में असमर्थ ही रहेगी । उसमें ऐसी शक्ति कहाँ से आ जायेगी कि वह गृहीत होती हुई वर्णविकार का अनुमान करा सके ! वर्णोपलब्धि वर्णवृत्ति में वर्णान्तरप्रयोग की निर्वर्त्तिका नहीं है । गंध गुणवाली पृथ्वी जैसे शब्द सुख आदि गुणवती होती है, वैसा ही यहाँ समझना होगा । यह जो इकारनिवृत्ति होने पर यकार का प्रयोग है, यदि यह यकार वर्णोपलब्धि से निवृत्त हो जाता तो 'वहाँ सुनाई देता हुआ इकार यकारत्व को प्राप्त होता है' ऐसा परीक्षकों द्वारा समझा जाता । ऐसा नहीं होता, अतः मान लेना चाहिये कि वर्णोपलब्धि (उपलभ्यमान इकार) वर्णविकार (यकार) का हेतु नहीं है ॥५४॥

विकारी मानने पर, उसमें नित्यत्व न रहने से तथा कालान्तर में विकारोपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ५५ ॥

'तद्धर्मविकल्प' हेतु से प्रतिषेध उचित नहीं; क्योंकि कोई विकारी नित्य नहीं होता; अतः 'वर्णोपलब्धि की तरह'—ऐसा कह कर प्रतिषेध करना उचित नहीं । असंहिता में 'दधि + अत्र' ऐसा प्रयोग कर, काफी देर तक ठहरने के वाद पुनः संहिता में 'दध्यत्र'

---

१. 'अर्थप्रतिपादने' इति पाठस्तात्पर्यसम्मतः ।

अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः संहितायां प्रयुङ्क्ते–दध्यत्रेति। चिरनिवृत्ते चायमिवर्णे यकारः प्रयुज्यमानः कस्य विकार इति प्रतीयते! कारणाभावात् कार्याभाव इति अनुयोगः प्रसज्यत इति ॥ ५५ ॥

५. इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः—

प्रकृत्यनियमात्[1] ॥ ५६ ॥

इकारस्थाने यकारः श्रूयते, यकारस्थाने खल्विकारो विधीयते–विध्यति इति। तद्यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो वर्णानाम्, तस्य प्रकृतिनियमः स्यात्। दृष्टो विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियम इति ॥ ५६ ॥

अनियमे नियमान्नानियमः ? ॥ ५७ ॥

योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितो नियतत्वान्नियम इति भवति, एवं सत्यनियमो नास्ति। तत्र यदुक्तम्—'प्रकृत्यनियमात्' इति, एतदयुक्तमिति ? ॥ ५७ ॥

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

नियम इत्यत्रार्थाभ्युनुज्ञा, अनियम इति तस्य प्रतिषेधः। अनुज्ञातनिषिद्ध-

---

का प्रयोग करता है। इवर्ण के चिरनिवृत्त होने पर प्रयुज्यमान यकार किसका विकार प्रतीत होगा! कारणाभाव से कार्याभाव है—ऐसा अनुयोग आपके हेतु हेत्वाभास ही है ॥ ५५ ॥

५ इस कारण भी वर्णविकार का उपपादन नहीं होगा—

(वर्णविकारों का) प्रकृतिनियम न होने से ॥ ५६ ॥

इकार के स्थान में जो यकार श्रुत होता है, जैसे—'विध्यति', यहाँ यकार के स्थान में इकार का विधान उपलब्ध है। यदि वर्णों का प्रकृतिविकृतिभाव होता तो प्रकृतिनियम बन सकता था; क्योंकि लोक में विकारी पदार्थों का प्रकृतिनियम देखा जाता है ॥ ५६ ॥

छलवादी की शंका—

यह अनियम में नियम होने से अनियम नहीं, (नियम ही है) ॥ ५७ ॥

आप ने यह जो वर्णों के विषय में प्रकृति का अनियम सिद्ध किया वह अपने विषय के लिये व्यवस्थित होने के कारण 'नियम' ही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर अनियम कहाँ रहा! अतः आप ने अभी जो 'प्रकृत्यनियम' हेतु दिया था, वह अनुपपन्न है ॥ ५७ ॥

उत्तर—

नियम 'अनियम'—दोनों का शाश्वतिक विरोध होने से, अनियम में नियम बताने से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ५८ ॥

'नियम' इस शब्द से तदर्थ की स्वीकृति है, 'अनियम' इस शब्द से तदर्थ

---

१. 'वर्णविकाराणाम्' इत्यधिकः पाठः क्वचित्।

योश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति । अनियमश्च नियतत्वान्नियमो न भवतीति नात्रार्थस्य तथाभावः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि ? तथाभूतस्यार्थस्य नियमशब्देनाभिधीयमानस्य नियतत्वान्नियमशब्द एवोपपद्यते । सोऽयं नियमादनियमे प्रतिषेधो न भवतीति ॥ ५८ ॥

६. न चेयं वर्णविकारोपपत्तिः परिणामात्, कार्यकारणभावाद्वा; किं तर्हि ?

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ ५९ ॥

स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः, स भिद्यते । गुणान्तरापत्तिः–उदात्तस्यानुदात्त इत्येवमादिः । उपमर्दो नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोपजनः । ह्रासः = दीर्घस्य ह्रस्वः । वृद्धिः–ह्रस्वस्य दीर्घः, तयोर्वा प्लुतः । लेशः = लाघवम्, स्त इत्यस्तेर्विकारः । श्लेषः = आगमः, प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा । एत एव विशेषा विकारा इति एत एवादेशाः । एते चेद्विकाराः उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति ॥ ५९ ॥

का प्रतिषेध है । स्वीकृति तथा निषेध परस्पर विरुद्ध हैं, अतः ये पर्याय नहीं बन सकते । तथा 'अनियम' के नियमतः रहने से अनियम नियम नहीं है—ऐसा प्रतिषेध नहीं किया गया है; किन्तु 'यही नियम है'—ऐसा ही भाव समझना चाहिये । इस प्रकार, छलवादी का नियम से अनियम में प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ५८ ॥

६. हमारा यह वर्णविकारोपपादन परिणाम या कार्यकारणसम्बन्ध से नहीं, अपितु—

गुणान्तरापादन; उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश, श्लेष—इनसे विकारोपपादन होने से वर्ण विकार हैं ॥ ५९ ॥

'विकार' से हमारा तात्पर्य है—स्थान्यादेशभाव होने से स्थानी अक्षर का प्रयोग न कर आदेश का प्रयोग करना । उसके भेद हैं—

१. गुणान्तरापत्ति, जैसे—उदात्त स्वर का अनुदात्तविधान । २. उपमर्द से तात्पर्य है—एक रूप की निवृत्ति होने पर रूपान्तर का उत्पाद । ३. ह्रास, जैसे—दीर्घ का ह्रस्वविधान । ४. वृद्धि, जैसे—ह्रस्व का दीर्घ या ह्रस्व-दीर्घ का प्लुतविधान । ५. लेश का अर्थ है—लाघव = अल्पीभाव, जैसे 'अस्ति' का द्विवचन 'स्तः', यहाँ 'अ' का लोप करके लाघव किया गया । ६. श्लेष, अर्थात् प्रकृति या प्रत्यय का आगम । इतने ही विशेष विकार हैं, अतः इतने ही आदेश हैं । यदि वर्ण में ये उपर्युक्त आदेश विकार कहें गये हैं तो हम भी उसे वर्णविकार मान लेंगे । इस स्थिति में हमारा आप से कोई विरोध नहीं ॥ ५९ ॥

[इस प्रकार, वर्णों की अनित्यता का प्रतिपादन कर, अब शब्दप्रामाण्योपयोगी 'पद' का निरूपण कर रहे हैं—]

शब्दशक्तिपरीक्षाप्रकरणम् [६०–७१]

पद-अर्थनिरूपणम्

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ६० ॥

यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्तीर्द्वयी-नामिकी, आख्यातिकी च। ब्राह्मणः, पचतीत्युदाहरणम्।

उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञा, लक्षणान्तरं वाच्यमिति? शिष्यते च खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः, तयोः पदसंज्ञार्थमिति। पदेनार्थसम्प्रत्यय इति प्रयोजनम् ॥ ६० ॥

नामपदं चाधिकृत्य परीक्षा, गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम्, तदर्थे—

व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात् संशयः ॥ ६१ ॥

अविनाभाववृत्तिः = सन्निधिः। अविनाभावेन वर्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते, तत्र न ज्ञायते—किमन्यतमः पदार्थः? उत सर्व इति ॥ ६१ ॥

व्यक्तिवादः

शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदार्थावधारणम्, तस्मात्—

वे वर्ण यदि विभक्त्यन्त हो तो 'पद' कहलाते हैं ॥ ६० ॥

स्वदर्शनोक्त (२. २. ५९) प्रमाणानुसार विकृत वर्ण विभक्त्यन्त होने पर 'पद' कहलाते हैं। विभक्ति दो प्रकार की होती है—१. नामिकी (प्रातिपदिक-संबन्धिनी), २. आख्यातिकी (धातुसम्बन्धिनी)। नामिकी विभक्ति का उदाहरण है—'ब्राह्मणः'। आख्यातिकी का उदाहरण है—'पचति'।

तब तो उपसर्ग, निपात शब्दों की पदसंज्ञा नहीं हो पायेगी, अतः 'पद' का लक्षणा-न्तर कीजिये? इसी लक्षण से ये भी 'पद' कहला सकते हैं; क्योंकि इनमें नामिकी विभक्ति का शास्त्र में अव्ययप्रयुक्त लोपविधान है। यह पदसंज्ञा इसीलिए की जाती है कि पद से अर्थसम्प्रत्यय हो जाये ॥ ६० ॥

[प्रकृत्यर्थ भी नाम (प्रातिपदिक) से ही व्यवहृत होते हैं, अतः नाम के प्रधान होने से उसकी परीक्षा से प्रत्ययों की परीक्षा भी हो जायेगी—यों] नामपदों को लेकर परीक्षा प्रारम्भ की जा रही हैं। 'गौ' यह पद उदाहरण है; उसके अर्थ में—

व्यक्ति, आकृति तथा जाति-तीनों की सन्निधि में उपचार होने से संशय होता है ॥ ६१ ॥

अविनाभाव से रहना 'सन्निधि' कहलाता है। अविनाभाव से रहनेवालों में व्यक्ति, आकृति, जाति—इन तीनों में 'गौ' यह प्रयोग होता है। यहाँ ज्ञात नहीं होता कि 'गो' पद का अर्थ व्यक्ति है, आकृति है, या जाति है, या तीनों मिलकर हैं? ॥ ६१ ॥

शङ्का—शब्द के प्रयोगसामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय होता है, इसलिए—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्ख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासानुबन्धाना व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ? ॥ ६२ ॥

व्यक्तिः पदार्थः, कस्मात् ? याशब्दप्रभृतीनां व्यक्तावुपचारात्। उपचारः = प्रयोगः।

या गौस्तिष्ठति, या गौर्निषण्णेति नेदं वाक्यं जातेरभिधायकम्; अभेदात्। भेदात्तु द्रव्याभिधायकम्। गवां समूह इति भेदाद् द्रव्याभिधानम्, न जातेः; अभेदात्। चैद्याय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागः, न जातेः; अमूर्त्तत्वात्, प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च। परिग्रहः—स्वत्वेनाभिसम्बन्धः, कौण्डिन्यस्य गौर्ब्राह्मणस्य गौरिति, द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेद इति उपपन्नम्, अभिन्ना तु जातिरिति। सङ्ख्या—दश गावो विंशतिर्गाव इति भिन्नं द्रव्यं सङ्ख्यायते, न जातिः, अभेदादिति। वृद्धिः—कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः, अवर्द्धत गौरिति। निरवयवा तु जातिरिति। एतेनापचयो व्याख्यातः। वर्णः—शुक्ला गौः, कपिला गौरिति द्रव्यस्य गुणयोगः, न सामान्यस्य। समासः—गोहितम्,

---

'या' शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, सङ्ख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास तथा अनुबन्ध—इनका व्यक्ति में ही प्रयोग होने से व्यक्ति को 'गो' पदार्थ मानलें ? ॥ ६२ ॥

व्यक्ति ही पदार्थ है; क्योंकि 'या' (यत्) शब्द आदि का व्यक्ति में ही प्रयोग होता है। सूत्रस्थ 'उपचार' का अर्थ है—प्रयोग।

'जो गौ बैठी है,' 'जो गौ खड़ी है' यह वाक्य अभेद सम्बन्ध से जाति का अभिधायक नहीं हो सकता, अपितु भेद-वाक्य द्रव्याभिधायक होता है, जैसे—'गौओं का समूह'। यह भेद से अनेक व्यक्तिरूप द्रव्य समूह का अभिधायक है, जाति का नहीं; क्योंकि जाति का अभेद है। 'चैद्य को गौ देता है' यहां द्रव्य का त्याग है, न कि जाति का; क्योंकि जाति तो अमूर्त होती है, उसका त्याग कैसे बनेगा ! अथ च, प्रतिक्रम (विश्लेष) अनुक्रम (संश्लेष) अर्थात् विभाग-संयोग भी जाति में नहीं रहते. अतः उक्त वाक्य में द्रव्य का ही त्याग मानना उचित है। परिग्रह कहते हैं—स्वत्व द्वारा अभिसम्बन्ध (स्वामिभाव) को। जैसे—'कौण्डिन्य की गौ' 'ब्राह्मण की गौ'। द्रव्याभिधान में ही द्रव्यभेद से यह सम्बन्धभेद बन सकता है; क्योंकि जाति तो अभिन्न होती है, वह सम्बन्धभेदक कैसे होगी ! सङ्ख्या—'दस गौ' 'बीस गौ'—यह संख्याभिधान भी द्रव्याभिधान में बन सकता है, क्योंकि भिन्न द्रव्य ही गिना जा सकता है; जाति तो अभिन्न होने से गिनी नहीं जा सकती। वृद्धि—कारणवान् द्रव्य का अवयवोपचय हो सकता है, जैसे—गौ बढ़ गयी। जाति निरवयव होने से कैसे बढ़ेगी ! इसी तरह अपचय (ह्रास) का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए। वर्ण—'शुक्ला गौ' 'कपिला गौ' यह वर्णाभिधान भी वाक्य को द्रव्यपरक मानने पर ही बनता है; क्योंकि शुक्लत्वादि गुण

गोसुखमिति द्रव्यस्य सुखादियोगः, न जातेरिति। अनुबन्धः–सरूपप्रजननसन्तानः, गौर्गां जनयतीति तदुत्पत्तिधर्मत्वाद् द्रव्ये युक्तं न जातौ, विपर्ययादिति। द्रव्यं व्यक्तिरिति हि नार्थान्तरम्? ॥ ६२ ॥

अस्य प्रतिषेधः—

न; तदनवस्थानात् ॥ ६३ ॥

न व्यक्तिः पदार्थः। कस्मात्? अनवस्थानात्। 'या' शब्दप्रभृतिभिर्यो विशेष्यते स गोशब्दार्थः। 'या गौस्तिष्ठति', 'या गौर्निषण्णा' इति, न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते। किं तर्हि? जातिविशिष्टम्। तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः। एवं समूहादिषु द्रष्टव्यम्॥ ६३ ॥

यदि न व्यक्तिः पदार्थः, कथं तर्हि व्यक्तावुपचार इति? निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः। दृश्यते खलु—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६४ ॥

अतद्भावेऽपि तदुपचार इति–अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति।

जाति का कैसे बनेगा! समास भी व्यक्त्यभिधान में उपपन्न होता है। जैसे—'गौ का हित' 'गौ का सुख'। ये हित, सुख आदि में जाति में नहीं रहते। अनुबन्ध से तात्पर्य है—सरूपप्रजननसमूह। जैसे—'गौ गौ (बछड़ी) पैदा करती है, यहाँ द्रव्य में ही उत्पादन उचित ठहरता है; जाति में तो इसके विपरीत (अनुत्पाद) देखा जाता है। द्रव्य से हमारा तात्पर्य व्यक्ति से है। तो व्यक्ति को गोपदार्थ मान लें? ॥ ६२ ॥

इसका खण्डन—

व्यक्ति पदार्थ नहीं है; अनवस्था होने से ॥ ६३ ॥

व्यक्ति पदार्थ नहीं है; क्यों? अनुगमन होने से। 'या' शब्द आदि से जो यद्धर्मविशिष्ट विशेषित किया जाता है, वह तद्धर्मविशिष्ट गो-शब्दार्थ है। 'जो गौ बैठी है', 'जो गौ खड़ी है'—इस वाक्य में विना किसी विशेषण के, द्रव्य स्वरूपतः जातिरहित नहीं कहा जाता; अपितु जातिविशिष्ट द्रव्य कहा जाता है। इसलिए 'व्यक्ति' स्वरूपतः पदार्थ नहीं है। इसी नय से पूर्वसूत्रोक्त समूहादिक के भी व्यक्तिपरक व्याख्यान का खण्डन समझ लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

यदि व्यक्ति पदार्थ नहीं है तो उसका उपचार (लक्षणा) प्रयोग कैसे देखा जाता है? - प्रयोजनवशात् अतद्भाव में भी तत्प्रयोग देखा जाता है। जैसे—

सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य—इन कारणों से ब्राह्मण, मञ्च, कट, राज, सत्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न, पुरुष—इनका अतद्भाव में भी तदुपचार होता है ॥ ६४ ॥

'अतद्भाव में तदुपचार' से तात्पर्य है—'उस शब्द के न होने पर भी उस शब्द

सहचरणात्–'यष्टिकां भोजय' इति यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयत इति। स्थानात्–मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते। तादर्थ्यात्–कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति। वृत्ताद्–यमो राजा, कुबेरो राजेति तद्वद् वर्त्तते इति। मानाद्–आढकेन मिताः सक्तवः आढकसक्तव इति। धारणात्–तुलायां धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति। सामीप्याद्–गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्टः। योगात्–कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते। साधनात्–'अन्नं प्राणाः' इति। आधिपत्यात्–'अयं पुरुषः कुलम्', 'अयं गोत्रम्' इति।

तत्रायं सहचरणाद्योगाद् वा जातिशब्दो व्यक्तौ प्रयुज्यत इति॥ ६४॥

आकृतिवादः

यदि गौरित्यस्य पदस्य न व्यक्तिरर्थः, अस्तु तर्हि—

आकृतिः, तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ?॥ ६५॥

आकृतिः पदार्थः। कस्मात् ? तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः। सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूहः = आकृतिः, तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वव्य-

---

का प्रयोग'। जैसे—'यष्टिका को खिलाओ' इस वाक्य में 'ब्राह्मण' शब्द के न रहने पर भी यष्टिका के सहचार से 'यष्टिकाधारी ब्राह्मण को खिलाओ'—यों ब्राह्मण में यष्टि का उपचार लोक में देखा जाता है। इसी तरह, स्थान हेतु से—'मञ्च चिल्ला रहे हैं' इस वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष का कथन है। तादर्थ्य हेतु से—चटाई के लिये तृणविशेष को वयन करने वाले पुरुष के लिए भी 'चटाई वना रहा है'—यह प्रयोग होता है। वृत्त हेतु से—यह राजा यम है' (क्रूर वर्ताव करने से), या 'यह राजा कुबेर है' (दान करने से)—यह प्रयोग होता है। मान हेतु से भी—आढक परिमाण से तोले हुए सत्तु को लोक में 'आढक सत्तु' भी कह देते हैं। धारण हेतु से—तुला में रखा हुआ चन्दन 'तुलाचन्दन' कहलाने लगता है। सामीप्य हेतु से—लोक में, गङ्गा के समीपवर्ती देश को लेकर 'गङ्गा में गायें चर रही हैं—ऐसा वोल देते हैं। योग हेतु से—काले रंग में रंगी हुई साड़ी 'काली साड़ी' कहलाती है। साधन हेतु से—अन्न प्राण के साधन होने के कारण 'अन्न प्राण हैं' ऐसा वोल देते हैं। आधिपत्य हेतु से—किसी विशिष्ट प्रभाव वाले पुरुष को लेकर 'यही कुल है' 'यही गोत्र है'—ऐसा लोक में प्रयोग देखा जाता है।

यहाँ सहचार या अन्य सम्बन्धों से यह जातिशब्द व्यक्ति में प्रयुक्त होता है॥ ६४॥

यदि 'गौ' इस शब्द का व्यक्ति अर्थ नहीं मानते हो तो—

सत्त्वव्यवस्थान की सिद्धि को आकृत्यपेक्षता होने से आकृति अर्थ मान लें ?॥६५॥

आकृति पदार्थ है; क्योंकि सत्त्वव्यवस्थासिद्धि आकृत्यपेक्षित है। प्राणि आदि द्रव्य के अवयवों या उन के अवयवों का नियत रूपों में जो सन्निवेश होता है वह 'आकृति'

वस्थानं सिध्यति–अयं गौरयमश्व इति, नागृह्यमाणायाम् । यस्य ग्रहणात् सत्त्वव्यवस्थानं सिद्धयति तं शब्दोऽभिधातुमर्हति, सोऽस्यार्थ इति ।

नैतदुपपद्यते; यस्य जात्या योगस्तत्र जातिविशिष्टमभिधीयते–गौरिति । न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः, कस्य तर्हि? नियतावयवव्यूहस्य द्रव्यस्य । तस्मान्नाकृतिः पदार्थः ॥ ६५ ॥

जातिवादः

अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ? ॥ ६६ ॥

जातिः पदार्थः । कस्मात्? व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति । गां प्रोक्षय, गामानय, गां देहीति नैतानि मृद्गवके प्रयुज्यन्ते । कस्मात्? जातेरभावात् । अस्ति हि तत्र व्यक्तिः, अस्त्याकृतिः, यदभावात् तत्रासम्प्रत्ययः स पदार्थ इति ? ॥ ६६ ॥

न, आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्ते ॥ ६७ ॥

जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते, नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ च जातिमात्रं शुद्धं गृह्येत, तस्मान्न जातिः पदार्थ इति ? ॥ ६७ ॥

कहलाता है । उस आकृति के गृहीत होने पर 'यह गौ हैं', 'यह अश्व हैं'—ऐसी सत्त्वव्यवस्था उपपन्न हो सकती है; आकृति के अगृहीत होते हुए उक्त व्यवस्था उपपन्न नहीं हो सकती । जिसके ग्रहण से उक्त सत्त्वव्यवस्थान सिद्ध होता हो, उसीको शब्द कहें—यही उचित है । वही उसका अर्थ है । अतः आकृति को पदार्थ मान लें ?

आपका यह मतस्थापन उचित नहीं; क्योकि जिसका जाति से सम्वन्ध है वही यहाँ जातिविशिष्ट होकर अभिहित किया जाता है; जैसे—'गौ' । अवयवव्यूहात्मक आकृति का जाति से योग नहीं होता; अपितु नियतावयवव्यूह द्रव्य का योग वनता है । अतः आकृति पदार्थ नहीं है—यह सिद्ध हो गया ॥ ६५ ॥

तो जाति को ही पदार्थ मान लें—

गौ की मिट्टी की मूर्ति में व्यक्ति तथा आकृति होते हुए भी प्रोक्षण (वलि) आदि की प्रसक्ति न होने से जाति ही पदार्थ है ? ॥ ६६ ॥

जाति पदार्थ हैं; क्योंकि व्यक्त्याकृतियुक्त होने पर भी मृत्तिका-मूर्ति में प्रोक्षण आनयनादि की प्रसक्ति नहीं होती । 'गौ का प्रोक्षण करो', 'गौ लाओ', 'गौ दो'—ये व्यवहार मिट्टी की मूर्ति में नहीं बनते, क्योंकि वहाँ जाति नहीं है; यद्यपि वहाँ व्यक्ति भी है, आकृति भी है । जिसके अभाव से वहाँ उपर्युक्त ज्ञान नहीं हो पाता, वही पदार्थ हैं ? ॥ ६६ ॥

नहीं; आकृति तथा व्यक्ति की अपेक्षा लेकर जाति के सिद्ध होने से ॥ ६७ ॥

जाति की अभिव्यक्ति भी व्यक्ति तथा आकृति की अपेक्षा रखती है । आकृति तथा व्यक्ति के गृहीत हुए विना जाति एकाकी गृहीत नहीं हो पाती; अतः जाति पदार्थ नहीं है ॥ ६७ ॥

सिद्धान्तवादः

न वै पदार्थेन न भवितुं शक्यम्, कः खल्विदानीं पदार्थं इति ?

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिष्यते ? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति। यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च, तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गं तु जात्याकृती। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च, तदा जातिः प्रधानम्, अङ्गं तु व्यक्त्याकृती। तदेतद् बहुलं प्रयोगेषु। आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्प्रेक्षितव्यः[1] ॥ ६८ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते—नाना व्यक्त्याकृतिजातय इति ? लक्षणभेदात्। तत्र तावत्-

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ ६९ ॥

व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति, न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः। यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्वघनत्वसंस्काराणामव्यापिनः परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्तिः, मूर्च्छितावयवत्वादिति ॥ ६९ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥

तीनों के न मानने से तो पदार्थ ही न बनेगा; अब किसको पदार्थ कहें ?—

व्यक्ति, आकृति, जाति मिलकर पदार्थ हैं ॥ ६८ ॥

सूत्र में 'तु' शब्द तीनों की विशिष्टता के बोध के लिये है। क्या विशेष बोध होता है ? इन तीनों में प्रधान-गुणभाव के अनियम से पदार्थत्व रहता है। जब पदार्थ में भेदविवक्षा तथा विशेष ज्ञान कराना हो तो वहाँ व्यक्ति प्रधान है; जाति, आकृति गौण रहेंगी। जब पदार्थ में भेद अविवक्षित हो, सामान्य ज्ञान कराना हो तब जाति प्रधान होगी; और व्यक्ति, आकृति गौण रहेंगी। लोक में प्रायः जाति एवं व्यक्ति में प्रयोग देखा जाता है। आकृति-प्राधान्य के उदाहरण (मृद्गवकादि) की भी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिये ॥ ६८ ॥

यह कैसे ज्ञात होता है व्यक्ति, आकृति, जाति भिन्न-भिन्न हैं ? लक्षणभेद से ज्ञात हो जाता है। उन लक्षणों में—

गुणविशेषाश्रित द्रव्य 'व्यक्ति' कहलाता है ॥ ६९ ॥

जो व्यक्त होता हो, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हो वही 'व्यक्ति' कहलाता है, न कि समग्र द्रव्य। जो स्पर्शान्त गुणविशेषों तथा गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व संस्कारों एवं अव्यापि परिमाण का यथासम्भव आश्रय हो, वह द्रव्य मूर्ति कहलाता है; क्योंकि उसके अवयव परस्पर संयुक्त हैं ॥ ६९ ॥

जिससे जाति, तथा उसके लिङ्ग प्रख्यात हो वह 'आकृति' है ॥ ७० ॥

---

१. अस्मिन् सूत्रार्थे वार्त्तिककारस्यारुचिर्वार्त्तिक एव द्रष्टव्या।

यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् । सा च नान्या सत्त्वावयवानां तदवयवनां च नियताद् व्यूहादिति । नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम्, शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति । नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायत इति । अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ मृत्, सुवर्णम्, रजतम्—इत्येवमादिष्वाकृतिर्निवर्तते, जहाति पदार्थत्वमिति ॥ ७० ॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

या समानां बुद्धिं प्रसूते, भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते । योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम् । यच्च केषाञ्चिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोतीति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति ॥ ७१ ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ॥

जिससे जाति, तथा जाति के चिह्न ज्ञात हों उसे 'आकृति' समझना चाहिये । वह आकृति सत्त्वावयव (शिरःपादादि) तथा तदवयवों (मुखखुरादि) के नियत व्यूह से ही जानी जाती है । सत्त्व के अवयव नियतावयवव्यूह होने से जाति के ज्ञापक हैं । शिर और पैर से गौ का अनुमान करते हैं, प्राण्यङ्गों की बनावट के नियत होने पर गोत्व जाति का ज्ञान होता है । अनाकृतिव्यङ्ग्य मिट्टी, सोना, चाँदी आदि जातिद्रव्यों में आकृति निवृत्त हो जाती है, वह पदार्थत्व को छोड़ देती है ॥ ७० ॥

जाति विभिन्न आश्रयों में समान बुद्धि पैदा करनेवाली होती है ॥ ७१ ॥

जो भिन्न अधिकरणों में समान बुद्धि पैदा करे, वह 'जाति' कहलाती है । जहाँ बहुत से एक दूसरे से व्यावृत्त न होते हों । जो अर्थ अनेक स्थानों में ज्ञानानुवर्तन (प्रतीति की अनुवृत्ति कराने का) निमित्त हो वह 'जाति' कहलाता है । तथा जो किन्हीं पदार्थों की का प्रतीति करके उन्हीं का कहीं से भेद (व्यावृत्ति) करे वह 'जातिविशेष' कहलाता है ॥ ७१ ॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन)में द्वितीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त

॥ द्वितीय अध्याय भी समाप्त ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

इन्द्रियव्यतिरिक्तात्मपरीक्षाप्रकरणम् [१-३]

परीक्षितानि प्रमाणानि, प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते। तच्चात्मादीत्यात्मा विविच्यते—किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासङ्घातमात्रमात्मा ? आहोस्वित् तद्व्यतिरिक्त इति ?। कुतस्ते संशयः ? व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः। क्रियाकरणयोः कर्त्रा सम्बन्धस्याभिधानं व्यपदेशः। स द्विविधः—अवयवेन समुदायस्य—मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति, स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते इति। अन्येनान्यस्य व्यपदेशः—परशुना वृश्चति, प्रदीपेन पश्यति। अस्ति चायं व्यपदेशः—चक्षुषा पश्यति, मनसा विजानाति, बुद्ध्या विचारयति, शरीरेण सुखदुःखमनुभवतीति। तत्र नावधार्यते—किमवयवेन समुदायस्य देहादिसङ्घातस्य ? अथान्येनान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वेति ?

अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः। कस्मात् ?

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, अब प्रमेयों की परीक्षा प्रारम्भ की जा रही है। उन प्रमेयों में आत्मा प्रधान है, अतः सर्वप्रथम आत्मा के बारे में ही विवेचन किया जा रहा है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना—इनका समूहमात्र 'आत्मा' है ? या इनसे भिन्न कोई आत्मा है ? यह संशय क्यों हुआ ? लोक में उक्त दोनों ही प्रकारों में व्यपदेश (व्यवहार) देखा जाता है। क्रिया तथा करण से कर्त्ता के सम्बन्धकथन को 'व्यपदेश' कहते हैं। वह दो प्रकार का है—१. अवयव से समुदाय का व्यपदेश, जैसे—'जड़ के कारण वृक्ष खड़ा है' या 'स्तम्भों के कारण महल खड़ा है' आदि; तथा २ दूसरे से दूसरे का व्यपदेश, जैसे—'परशु द्वारा काटता है' 'दीपक द्वारा देखता है' आदि। इसमें समुदाय एवं समुदायि का सम्बन्ध नहीं है। कर्ता एवं करण पृथक् हैं। प्रकृत में यह व्यपदेश होता है—'चक्षु से देखता है', 'मन से समझता है', 'बुद्धि से विवेचन करता है', 'शरीर से सुख दुःख का अनुभव करता है'—आदि। यहाँ यह निश्चय नहीं हो पाता कि अवयव से देहादिसङ्घात का व्यपदेश है, या अन्य से अन्य का व्यपदेश ?

यह अन्य से अन्य का व्यपदेश है; क्योंकि—

दर्शन, स्पर्शन द्वारा एक ही पदार्थ का ग्रहण होता है ॥ १ ॥

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः, स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते—'यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि' इति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते, न च सङ्घातकर्तृकौ, नेन्द्रियेणैककर्तृकौ। तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति, सोऽर्थान्तरभूत आत्मा।

कथं पुनर्नेन्द्रियेणैककर्तृकौ? इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति, नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति। कथं न सङ्घातकर्तृकौ? एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ स्वात्मकर्तृकौ प्रत्ययौ प्रतिसंहितौ वेदयते, न सङ्घातः। कस्मात्? अनिर्वृत्तं हि सङ्घाते प्रत्येकं विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसन्धानमिन्द्रियान्तरेणेवेति ॥ १ ॥

न, विषयव्यवस्थानात्? ॥ २ ॥

न देहादिसङ्घातादन्यश्चेतनः। कस्मात्? विषयव्यवस्थानात्। व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि—चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते, सति च गृह्यते। यच्च यस्मिन्न-

---

दर्शन (चक्षुरिन्द्रिय) द्वारा जो अर्थ गृहीत हुआ, वही स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) से भी गृहीत होता है, जैसे—'जिसको मैंने पहले आखों देखा था आज उसे मैं छू भी रहा हूँ' या 'जिसको मैं पहले कभी छू पाया था उसे आज आँखों देख रहा हूँ'—ये दोनों ज्ञान एकविषय तथा एककर्तृक प्रतिगृहीत होते हैं, न कि सङ्घातकर्तृक या इन्द्रियविशेष द्वारा एककर्तृक हो सकते हैं। यह जो एक है और चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय से एकार्थ का ग्रहण करता है वह प्रमाता 'ये दोनों ज्ञान भिन्नेन्द्रियनिमित्तक अनन्यकर्तृक (आत्मकर्तृक) तथा समानविषय वाले हैं'—ऐसा प्रतिसन्धान करता है। वह अन्य अर्थ आत्मा है।

इन्द्रियविशेष द्वारा एककर्तृक क्यों नहीं? इन्द्रियाँ अनन्यकर्तृक स्वस्वविषयक ज्ञान की उत्पादक हो सकती हैं, न कि इन्द्रियान्तर के विषयान्तर के ज्ञान की। सङ्घातकर्तृक क्यों नहीं? यह एक ही व्यक्ति भिन्न इन्द्रियों के निमित्त वाले स्वात्मकर्तृक दो ज्ञानों का अनुसन्धान कर सकता है, यह सङ्घात नहीं हैं; क्योंकि एक सङ्घात दूसरे विषय का ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, किंतु अपने-अपने विषय का ग्रहण करने में समर्थ हैं। अतः इससे भी परस्पर भिन्न इन्द्रिय की तरह से अननुसन्धान ही रहेगा? ॥ १ ॥

शंका—

अन्य चेतन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि इन्द्रियों के विषयनियम से ही काम चल जायेगा? ॥ २ ॥

देहादिसङ्घात से अन्य चेतन मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के विषयनियम से व्यवस्था बन जायेगी। इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय वाली हैं—चक्षु के न रहने पर रूप का ग्रहण नहीं होता, उसके रहने पर होता है। जो जिसके न होने पर

सति न भवति सति भवति, तस्य तदिति विज्ञायते। तस्माद् रूपग्रहणं चक्षुषः, चक्षू रूपं पश्यति। एवं घ्राणादिष्वपीति। तानीन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषय-ग्रहणाच्चेतनानि; इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात्। एवं सति किमन्येन चेतनेन ?

सन्दिग्धत्वादहेतुः। योऽयमिन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः, स किमयं चेतनत्वात् ? आहोस्वित् चेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वात् ? इति सन्दिह्यते। चेतनोपकरणत्वेऽपीन्द्रियाणां ग्रहणनिमित्तत्वाद् भवितुमर्हति ॥ २ ॥

यच्चोक्तम्—विषयव्यवस्थानादिति ?

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३ ॥

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषयग्राहि चेतनं स्यात्, कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात् ? यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि, तस्मात् तेभ्योऽन्यश्चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितिमतीतोऽनु-मीयते। तत्रेदमभिज्ञानमप्रत्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाह्रियते—रूपदर्शी खल्वयं

नहीं होता और जिसके होने पर होता है, वह उसका विषय होता है। इसलिये रूपज्ञान चक्षु का विषय है; क्योंकि चक्षु रूप को देखता है। इसी तरह घ्राणादि के विषय में भी समझ लेना चाहिये। ये सभी इन्द्रियाँ अपने विषय का ज्ञान करनेवाली हैं, अतः 'चेतन' हैं; क्योंकि इन्द्रियों के भावाभाव से उनके विषयों के ग्रहण का भावाभाव होता है। अतः दूसरा चेतन मानने की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—सन्दिग्ध होने से वह हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि यह जो इन्द्रियों के भावाभाव से विषयज्ञान का तथात्व है, वह क्या चेतन होने से है, या चेतन कर्ता के सहकारि कारण होने से ज्ञान का निमित्त है—यह सन्देह होता है। चेतन का उपकरण होने पर भी, इन्द्रियों के ग्रहणनिमित्त (ज्ञानसाधन) होने से उक्त व्यवस्था हो सकती है ॥ २ ॥

यह जो कहा कि विषयव्यवस्था से ? यह हेतु भी असिद्ध है; क्योंकि—

तद्व्यवस्थान से आत्मा की सत्ता सिद्ध होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ३ ॥

यदि एक ही इन्द्रिय अव्यवस्थित विषय होती हुई सर्वज्ञरूप में सब विषयों का ग्रहण करनेवाली चेतन होती तो उससे भिन्न चेतन का अनुमान कोई क्यों करे ! चूँकि इसके विपरीत, इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय वाली हैं, अतः उनसे एक अन्य सर्वज्ञ, सर्वविषयग्राही, विषयव्यवस्था की परिधि के बाहर चेतन की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चेतन की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये यह दृढ प्रत्यभिज्ञान (असाधारण चिह्न) उदाहृत किया जा सकता है—'जिसने पहले रूप को देखा था, वही अब पूर्वगृहीत रस या

रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति, गन्धप्रतिसंवेदी च रूपरसावनुमिनोति । एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम् । रूपं दृष्ट्वा गन्धं जिघ्रति, घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति । तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते, प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रतिसन्दधाति, प्रतिसन्धाय वेदयते । सर्वविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते । अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति । सेयं सर्वज्ञस्य ज्ञेयाव्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम् । आकृतिमात्रं[1] तूदाहृतम् । तत्र यदुक्तम्—'इन्द्रियचैतन्ये सति किमन्येन चेतनेन', तदयुक्तं भवति ॥ ३ ॥

शरीरव्यतिरिक्तात्मपरीक्षाप्रकरणम् [४-६]

१. इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा, न देहादिसङ्घातमात्रम्;

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासङ्घातः प्राणिभूतो गृह्यते, प्राणिभूतं

गन्ध का ज्ञान कर रहा है, गन्धप्रतिसंवेदी रूप-रस का अनुमान कर रहा है' । इसी तरह अन्य विषयों के वारे में कहना चाहिये—यह रूप को देखकर गन्ध सूँघता है, गन्ध सूँघकर रूप को देखता है । इस प्रकार प्रमाता अनियतक्रम सर्वविषय-ज्ञान को एक चेतन के आश्रय से तथा एककर्तृक रूप में प्रतिसन्धान करता है; प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द तथा संशयों को एवं नानाविषयक ज्ञानों को एककर्तृक रूप में प्रतिसन्धान करता है, वैसा करके जान लेता है, सर्वविषयक शास्त्र को जान लेता है ! प्रमाता श्रोत्र के अगोचर अर्थ को, क्रमभावी वर्णों को, सुनकर पदवाक्यभाव में प्रतिसन्धान करके शब्दार्थव्यवस्था को समझता हुआ एक ही इन्द्रिय से ग्रहण न करने योग्य अनेकविषयक अर्थों को एक-एक इन्द्रिय से ग्रहण करता है । सर्वज्ञ की यह ज्ञेयव्यवस्था किसी भी तरह अतिक्रान्त नहीं की जा सकती । यों हमने सामान्यतः यह एक उदाहरण दे दिया है । अतः आप (पूर्वपक्षी—चार्वाकमतानुयायी) का यह कहना—'इन्द्रियचैतन्य के रहते अन्य चेतन मानने की आवश्यकता नहीं'—सर्वथा आयुक्त है ॥ ३ ॥

१. इस कारण भी देहादिसङ्घात नहीं, अपितु देहादिव्यतिरिक्त ही आत्मा है;

शरीर-दाह में पातक न होने से ॥ ४ ॥

सूत्र में 'शरीर' से शरीर, इन्द्रिय, वुद्धि, वेदनासमूहरूप प्राणी से तात्पर्य है । शास्त्र में प्राणमय शरीर को जलाने में प्राणिहिंसा कृत पाप 'पातक' कहा गया है (केवल शरीर

---

१. 'सामान्यमात्रमित्यर्थः । तदेतच्चेतनवृत्तं देहादिभ्यो व्यावर्तमानं तदतिरिक्तं चेतनं साधयतीति नेच्छाद्याधारत्वं देहादीनाम्' इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः ।

शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतपापं पातकमित्युच्यते, तस्याभावः; तत्फलेन कर्तुरसम्बन्धात्, अकर्तुश्च सम्बन्धात्। शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धेन खल्वन्यः सङ्घात उत्पद्यते, अन्यो निरुध्यते। उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते; देहादिसङ्घातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात्। अन्यत्वाधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायत इति। एवं च सति यो देहादिसङ्घातः प्राणिभूतो हिंसां करोति, नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते; यश्च सम्बध्यते न तेन हिंसा कृता। तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। सति च सत्त्वोत्पादे, सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गः प्राप्नोति, तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। तद्यदि देहादिसङ्घातमात्रं सत्त्वं स्यात्, शरीरदाहे पातकं न भवेत्! अनिष्टं चैतत्। तस्माद् 'देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा नित्यः' इति ॥ ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि; तन्नित्यत्वात् ? ॥ ५ ॥

यस्यापि नित्येनात्मना सात्मकं शरीरं दह्यते, तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दग्धुः। कस्मात् ? नित्यत्वादात्मनः। न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति, अथ हिंस्यते ? नित्यत्वमस्य न भवति। सेयमेकस्मिन् पक्षे हिंसा निष्फला, अन्यस्मिंस्त्वनुपन्नेति ? ॥ ५ ॥

को जलाने से पातक नहीं लगता) उसका अभाव होगा; क्योंकि उस फल से कर्ता का सम्वन्ध नहीं अकर्ता का सम्वन्ध रहता है। शरीर-इन्द्रिय-वुद्धि-वेदना-प्रवाह से अन्य सङ्घातात्मक शरीर दूसरा उत्पन्न होता है, वह फलभोक्ता है। अन्य सङ्घात निरुद्ध (मृत) होता है, उत्पादनिरोधरूप प्रवाह देह के अन्यत्व का बाध, देहादिसङ्घात में ही अन्यत्व का अधिष्ठान (भेदाधारत्व) होने से, नहीं कर सकता। यह देहेन्द्रियादिसङ्घात अन्यत्व का अधिष्ठान प्रसिद्ध है'—इस मत में जो प्राणिभूत देहादिसंघात हिंसा करता है, वह हिंसा के पातक से सम्बद्ध नहीं होगा, तथा जिसने हिंसा नहीं की उसे वह पातक लगेगा—इस तरह आपके पक्ष में कृतहान (कर्ता के नाश से कृत फल का असम्वन्ध) तथा अकृताभ्यागम दोष (अकर्ता को शरीरान्तर में अकृत फल की प्राप्ति) होने लगेगी। और अकर्मनिमित्तक ही सत्त्वोत्पत्ति होने लगेगी, तव मोक्ष के लिये ब्रह्मचर्यादि की क्या जरूरत रह जायेगी! अतः यह सिद्ध हुआ यदि देहादिसंघातमात्र को प्राणी मानोगे तो शरीरदाह में पातक न होगा, जब कि यह शास्त्रविरुद्ध है। तस्मात् 'देहातिसंघातव्यतिरिक्त आत्मा है, तथा वह नित्य है'—यही मत उचित है ॥ ४ ॥

शंका—

सात्मक शरीर के प्रदाह में पातक नहीं होगा; क्योंकि आत्मा नित्य है ? ॥ ५ ॥

जिसने नित्य आत्मा से संयुक्त शरीर जलाया है, उसके जलने पर भी जलाने वाले को पाप नहीं लगना चाहिये; क्योंकि आत्मा तो नित्य है, नित्य को कभी कोई जला सकता है! यदि यह जल जाता है तो इसमें नित्यत्व कैसा ? इस प्रकार यह हिंसा (दोनों पक्षों में से) एक पक्ष में निष्फल है और दूसरे में तो बनेगी ही नहीं ? ॥ ५ ॥

न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

न ब्रूम :—'नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा', अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तॄणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा, वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा, प्रमापणलक्षणो वधो वा हिंसेति । कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनम्, तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम्; कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तॄणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा, न नित्यस्यात्मनः । तत्र यदुक्तम्—'तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्' इत्येतदयुक्तम् । यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा, तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्चेति दोषः ।

एतावच्चैतत् स्यात्—सत्त्वोच्छेदो वा हिंसा, अनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयकर्तृवधो वा; न कल्पान्तरमस्ति । सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः, तत्र किमन्यच्छेषं यथाभूतमिति ।

अथ वा[1]—कार्याश्रयकर्तृवधादिति, कार्याश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातः; नित्यस्यात्मानस्तत्र सुखदुःखप्रतिसंवेदनं तस्याधिष्ठानमाश्रयः तदायतनं तद् भवति न ततोऽन्यदिति स एव कर्ता । तन्निमित्ता हि सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिः

उक्त प्रतिषेध उचित नहीं; क्योंकि हम शरीर तथा तदाश्रयभूत इन्द्रियों के उच्छेद को 'हिंसा' कहते हैं ॥ ६ ॥

हम (आस्तिक दर्शनकार) यह नहीं कहते कि नित्य द्रव्य का वध 'हिंसा' है, अपितु अनुच्छिन्न हो कर रहने वाले धर्म के सम्बन्धी आत्मा के कार्याश्रय शरीर का, तथा स्वविषयोपलब्धि की कर्ता इन्द्रियों का उपघात = पीड़ा, उनमें विकलता लाने वाला प्रवाहविच्छेद या विनाशलक्षण वध हमारे मत में हिंसा है । यहाँ सुखदुःखसंवेदन कार्य है, उसका अधिष्ठान = आश्रय शरीर है । ऐसे कार्याश्रय शरीर का, तथा स्वविषय ज्ञान को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का वध 'हिंसा' है, न कि नित्य आत्मा का । अतः पूर्वपक्षी ने 'सात्मक शरीरप्रदाह में भी पातक नहीं होता; क्योंकि आत्मा नित्य है'—यह जो कहा था वह अयुक्तियुक्त है ।

एक बात और है—सत्त्वोच्छेद को ही हिंसा माना जाय तो अकृताभ्यागम आदि दोष हो सकता है । वह हम मानते नहीं, क्योंकि पूर्वपक्षी ने ही उसका खण्डन किया है । अतः हिंसापदार्थ कोई दूसरा ही मानना चाहिये । हिंसा दो तरह से ही वन सकती है—१. या तो सत्त्वोच्छेद को हिंसा मानें; २. या फिर अनुच्छिन्नधर्मक के कार्याश्रयभूत शरीर या इन्द्रियों के उच्छेद को हिंसा मानें । तीसरा कोई विकल्प नहीं । यहाँ सत्त्वोच्छेद का तो तुमने भी उसे नित्य मान कर प्रतिषेध ही कर दिया, अव दूसरे विकल्प वाली हिंसा मानने के अतिरिक्त कौन मार्ग है ?

अथवा—'कार्याश्रयकर्तृवधात्' पद का व्याख्यान यों समझना चाहिये—कार्याश्रय हुआ देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घात । शरीर में रहने वाले नित्य आत्मा के सुखदुःखप्रतिसंवेदन कार्य हैं, अतः उनका सङ्घात अधिष्ठान है, वही संघात तदायतन है अन्यायतन नहीं,

---

१. वार्त्तिककर्तुरप्यत्रैव व्याख्यानपक्षे सम्मतिरिति ध्येयम् ।

न तमन्तरेणेति । तस्य वधः, उपघातः, पीडा, प्रमापणं वा = हिंसा, न नित्यत्वेनात्मोच्छेदः । तत्र यदुक्तम्—'तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्', एतन्नेति ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिकं चक्षुरद्वैतपरीक्षाप्रकरणम् [७-१४]

२. इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा;

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

पूर्वपरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्—'तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थः' इति, सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानाद् 'यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामि' इति । इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः । अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मादिन्द्रिव्यतिरिक्तश्चेतनः ॥ ७ ॥

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ? ॥ ८ ॥

एकमिदं चक्षुर्मध्ये नासास्थिव्यवहितम्, तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतो मध्यव्यवहितस्य दीर्घस्येव ? ॥ ८ ॥

अतः वही (देहेन्द्रियसंघात) कर्ता है, उक्त संवेदन की निवृत्ति तन्निमित्तक ही है, न कि उसके विना । अतः उस देहेन्द्रियसंघात का वध = उपघात, पीड़ा, हिंसा, प्रमापण (प्राणवियोजन) वन सकता है । नित्य आत्मा का उच्छेद नहीं वनता । यों, 'सात्मक शरीर के प्रदाह में पातक नहीं होता'—यह पूर्वपक्षी का कथन अयुक्तियुक्त ही है ॥६॥

२. इस कारण भी आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त है—

वाम चक्षु द्वारा देखे गये का दक्षिण चक्षु से प्रत्यभिज्ञान होने के कारण ॥ ७ ॥

पूर्व, पर के विज्ञान का एक विषय में प्रतिसन्धिज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलता है । जैसे—'अव मैं उसी अर्थ को देख रहा हूँ, जिसे मैंने पहले जान लिया था, यह वही विषय है' । वायीं आँख द्वारा देखे गये का दूसरी (दाहिनी) आँख द्वारा 'जिसको मैंने पहले देखा था अव उसीको देख रहा हूँ'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान होने से । इन्द्रियचैतन्य मानने पर इन्द्रियों में भिन्नत्व होने से अन्य इन्द्रिय द्वारा दृष्ट का अन्य इन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकती अतः, उक्त प्रत्यभिज्ञान नहीं बनेगा । जव कि यह प्रत्यभिज्ञान होता है, अतः यह सिद्ध है कि चेतन इन्द्रियों से व्यतिरिक्त है ॥ ७ ॥

उक्त प्रत्यभिज्ञान वास्तविक नहीं; अपितु एक चक्षुरिन्द्रिय में नासास्थि के व्यवधान से द्वित्व का भ्रम हो जाता है ? ॥ ८ ॥

यह एक ही चक्षु, वीच में नासास्थि (नाक की हड्डी) के व्यवधान से उस की दोनों कोटियों (अन्तों) के गृह्यमाण होने के कारण दो की तरह प्रमाता द्वारा प्रमित होता है, जैसे—एक ही लम्बे वाँस के मध्यभाग को लेकर दो किनारों की कल्पना कर लेते हैं ? ॥ ८ ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ।। ९ ।।

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहणलिङ्गम् । तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ।। ९ ।।

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ? ।। १० ।।

एकविनाशे द्वितीयाविनाशादित्यहेतुः । कस्मात् ? वृक्षस्य हि कासुचिच्छाखासु छिन्नासूपलभ्यत एव वृक्षः ? ।। १० ।।

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ।। ११ ।।

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते; नित्यत्वप्रसङ्गात् । बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः, येषां कारणान्यविभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते ।

अथवा, दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः । मृतस्य हि शिरःकपाले द्वाववटौ नासास्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्येते । न चैतदेकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते सम्भवति ।

एक का विनाश होने पर भी अन्य विनाश न होने से एकत्वसिद्धि नहीं ।। ९ ।।

एक चक्षु के नष्ट होने या निकाल लेने पर भी दूसरी रहती है; क्योंकि प्रमाता उस समय भी दूसरी अवशिष्ट चक्षु से विषय को गृहीत करता हुआ देखा जाता है । इसलिए 'नासिकास्थि के व्यवधान से वहाँ द्वित्वभ्रम हो रहा हैं'—ऐसा मानना अयुक्तियुक्त है ।। ९ ।।

शङ्का—(आपका उक्त हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि)

लोक में अवयव के खण्डित होने पर भी अवयवी से काम चलता हुआ देखा जाता है ? ।। १० ।।

एक के नाश होने पर भी दूसरे का नाश नहीं होता—अतः आपका हेतु असिद्ध है । जैसे वृक्ष की कुछ शाखाएँ काट दी जाने पर भी वह वृक्ष ही कहलाता हैं । तथा प्रमाता को पूर्ववत् अर्थसाधन में कोई बाधा न होगी ? ।। १० ।।

समाधान—

विरुद्ध दृष्टान्त देकर प्रतिषेध नहीं किया जा सकता ।। ११ ।।

कारणद्रव्य के विभाग (विनाश) हो जाने पर कार्य द्रव्य की सत्ता नहीं रह जाती; अन्यथा वह कार्य द्रव्य नित्य हो जायेगा । जहाँ बहुत से अवयवी हैं, उनमें जिसके कारण नष्ट हो गये उसका नाश हो गया । जिनके कारण नष्ट नहीं हुए वे अवस्थित रहते हैं । उक्त दृष्टा में 'पहले जैसा यह वृक्ष'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं; अपितु 'कटी शाखा वाला वृक्ष'—ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है ।

अथवा, इस सूत्र का व्याख्यान यों है—यहाँ प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थ का विरोध होने से 'दृष्टान्तविरोध' हो गया ! मृतक के कङ्कालस्थ शिरःकपाल में नासास्थि से व्यवहित

अथ वा, एकविनाशस्यानियमाद् द्वाविमावर्थौ, तौ च पृथगावरणोपघातौ अनुमीयेते—विभिन्नाविति।

अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्निकर्षस्य भेदाद् दृश्यभेद इव गृह्यते, तच्चैकत्वे विरुध्येते। अवपीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानमिति। तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः ॥ ११ ॥

३. अनुमीयते चायं देहादिसङ्घातव्यतिरिक्तश्चेतन इति;

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्द्धिप्रवर्त्तितोदन्तोदकसम्प्लवभूतो गृह्यते। तस्येन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरति ॥१२॥

न; स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ? ॥ १३ ॥

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्तादुत्पद्यते, तस्याः स्मर्तव्यो विषयः, तत्कृत इन्द्रिया-

---

चक्षु के दो छिद्र (गड्ढे) अलग-अलग देखे जाते हैं। चक्षु के एक मानने पर, नासास्थि के व्यवधान से ये दो छिद्र कैसे होते !

अथवा—'एक का विनाश दूसरे की स्थिति या विनाश का नियामक नहीं होता' इस सिद्धान्त से ये चक्षु दो हैं, इन दोनों के अपने पृथक्-पृथक् आवरण और विनाश हैं, अतः अनुमान होता है कि ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

एक आंख को अंगुली से अवपीड़ित करने (कौंचने) पर उसी एक के रश्मिविषयक सन्निकर्ष का भेद होने से सीमित मात्रा में दृश्यभेद (एक चाँद के दो चाँद दिखायी देना आदि) दिखायी देता है, अवपीडन के निवृत्त होने पर वह भेद भी निवृत्त हो जाता है—यह वात चक्षु के एकत्वसिद्धान्त में कैसे वनेगी। अतः एक में व्यवधानहेतु अनुपपन्न ही है ॥ ११ ॥

३. इसलिए भी इस आत्मा का देहादिसङ्घात से पार्थक्य अनुमित होता है—

इन्द्रियान्तर में विकार होने से ॥ १२ ॥

किसी आम—इत्यादि खट्टे फल का पहले से रससाहचर्य गृहीत होने पर, किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा रूप या गन्ध के जान लेने के वाद इसकी अनुस्मृति होने पर दूसरी इन्द्रिय रसना में अम्लरस की तृष्णा से जनित विकार (मुँह में पानी भर आना) देखा जाता है। यह वात, इन्द्रियचैतन्य मानने पर कैसे वनेगी; क्योंकि अन्य द्वारा देखे गये का अन्य कैसे स्मरण कर सकता है ! ॥ १२ ॥

शङ्का—

स्मृति के स्मर्तव्यविषयक होने से उससे आत्मा का पार्थक्य सिद्ध नहीं होता ॥१३॥

स्मृति नामक धर्म अपने संस्कारकारण से उत्पन्न होता है, स्मर्तव्य उसका विषय है। उक्त इन्द्रियान्तरविकार तत्स्मृतिप्रयुक्त है, आत्मकृत नहीं ? ॥ १३ ॥

न्तरविकारो नात्मकृत इति[1] ? ॥ १३ ॥

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः। यदि स्मृतिरात्मगुणः ? एवं सति स्मृतिरुपपद्यते, नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानामप्रतिसन्धानम्, अप्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थानुपपत्तिः। एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः, विपर्यये चानुपपत्तिः। स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहाराः। आत्मलिङ्गम् उदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति।

अपरिसङ्ख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य[2]।

अपरिसङ्ख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यते 'न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' इति। येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थे 'अज्ञासिषमहममुमर्थम्' इति, एतस्या ज्ञातृज्ञानवि-

---

समाधान—

उस स्मृति को आत्म-धर्म मानने से आपकी शंका नहीं उठेगी ॥ १४ ॥

उस स्मृति को आत्मा का गुण मानते हैं, क्योंकि आत्मा स्मृति का समवाय सम्बन्ध से आधार है। अतः स्मृति की सत्ता मानने पर आत्मा का प्रतिषेध नहीं बनता; क्योंकि स्मृति को जब आत्मा का धर्म मानोगे तभी वह उसका धर्म बनेगी; अन्यथा अन्य दृष्ट का अन्य स्मरण कैसे करेगा! इन्द्रियचैतन्य मानने पर, नाना इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का प्रतिसन्धान कैसे बनेगा! प्रतिसन्धान न बनने पर विषय-व्यवस्था कैसे बनेगी! एक चेतन मान लेते हो तो वह अनेकार्थदर्शी है, भिन्ननिमित्त है, पूर्वदृष्ट अर्थ को स्मरण कर लेता है, अतः अनेकार्थदर्शी का एक में दर्शनप्रतिसन्धान बन जाने से, स्मृति के आत्मगुण मान लेने पर, स्मृति होने पर आत्मा को उस रस की अनुभूति होगी, स्मृति न रहने पर नहीं होगी। क्योंकि सभी प्राणियों के व्यवहार स्मृत्याश्रित हैं। इन्द्रियान्तरविकार का यह प्रयोजक स्मृतिरूप आत्मगुण एक उदाहरण दिखा दिया है, अन्य उदाहरणों की उत्प्रेक्षा कर लेना चाहिये।

स्मृतिविषय का परिकलन (कर्ता, कर्म क्रिया का प्रतिसन्धान) न होने से भी वह आत्मा का ही गुण है।

स्मृतिविषयों का परिकलन न करके भी आप कहते हैं—'स्मृति स्मर्तव्यविषया होती है, न कि आत्मविषया'। वर्तमान में अगृह्यमाण अर्थ की 'यह अर्थ मैं जानता

---

१. 'स्मृतेरात्मा न कारणम्, तस्याः संस्कारकारणकत्वात्; न स्मृतेरात्मा विषयः, स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्; तस्मात् स्मृत्यादिविषयादिन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृतः'—इति शंकाकर्तुराशयः

२. इदं सूत्रमेवेति केचित्।

शिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयो नार्थमात्रम्, 'ज्ञातवानहममुमर्थम्, असावर्थो मया ज्ञातः, अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूत्' इति चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषज्ञापकं समानार्थम्। सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते।

अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृतिस्तया त्रीणि ज्ञानानि एकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि, न नानाकर्तृकाणि, नाकर्तृकाणि, किं तर्हि ? एककर्तृकाणि—'अद्राक्षममुमर्थं यमेवैतर्हि पश्यामि'। अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च, न खल्वसंविदिते स्वे दर्शने स्यादेतत् 'अद्राक्षम्' इति, ते खल्वेते द्वे ज्ञाने; 'यमेवैतर्हि पश्यामि' इति तृतीयं ज्ञानम्, एवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृको न नानाकर्तृकः, किं तर्हि ? एककर्तृक इति।

सोऽयं स्मृतिविषयोऽपरिसङ्ख्यायमानो विद्यमानः प्रज्ञातोऽर्थः प्रतिषिध्यते—'नास्त्यात्मा स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वात्' इति। न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्तव्यमात्रविषयं वा। इदं खलु ज्ञानप्रतिसन्धानवद् स्मृतिप्रतिसन्धानम्; एकस्य सर्वविषयत्वात्। एकोऽयं ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते—अमुमर्थं ज्ञास्यामि, अमुमर्थं विजानामि, अमुमर्थमज्ञासिषम्, अमुमर्थं जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽध्य-

---

था'—यह स्मृति अर्थमात्र नहीं; अपितु ज्ञातृज्ञानविशिष्ट पूर्वज्ञात अर्थ इसका विषय है। 'इस अर्थ को मैं जान चुका', 'यह अर्थ मेरे द्वारा जाना गया', 'इस विषय में मेरा ज्ञान था'—ये चारों वाक्य स्मृतिविषयज्ञापक तुल्य ही हैं, अर्थात् उक्त चारों वाक्यों का ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता तीनों का समान ज्ञान होता है।

एक वात और सुनिये—प्रत्यक्ष अर्थ की स्मृति में ज्ञानत्रय का एक साथ समानकर्तृक प्रतिसन्धान होता है, वे ज्ञान न तो नानाकर्तृक हैं न अकर्तृक ही; अपितु एककर्तृक हैं। 'इस अर्थ को मैंने पहले भी देखा था जिसको कि अत्र देख रहा हूँ' यहाँ 'देखा था' यह दर्शन तथा दर्शनसंवित्—दो चीज एकत्र हैं; क्योंकि 'देखा था' यह प्रत्यभिज्ञान असंविदित स्वदर्शन में नहीं हो सकता। यों, ये दो ज्ञान हुए। तीसरा ज्ञान है 'जिसको कि मैं अव देख रहा हूँ'। इस प्रकार एक ही अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त होता हुआ न तो अकर्तृक हो सकता है, न नानाकर्तृक ही होगा।

यों यह अपरिसंख्यायमान स्मृतिविषय, प्रमाणों द्वारा सिद्धार्थ है, विद्यमान हैं; फिर भी पूर्वपक्षी नास्तिक द्वारा खण्डित किया जा रहा है कि 'स्मृति हेतु से आत्मा की सिद्धि नहीं वनेगी; क्योंकि स्मृति तो स्मर्तव्यविषया है'! हम कहते हैं—न तो यह स्मृतिमात्र है, और न स्मर्तव्यविषयमात्र है; यह तो ज्ञानप्रतिसन्धान की तरह स्मृतिप्रतिसन्धान है; क्योंकि यहाँ एक (आत्मा) ही सभी विषयों का ग्राहक है। यह एक ज्ञाता (आत्मा) सब विषयों वाला है, अतः अपने ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है—'इस अर्थ को जानूँगा', 'इस अर्थ को जानता हूँ', 'इस अर्थ को जानता था'। अमुक अर्थ को जानने को इच्छा

वस्यति–'अज्ञासिषम्' इति । एवं स्मृतिमपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षाविशिष्टां च प्रतिसन्धत्ते । संस्कारसन्ततिमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति । स नास्त्येकोऽपि संस्कारो यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिं चानुभवेत् । न चानुभवमन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति चोत्पद्यते, देहान्तरवत् । अतोऽनुमीयते–'अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते' इति । यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति ।। १४ ।।

आत्ममनोभेदपरीक्षाप्रकरणम् [१५-१७]

न; आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ? ।। १५ ।।

न देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा । कस्मात् ? आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् । 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (३.१.१.) इत्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवः; यतः मनो हि सर्वविषयमिति । तस्मान्न शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मेति ? ।। १५ ।।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ।। १६ ।।

करता हुआ बहुत देर तक कोई एकतरफा फैसला न करके अन्त में अचानक निश्चय करता है कि 'अरे, इसे तो मैं जानता था !' इसी तरह त्रिकालविशिष्ट तथा स्मरणेच्छाविशिष्ट स्मृति का भी यह आत्मा प्रतिसन्धान करता है । स्मृत्यनुभवक्रियाकारक को संस्कार-सन्ततिधारामात्र मानेंगे तो संस्कार उत्पन्न हो हो कर विनष्ट हो जाते हैं, तो ऐसा एक भी संस्कार कहाँ मिलेगा जो त्रिकालविशिष्ट ज्ञान तथा स्मृति का अनुभव कर सके ! अनुभव के विना ज्ञान तथा स्मृति का देहान्तर में 'मैं—मेरा' ऐसे प्रतिसन्धान की तरह प्रतिसन्धान वन नहीं सकता । अतः अनुमान होता है—अवश्य कोई एक प्रमाता है ज़ो वाह्यान्तरभूत सव विषयों का ग्राहक है, तथा अपने प्रत्येक देह में ज्ञानप्रवन्ध तथा स्मृतिप्रवन्ध का चिन्तन करता है । जिसकी देहान्तर में वृत्ति न मानेंगे तो यह ज्ञान-स्मृतिचिन्तन सिद्ध नहीं होगा ।। १४ ।।

शंका—

आत्मा नहीं है, आत्मा के साधक हेतुओं के मन में सम्भव होने से ? ।। १५ ।।

देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा नहीं हैं; क्योंकि सिद्धान्ती द्वारा आत्मा के साधन में दिये गये हेतुओं से मन का ही सम्वन्ध है । 'दर्शन-स्पर्शन द्वारा एक अर्थ के ग्रहण से' (३. १. १.) आदि हेतुओं से आत्मा के स्थान में मनकी ही सिद्धि हो पायेगी; क्योंकि मन भी सर्व विषय का ग्राहक है । अतः हम यह क्यों न मान लें—'शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिसंघात से पृथक् कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है' ? ।। १५ ।।

उत्तर—

ज्ञाता से ज्ञानसाधन उपपन्न होने के कारण यह संज्ञाभेदमात्र है ।। १६ ।।

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते—चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति। एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं मनःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यत इति। एवं सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न मृष्यते, मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते; मनसि च मनःसंज्ञा न मृष्यते, मतिसाधनंत्वभ्यनुज्ञायते, तदिदं संज्ञाभेदमात्रम्, नार्थे विवाद इति।

प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः। अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं प्रत्याख्यायते नास्तीति? एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि न सन्ति इति सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यत इति॥ १६॥

नियमश्च निरनुमानः॥ १७॥

योऽयं नियम इष्यते–'रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति, मतिसाधनं सर्वविषयं नास्ति' इति, अयं नियमो निरनुमानः। नात्रानुमानमस्ति येन नियमं प्रतिपद्यामह इति।

ज्ञाता से ज्ञानसधनों को प्रामाण्य मिलता है, जैसे—'आँख से देखता है', 'नाक से सूँघता है', त्वक् से स्पर्श करता है'। इसी तरह मन्ता (चक्षुरादिकरणक-दर्शनक्रिया-कर्ता) से सर्वविषयक मतिसाधन उपपन्न होते हैं, उनमें मन भी उसकी मति में साधन है, जिससे वह सब विषयों पर मनन करता है, तो मन की स्वीकृति से आत्मा का प्रतिषेध कैसे कर सकोगे! यह कैसी विडम्बना है कि अपनी पराजय छिपाने के लिये उस ज्ञाता को 'मन' संज्ञा तो दे देना चाहते हो, पर उसे 'आत्मा' मानने में आपको संकोच लग रहा है! मन को भी 'मन' नाम नहीं देना चाहते, पर उस का मतिसाधनत्व स्वीकार करते चले आ रहे हो! तो यह केवल नाम पर अडंगा लगाया जा रहा है, आत्मा की सत्ता तो आप को भी स्वीकार है ही।

और यदि आत्मा के प्रतिषेध पर ही तुले हुए हो तो आपके मत में सब इन्द्रियों के विलोप (अभाव) की स्थिति आ पड़ेगी! क्योंकि सर्वविषयग्राहक मन्ता का मतिसाधन तथा उसके सर्वविषयक प्रत्याख्यान पर आग्रह करोगे तब भी इन्द्रियविलोप की स्थिति का सामना करना अभीष्ट है तो इस तरह रूपादिविषयज्ञान के साधन ही न रह जायेंगे, अतः इन्द्रियविलोप स्पष्ट ही है॥ १६॥

यह नियम अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता॥ १७॥

यह जो नियम बनाना चाह रहे हो—'ज्ञाता के रूपादिविषय ज्ञान के साधन तो हैं, परन्तु मतिसाधन (सुखादिज्ञानकरण, मन) सर्वविषय वाला नहीं हैं', यह नियम नहीं बनेगा; क्योंकि यह निरनुमान है। अर्थात् ऐसा कोई अनुमान नहीं, जिससे इस नियम को प्रमाणित कर सकें।

रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयः, तदुपलब्धौ करणान्तरसद्भावः। यथा चक्षुषा गन्धो न गृह्यत इति करणान्तरं घ्राणम्, एवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यत इति करणान्तरं रसनम्, एवं शेषेष्वपि। तथा चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्त इति करणान्तरेण भवितव्यम्। तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्। यच्च सुखाद्युपलब्धौ करणं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम्, तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति सन्निधे-रसन्निधेश्च न युगपज्ज्ञानान्युत्पद्यन्ते इति। तत्र यदुक्तम्—'आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्' इति तदयुक्तम् ॥ १७ ॥

आत्मनित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१८-२६]

किं पुनरयं देहादिसङ्घातादन्यो नित्यः ? उतानित्य इति ?

कुतः संशयः ? उभयथा दृष्टत्वात् संशयः। विद्यमानमुभयथा भवति—नित्यम्, अनित्यं च। प्रतिपादिते चात्मसद्भावे संशयानिवृत्तेरिति।

आत्मसद्भावहेतुभिरेवास्य प्राग्देहभेदादवस्थानं सिद्धमूर्ध्वमपि देहभेदाद-वतिष्ठते। कुतः ?

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १८ ॥

रूपादि से सुखादि भिन्न विषय हैं, उनके ज्ञान के लिये अलग एक साधन (इन्द्रिय) मानना ही पड़ेगा। जैसे चक्षु से गन्धज्ञान नहीं हो पाता, अतः उस ज्ञान के लिए पृथक् एक घ्राणेन्द्रिय माननी पड़ती है। तथा चक्षु और घ्राण से रसज्ञान नहीं होता, उसके लिये इन्द्रियान्तर रसनेन्द्रिय माननी पड़ती हैं। बाकी इन्द्रियों की आवश्यकता के बारे में भी यही समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार चक्षु-आदि से सुखादि ज्ञान गृहीत नहीं हो सकता, अतः उक्त ज्ञान के लिये इन्द्रियान्तर मानना ही पड़ेगा। वह इन्द्रिय ज्ञानायौग-पद्य हेतु वाली (मन) है। जो इन्द्रिय सुखाद्युपलब्धि में कारण (साधन) है वही ज्ञानायौगपद्य हेतु वाली है। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ इस इन्द्रिय के सामीप्य या असामीप्य से ज्ञान उत्पन्न या अनुत्पन्न होते रहते हैं। अतः आपका यह कहना सर्वथा अनुचित है कि 'आत्मप्रतिपादक हेतुओं का मन से सम्बन्ध होने से मन सिद्ध होता है, आत्मा नहीं' ॥ १७ ॥

क्या यह आत्मा देहादिसंघात से अन्य होता हुआ नित्य है; या अनित्य ? यह संशय क्यों है ? क्योंकि लोक में दोनों ही नय देखे जाने से यहाँ संशय हो गया। लोक में, विद्यमान प्रमाणसिद्ध वस्तु नित्य भी देखी जाती है, अनित्य भी। आत्मा की सत्ता प्रति-पादित कर देने पर भी उसके नित्यत्व के बारे में अभी संदेह निवृत्त नहीं हुआ ?

आत्मसत्ताप्रतिपादक हेतुओं से आत्मा की अवस्थिति देहादि से पूर्व सिद्ध हो चुकी, उन्हीं हेतुओं से वह देहादिनाश के बाद भी अवस्थित हैं, क्यों ?—

पूर्वजन्माभ्यस्त स्मृत्यनुबन्ध से उत्पन्न हर्ष, भय, शोक आदि के सम्प्रतिपन्न होने से ॥ १८ ॥

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्। ते च स्मृत्यनुवन्धादुत्पद्यन्ते, नान्यथा। स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति। पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथेति सिद्धयत्येतत्—अवतिष्ठतेऽयमूर्ध्वं शरीरभेदादिति ॥ १८ ॥

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः ? ॥ १९ ॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधसम्मीलनं विकारो भवति, एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तिर्विकारः स्यात् ?

हेत्वभावादयुक्तम्। अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रवोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति नात्रोदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतु; न वैधर्म्यादस्ति, हेत्वभावाद् असम्बद्धार्थकमपार्थकमुच्यते इति।

दृष्टान्ताच्च हर्षादिनिमित्तस्यानिवृत्तिः। या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षादिसम्प्रतिपत्तिः स्मृत्यनुबन्धकृता प्रत्यात्मं गृह्यते, सेयं पद्मादिसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्तते। यथा चेयं न निर्वत्तते तथा जातस्यापीति। क्रियाजाताश्च पर्णसंयोग-

---

यह उत्पन्न हुआ वालक इस जन्म में अगृहीत परन्तु लिंग से अनुमेय हर्ष, भय, शोक आदि से ग्रस्त होता है। ये हर्ष-भयादि उन्हीं की स्मृति के अनुवन्ध से उत्पन्न हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह स्मृत्यनुवन्ध पूर्वाभ्यास से उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं। पूर्वाभ्यास पूर्व जन्म मानने पर वन सकता है, अन्यथा नहीं। अतः सिद्ध होता है कि शरीरनाश के वाद भी आत्मा विद्यमान है ॥ १८ ॥

शंका—

पद्मादि के संकोच-विकासादि विकारों की तरह आत्मा के विकार मान लें ? ॥१९॥

जैसे लोक में अनित्य पद्मादि में संकोच-विकासरूप विकार देखा जाता है, वैसे ही अनित्य आत्मा में हर्ष, शोक भय आदि का सम्प्रतिपत्तिरूपविकार मान लें ? ॥ १९ ॥

उत्तर—हेतुत्व न होने से ऐसा मानना अयुक्त है। 'इस हेतु से पद्मादि के संकोच-विकास की तरह अनित्य आत्मा को हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति होती है'—इस उदाहरणसाधर्म्य तथा उदाहरणवैधर्म्य मात्र से जन्मान्तरीय,अनुभवजन्य संस्कार वालक में नहीं वनता; अतः हेतु न होने से इसके असम्वद्धार्थ हो जाने पर यह उदाहरण निरर्थक है।

दृष्टान्त से भी हर्षादि निमित्त का अनिषेध ही रहेगा। विषयों के आसेवन से हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति पूर्वानुभवज स्मृति-अनुवन्ध से होती हुई प्रत्येक आत्मा को गृहीत होती है, यह पद्मादि के संकोच विकासवाले दृष्टान्त से प्रतिषिद्ध नहीं की जा सकती। अथ च, जैसे पद्मादि की संकोच-विकास क्रिया निवृत्त नहीं होती, वैसे ही उत्पन्न वालक की हर्ष-शोकादि सम्प्रतिपत्तियाँ निवृत्त नहीं होती। वहां संकोचविकास क्रियोत्पन्न पत्रादिसंयोगविभाग से अतिरिक्त नहीं हैं। क्रियाहेतु का क्रिया से अनुमान किया जाता है। ऐसा

विभागाः प्रबोधसम्मीलने, क्रियाहेतुश्च क्रियानुमेयः। एवं च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते ! ॥ १९ ॥

अथ निर्निमित्तः पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति मतम्, एवमात्मनोऽपि हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति ?। तन्च—

न; उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २० ॥

उष्णादिषु सत्सु भावादसत्स्वभावात्तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पद्मादीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति न निर्निमित्ताः। एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमित्ताद्भवितुमर्हन्ति, न निमित्तमन्तरेण। न चान्यत् पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धान्निमित्तमस्तीति। न चोत्पत्तिनिरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात्, न हर्षादीनां निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः, नोष्णादिवन्निमित्तान्तरोपादानं हर्षादीनाम्। तस्मादयुक्तमेतत् ॥ २० ॥

४. इतश्च नित्य आत्मा—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २१ ॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते, स च नान्तरेणाहाराभ्यासम्। कया युक्त्या ? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधा पीड्यमानानामा-

---

मानने के बाद, हम नहीं समझ पाये कि आप पद्मादि दृष्टान्त से क्या प्रतिषिद्ध कर रहे हैं !

शङ्का—'पद्मादिक में संकोच-विकास अहेतुक है'—यह मत है, इसी प्रकार आत्मा में भी हर्ष शोकादि की सम्प्रतिपत्ति बन जायेगी ? वह तो

नहीं बनेगी; पञ्चात्मक विकारों का उष्ण, शीत, वर्षा काल हेतु होने से ॥ २० ॥

उष्णादि हेतु होने पर वे होते हैं, न होने पर नहीं होते, अतः वे पञ्चभूतानुगृहीत व्यापार से निष्पन्न पद्मादि के संकोच-विकास अहेतुक नहीं है। इसी तरह हर्षादि विकार भी निमित्त से ही बन सकते हैं, निमित्त के बिना नहीं। वह निमित्त पूर्वाभ्यस्त स्मृत्यनुबन्ध के अतिरिक्त क्या हो सकता है ! दृष्टान्त से आत्मा के उत्पत्ति-विनाशकारण का अनुमान नहीं कर सकते। हर्षादि की निमित्त के बिना उत्पत्ति नहीं बन सकती। उष्णादि की तरह निमित्तान्तर से भी हर्षादि की उत्पत्ति हो नहीं सकती। अतः आपकी हर्षादिकों के निर्निमित्तवाली बात अयुक्त ही है ॥ २० ॥

४. इस कारण भी आत्मा नित्य है—

जन्म होते ही आहाराभ्यासजन्य स्तन्याभिलाष से ॥ २१ ॥

उत्पन्न होते ही शिशु का प्रवृत्तिहेतुक स्तन्याभिलाष (स्तन्यपानेच्छा) देखा जाता है, वह आहाराभ्यास के बिना नहीं बन सकता। किस युक्ति से ? लोक में देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित प्राणियों का, आहाराभ्यासजन्य स्मरणानुबन्ध से आहाराभिलाष देखा

हाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः। न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते। तेनानुमीयते—भूतपूर्वं शरीरम्, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति। स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात् प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमाहारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति। तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते, भवत्येवोर्ध्वं देहभेदादिति ॥ २१ ॥

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ? ॥ २२ ॥

यथा खल्वयोऽभ्यासमन्तरेणायस्कान्तमुपसर्पति, एवमाहाराभ्यासमन्तरेण बालः स्तन्यमभिलषति ? ॥ २२ ॥

किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निर्निमित्तम्, अथ निमित्तादिति ? निर्निमित्तं तावत्—

न; अन्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २३ ॥

यदि निर्निमित्तम् ? लोष्टादयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुः ! न जातु नियमे कारणमस्तीति। अथ निमित्तात् ? तत्केनोपलभ्यते इति ! क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः, क्रियानियमलिङ्गश्च क्रियाहेतुनियमः, तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः। बालस्यापि

जाता है। पूर्वाभ्यास के विना उत्पन्न होते ही बालक को यह कैसे बन सकता है ! पूर्व शरीर से च्युत होकर शरीरान्तर से अवच्छिन्न यह आत्मा क्षुधा से पीड़ित हो, पूर्वजन्माभ्यस्त आहार का अनुस्मरण करता हुआ स्तन्य की इच्छा करता है। अतः सिद्ध होता है कि देहनाश से आत्मा का नाश नहीं हो जाता, अपितु वही आत्मा दूसरे देहों में भी अवच्छिन्न है ॥ २१ ॥

शङ्का—

अयस्कान्त मणि के पास लोह के अभिगमन की तरह उस शिशु का स्तन्य की ओर उपसर्पण मान लें ? ॥ २२ ॥

जैसे अभ्यास के विना ही लोह अयस्कान्तमणि की ओर सरकता है, वैसे ही बालक भी स्तन्य की ओर झुकता है, उसकी इच्छा रखता है। (पूर्वजन्माभ्यास कारण मानोगे तो जात्यन्ध या वधिरों को पूर्वाभ्यस्त रूपशब्दादिक का इस जन्म में भी प्रत्यक्ष होने लगेगा ?) ॥ २२ ॥

उत्तर—क्या यह लोह का अयस्कान्तमणि की ओर उपसर्पण अनिमित्तक है या सनिमित्तिक ? यदि अनिमित्तक कहोगे तो—

ऐसा नहीं कह सकते; अन्यत्र प्रवृत्ति न देखी जाने से ॥ २३ ॥

यदि अनिमित्तक मानोगे तो ईंट पत्थर आदि भी अयस्कान्तमणि की ओर सरकने लगेंगे, क्योंकि नियम में कोई कारण तो है नहीं। यदि निमित्त मानोगे तो वह किससे उपलब्ध होता है ! क्रियालिङ्गक साध्य क्रियाजनक होता है, तथा क्रियानियमलिङ्ग क्रियाजनकनियम होता है, इसलिये अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। बालक की भी नियत

नियतमुपसर्पणं क्रियोपलभ्यते। न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदाहाराभ्यासकृतात् स्मरणानुबन्धात्। निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते, न चासति निमित्ते कस्यचिदुत्पत्तिः। न च दृष्टान्ते दृष्टमभिलाषहेतुं बाधते। तस्मादयसोऽयस्कान्ताभिगमनमदृष्टान्त इति।

अयसः खल्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति, न जात्वयो लोष्टमुपसर्पति, किंकृतोऽस्य नियम इति? यदि कारणनियमात्? स च क्रियानियमलिङ्गः। एवं बालस्यापि नियतविषयोऽभिलाषः कारणनियमाद्भवितुमर्हति। तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणम्, अन्यद्वेति दृष्टेन विशिष्यते। दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणादाहाराभिलाष इति ॥ २३ ॥

५. इतश्च नित्य आत्मा। कस्मात्?

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २४ ॥

'सरागो जायते' इत्यर्थादापद्यते। अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते, रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः। पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते। सोऽयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन्

उपसर्पणक्रिया उपलब्ध होती है, स्तन्याभिलाषहेतुकनिमित्त दूसरे आहार से जन्म अभ्यास के स्मरणानुबन्ध के विना नहीं हो सकता।

निमित्त दृष्टान्त से उपपन्न होता है, निमित्त के विना किसी की उपपत्ति नहीं होती। दृष्टान्त में दृष्ट तत्त्व अभिलाषनिमित्त का बाध नहीं करता, इसलिये लोह का अयस्कान्त मणि के पास जानेवाला दृष्टान्त युक्त नहीं।

लोह की भी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती, लोह कभी पत्थर की तरफ नहीं सरकता—यह नियम किस हेतु से बना? यदि कारणनियम से मानोगे तो वह क्रियानियमलिङ्ग बन गया। इसी तरह शिशु का भी नियतविषयक अभिलाष कारणनियम से बन सकता है। वह कारण अभ्यस्त स्मरण है, या कोई अन्य—यह निर्णय अस्मदादि दृष्ट से किया जा सकता है। प्राणियों का अभ्यस्त स्मरण से आहाराभिलाष हम लोग देखते ही हैं। अतः उक्त नियम में कोई बाधा नहीं है॥ २३ ॥

५. इस कारण भी आत्मा नित्य है; क्योंकि

वीतराग का जन्म नहीं देखा जाता ॥ २४ ॥

इससे 'सराग प्राणी उत्पन्न होता है'—यह अर्थात् आपन्न हुआ। यह प्राणी उत्पन्न होता हुआ रागानुबद्ध होता है। राग का कारण है पूर्वानुभूत विषयों का पुनः पुनः चिन्तन। विषयों का पूर्वानुभव अन्य जन्म में शरीर धारण किये विना नहीं बन सकता। यह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभूत विषयों का अनुस्मरण करता हुआ उन उन विषयों में

तेषु तेषु रज्ज्यते, तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः। एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण, पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः, अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वमिति ॥ २४ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते—पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागः, न पुनः—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् तदुत्पत्तिः ? ॥ २५ ॥

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणत उत्पद्यन्ते, तथोत्पत्तिधर्मकस्यात्मनो रागः कुतश्चिदुत्पद्यते ? ॥ २५ ॥

अत्रायमुदितानुवादो निदर्शनार्थः।

न; सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २६ ॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च। कस्मात् ? सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्। अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां सङ्कल्पजनितो रागो गृह्यते, सङ्कल्पश्च पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः। तेनानुमीयते—जातस्यापि पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो राग इति। आत्मोत्पादाधिकरणानां तु रागोत्पत्ति-

---

राग को प्राप्त होता है। यही राग दो जन्मों की प्रतिसन्धि कहलाता है। इस रीति से पूर्वशरीर का उससे पहलेवाले शरीर के साथ, तथा उससे पहलेवाले का उससे भी पहलेवाले शरीर के साथ—यों यह चेतन शरीर का सम्वन्ध अनादि चला आ रहा है, इसी के साथ साथ राग भी अनादि प्रवाह से चला आ रहा है। अतः इस राग के उत्पत्तिविनाश हेतु से भी आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

शङ्का—यह कैसे ज्ञात हो कि उत्पन्न शिशु का यह राग पूर्वानुभूत विषयानुचिन्तन से ही जनित है, क्यों नहीं—

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की तरह उस राग की उत्पत्ति मान लें ? ॥ २५ ॥

जैसे उत्पत्तिधर्मा घटादि द्रव्य के गुण कारण से उत्पन्न होते हैं, उसी तरह उत्पत्तिधर्मक आत्मा का राग भी किसी कारण से उत्पन्न होता होगा ? ॥ २५ ॥

उत्तर—यहाँ यह कथित का अनुकथन नये दृष्टान्त मात्र के लिये है, पहले अयस्कान्त के दृष्टान्त से यह वात कही थी, अव घटादि के दृष्टान्त से कह रहे हो।

रागादिक के सङ्कल्पनिमित्तक होने से यह नहीं कह सकते ॥ २६ ॥

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की तरह आत्मा तथा उसके राग की उत्पत्ति नहीं मान सकते; क्योंकि रागादि संकल्पनिमित्तक है। यह संकल्पजनित राग विषयों का आसेवन करने वाले प्राणियों में ही देखा जाता है। तथा उक्त संकल्प पूर्वानुभूत विषयानुचिन्तन से होता है। अतः अनुमान होता है—'सद्योजात शिशु को भी पूर्वानुभूतार्थचिन्तनजनित राग उत्पन्न होता हैं'। आत्मोत्पत्तिपक्ष में तो संकल्प से अन्य रागकारण सिद्ध होने पर, कार्यद्रव्य गुण की तरह, रागोत्पत्ति होती हुई कही जा सकती हैं; परन्तु आत्मोत्पत्ति

भवन्ती सङ्कल्पादन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या, कार्यद्रव्यगुणवत्। न चात्मोत्पादः सिद्धः, नापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमस्ति। तस्मादयुक्तम्–'सगुण-द्रव्योत्पत्तिवत् तस्योत्पत्तिः' इति।

अथापि सङ्कल्पादन्यद्रागकारणं धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते, तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः। तत्र हि तस्य निर्वृत्तिः, नास्मिन् जन्मनि, तन्मयत्वाद्राग इति। विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वमुच्यते इति। जातिविशेषाच्च रागविशेष इति। कर्म खल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकं तादात्म्यात्ताच्छब्द्यं विज्ञायते। तस्मादनुपपन्नं सङ्कल्पादन्यद्रागकारणमिति ॥ २६ ॥

शरीरपरीक्षाप्रकरणम् [२७–३१]

अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तम्। स्वकृतकर्मनिमित्तं चास्य शरीरं सुखदुःखाधिष्ठानम्, तत् परीक्ष्यते–किं घ्राणादिवदेकप्रकृतिकम् ? उत नानाप्रकृतीति ? कुतः संशयः ? विप्रतिपत्तेः संशयः। पृथिव्यादीनि भूतानि सङ्ख्याविकल्पेन शरीरप्रकृतिरिति प्रतिजानत इति।

किं तत्र तत्त्वम् ?

सिद्ध नहीं होती, न सङ्कल्प से अन्य रागकारण ही सिद्ध है। इसलिए यह कहना कि 'सगुण द्रव्य की तरह आत्मा के राग की उत्पत्ति होती है'—अयुक्त ही है।

यदि उक्त सङ्कल्प से अन्य रागकारण अदृष्ट धर्माधर्म मानें तो भी शरीर से शरीरान्तर के सम्वन्ध का प्रत्याख्यान नहीं होगा। इस पक्ष में, उस जन्म में उसकी निर्वृत्ति बन सकती है, इस जन्म में नहीं; क्योंकि विषयाभ्यासमूलक राग तन्मय होता है। यह भावनाहेतुक विषयाभ्यास ही 'तन्मय' कहलाता है। करभादि-जन्मविशेष से कण्टक-भक्षणादि रागविशेष की उपपत्ति बनती है। कर्म ही उस-उस जातिविशेष का निर्वर्तक है। आत्मा में उस शरीर का तादात्म्य होने से उपचारात् उन-उन शरीरवाचक पदों का उस (आत्मा) में व्यवहार होता है। कर्म जातिविशेष का निर्वर्तक माना जाता है। अतः यह कहना भी अयुक्तियुक्त ही है कि 'सङ्कल्प से अतिरिक्त कोई अन्य राग का कारण बन सकता है' ॥ २६ ॥

चेतन तथा शरीर का सम्वन्ध अनादि है—यह हम अभी पीछे कह आये हैं ! इस चेतन का यह शरीर स्वकर्मनिमित्तक तथा इसके सुख दुःख का अधिष्ठान (=अवच्छेदक, भोगाश्रय) है ! उसके विषय में अब विचार करना है कि वह घ्राणादि की तरह एक-भूतसमवायिकारणक है, या नानाभूतों से बना है ? यह संशय क्यों हुआ ? विप्रतिपत्ति के कारण। ये विप्रतिपन्न वादी पृथिव्यादि पञ्चभूतों को सङ्ख्याविकल्प से शरीर का समवायिकारण स्थापित करते हैं।

इन विभिन्न वादियों के मतों में कौन सा मत समीचीन है ?

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २७ ॥

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम् । कस्मात् ? गुणान्तरोपलब्धेः । गन्धवती पृथिवी, गन्धवच्च शरीरम् । अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात् । न त्विदमबादिभिरसम्पृक्तया पृथिव्याऽऽरब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति । भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति । आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति । स्थाल्यादिद्रव्यनिष्पत्तावपि निःसंशया नावादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति ॥ २७ ॥

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ? ॥ २८ ॥

निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ? ॥ २९ ॥

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ? ॥ ३० ॥

त इमे सन्दिग्धा हेतव इत्युपेक्षितवान् सूत्रकारः । कथं सन्दिग्धाः ? सति

पृथ्वी गुण की उपलब्धि होने से यह मानव शरीर पार्थिव हैं ॥ २७ ॥

यह मनुष्य-शरीर पार्थिव है; क्योंकि उसमें पार्थिव गुण विशेष की उपलब्धि होती है । पृथिवी गन्धवती है, शरीर भी गन्धवान् है । यदि यह शरीर जलादिप्रकृतिक होता तो यह भी जलादि की तरह निर्गन्ध होता । परन्तु यह जलादि से सम्पृक्त हुए विना अकेले पृथ्वी से आरब्ध (निर्मित) होता तो इसमें चेष्टा, इन्द्रिय, अर्थाश्रयत्व इत्यादि न बन पाते; क्योंकि ये गुण पृथ्वी में नहीं हैं, अतः पाँचों भूतों के संयोग से ही इस शरीर की निष्पत्ति हुई है । इन पाँचों भूतों का आपस में मिलना किसी भी वादी को अनिष्ट भी नहीं है । यद्यपि दूसरे लोकों में शरीर केवल जल-वायु-तेजःप्रकृतिक है, पर उनमें भी इन भूतों का संयोग पुरुषार्थसाध्य है । स्थाल्यादि पदार्थों का निष्पादन भी निस्सन्देह जलादिसंयोग के विना नहीं हो पाता ॥ २७ ॥

शङ्का—

इस शरीर को पार्थिव, आप्य तथा तैजस मान लें, उन भूतों के गुणों की उपलब्धि होने से ? ॥ २८ ॥

शरीर में निःश्वास, उच्छ्वास की उपलब्धि से इसे चातुर्भौतिक मान लें ? ॥२९॥

अथवा—इसमें गन्ध, आर्द्रता, अन्नपाक, भुक्तान्नपान, रससञ्चरण तथा दूसरे भूतों को इतस्ततः सञ्चरण के लिये अवकाशदान से इसे पाञ्चभौतिक मान लें ? ॥ ३० ॥

इन तीनों सूत्रों में कथित हेतु सन्दिग्ध हैं, अतः सूत्रकार ने इनकी उपेक्षा की । सन्दिग्ध कैसे हैं ? तत्तद्गुणवान् द्रव्य के प्रकृतिभाव में भी भूतों के धर्मों की

च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिरसति च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निहितानामिति। यथा स्थाल्यामुदकतेजोवाय्वाकाशानामिति। तदिदमनेकभूतप्रकृति शरीरमगन्धमरसमरूपमस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात् स्यात्। न त्विदमित्थम्भूतम्, तस्मात् 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' ॥ २८–३० ॥

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ ३१ ॥

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतात्' इत्यत्र मन्त्रे 'पृथिवीं ते शरीरम्' इति श्रूयते, तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि' इति श्रूयते, सेयं कारणाद्विकारस्य स्पृत्तिरभिधीयत इति। स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्नजातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः ॥ ३१ ॥

इन्द्रियपरीक्षाप्रकरणम् [३२-५१]

अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते—किमाव्यक्तिकानि? आहोस्विद् भौतिकानीति?

उपलब्धि बन सकती है; अथवा—परस्पर संयुक्त भूतों का संयोग के अप्रतिषेध से भी गुणों को उपलब्धि हो सकती है। जैसे—एक ही स्थाली पार्थिव होती हुई भी वह्नि-संयुक्त हो तो अन्न को पका देती है, उदकसंयुक्त हो तो मध्यपाती पदार्थों को आर्द्र कर देती है, वायुसंयुक्त हो तो मध्यपाती पदार्थों का सञ्चरण करती है, आकाशसंयुक्त हो तो अन्य भूतों के कर्मों को इतस्ततः सञ्चरण के लिये अवकाश देती है। यह मानव शरीर यदि अनेकभूतप्रकृतिक होता तो तत्तद्भूतों को प्रकृति के अनुसार दूसरे के गुण दूसरे में नहीं आ सकते, अतः शरीर निर्गन्ध, नीरस, नीरूप, निःस्पर्श होता; परन्तु यह ऐसा नहीं है, अतः सिद्ध होता है कि—'इसमें गुणविशेष की विशेषोपलब्धि होने से यह पार्थिव हैं' ॥ २८-३० ॥

श्रुतिप्रामाण्य से भी (मानव शरीर पार्थिव है) ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे (प्रेतात्मा के) चक्षु सूर्य (तेजस्) में विलीन हो जायें' इस मन्त्र में 'तुम्हारा शरीर पृथ्वी में विलीन हो जाये'—इस प्रकार पृथ्वी प्रकृति में उसके विकार का विलय बतलाया है। 'तेरे लिये सूर्य को चक्षु रूप से सृजन करता हूँ' इस दूसरे मन्त्र में—'पृथ्वी को तेरे शरीर रूप में सृजन करता हूँ' यह कहते सुना जाता है! इसमें कारण से पृथ्वी के विकार की सृष्टि कही गयी है। स्थाल्यादि द्रव्यों में तुल्यजातीयों का समान कार्य होता हुआ देखा जाता है; अतः भिन्नजातीयों का समान कार्यारम्भ शरीर में अनुपपन्न है ॥ ३१ ॥

प्रमेयक्रम से, अब इन्द्रियों पर विचार किया जा रहा है—क्या ये इन्द्रियाँ सांख्य-मतानुसार अव्यक्त की विकार हैं? या (नैयायिकतानुसार) भूतविकार हैं?

कुतः संशयः ?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३२ ॥

कृष्णसारं भौतिकम्, तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिः, उपहते चानुपलब्धिरिति। व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्य उपलम्भः, न कृष्णसारप्राप्तस्य। न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात्सम्भवति। एवमुभयधर्मोपलब्धेः संशयः ॥ ३२ ॥

साङ्ख्यमतखण्डनम्

अभौतिकानीत्याह[1]। कस्मात् ?

महदणुग्रहणात् ॥ ३३ ॥

'महत्' इति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते, यथा—न्यग्रोधपर्वतादि। 'अणु' इति अणुतरमणुतमं च गृह्यते, यथा—न्यग्रोधधानादि। तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते। भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति। अभौतिकं तु विभुत्वात् सर्वव्यापकमिति ॥ ३३ ॥

यह संशय क्यों उठा ?

कनीनिका के होने पर रूपोपलब्धि होने से, तथा उस कनीनिका के समीपस्थ विषय की उपलब्धि होने से ॥ ३२ ॥

कृष्णसार (=कनीनिका) भौतिक (तैजस) है। क्योंकि उसके रहने पर रूपोपलब्धि होती है, न रहने पर नहीं हो पाती। कनीनिका से कुछ दूर पड़े पदार्थ की उपलब्धि हो पाती है, परन्तु उसको कनीनिका से सर्वथा सम्बद्ध कर देने पर रूपोपलब्धि नहीं होती। और, इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं, अतः उन्हें अभौतिक मानने पर भी विभुत्व धर्म से उनमें यह उपलब्धि बन सकती है। यों इन्द्रियों के विषय में दोनों तरह की कोटि मिलने से संशय होता है ॥ ३२ ॥

'इन्द्रियाँ अभौतिक हैं'—ऐसा सांख्यमत हैं; कैसे ?—

बड़े से बड़े तथा न्यून से न्यून परिमाण का ग्रहण होने से ॥ ३३ ॥

'महत्' से महत्तर, महत्तम का भी ग्रहण होता है, जैसे—विशाल वट वृक्ष या पर्वत आदि। 'अणु' से भी अणुतर, अणुतम का ग्रहण होता है, जैसे—वटबीज आदि। इन दोनों—'महद्' तथा 'अणु' के कनीनिका द्वारा गृहीत होने से चक्षु का भौतिकत्व बाधित होता है, क्योंकि भौतिक विकार एक सीमित परिमाण को ही व्याप्त कर सकता है। हाँ, अभौतिक अपेक्षानुसार व्यापक परिमाण को भी व्याप्त कर सकता है; क्योंकि वह विभु है ॥ ३३ ॥

---

१. सांख्य इति शेषः। इदानीं सूत्रकारः सांख्यमतमुत्थाप्य 'अक्षिकनीनिकैवेन्द्रियम्' इति बौद्धमतं दूषयति।

न महदणुग्रहणमात्रादभौतिकत्वं विभुत्वं चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम्। इदं खलु—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३४ ॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्भवति, यथा–प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति। रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः। चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृतमर्थं न प्रकाशयति, यथा–प्रदीपरश्मिरिति ॥ ३४ ॥

आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३४ ॥

रूपस्पर्शवद्धि तेजः, महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरिति प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत चाक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति ? ॥ ३५ ॥

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३६ ॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षतोऽनुप-

---

[अब नैयायिक सांख्यमत का खण्डन करता है—] केवल महद् या अणु परिमाण-ग्रहण से इन्द्रियों का अभौतिकत्व या विभुत्व सिद्ध नहीं होता; यह—

महद्-अणु का ग्रहण रश्मि तथा अर्थ के सन्निकर्षविशेष से होता है ॥ ३४ ॥

उन दोनों—महत् तथा अणु का ग्रहण चक्षूरश्मि तथा अर्थ के सन्निकर्षविशेष से होता है, जैसे—प्रदीपप्रभा तथा अर्थ के सन्निकर्ष से महदणु का ग्रहण होता है। यह रश्मि-अर्थ का सन्निकर्ष आवरण से अनुमित है। चाक्षुष रश्मि भित्ति-आदि का आवरण रहते अर्थ को प्रकाशित नहीं कर पातीं, जैसे प्रदीपप्रभा भित्ति-आवरण के रहते द्रव्य को प्रकाशित नहीं करती ॥ ३४ ॥

शङ्का—आवरण से अनुमेय मानने पर साङ्ख्यवादी कहता है—

उसकी उपलब्धि न होने से वह अहेतु है ? ॥ ३५ ॥

तेज रूपस्पर्शवाला है। महत्त्व, अनेकद्रव्यवत्त्व तथा रूपवत्त्व होने से उसकी उपलब्धि, प्रदीपप्रभावाले दृष्टान्त की तरह, प्रत्यक्ष से हो सकती थी, यदि चाक्षुष रश्मि वहाँ होती ! तात्पर्य यह है कि अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त भी यदि उपलभ्यमान नहीं है तो आवरणादि का अनुमेय बनाना उचित नहीं; अन्यथा नरविषाण आदि का भी अनुमान होने लगेगा ? ॥ ३५ ॥

उत्तर—

अनुमीयमान की प्रत्यक्षतः अनुपलब्धि उसके अभाव का कारण नहीं बना करती ॥ ३६ ॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थक आवरण से अनुमीयमान रश्मि की प्रत्यक्षतः अनुपलब्धि रश्मि के अभाव का प्रतिपादन नहीं करती, जैसे—चन्द्रमा का परभाग या पृथ्वी का अधोभाग

लब्धिर्नासावभावं प्रतिपादयति, यथा—चन्द्रमसः परभागस्य, पृथिव्याश्चाधोभागस्य ॥ ३६ ॥

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३७ ॥

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च, महदनेकद्रव्यच्च [1]विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते, तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्पेते, तथाविधमेव च तैजसं द्रव्यमनुद्भूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यते, स्पर्शस्त्वस्योष्ण उपलभ्यते; तस्य द्रव्यस्यानुवन्धाद् ग्रोष्मवसन्तौ कल्पेते ॥ ३७ ॥

यत्र त्वेषा भवति—

अनेकद्रव्यसमवायात्[2] रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः[3] ॥ ३८ ॥

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते, रूपविशेषस्तु यद्भावात् क्वचिद्रूपोपलब्धिः, यदभावाच्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः—स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति । अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रश्मिः, तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत

प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता तो उनके विषय में क्या हम यह मान वैठते हैं कि उनका अभाव है ! ।। ३६ ।।

तथा द्रव्यगुणभेद से उपलब्धि में नियम होता है ।। ३७ ।।

ये द्रव्य तथा गुण के धर्म भिन्न-भिन्न हैं । कोई प्रत्यक्षतः उपलब्ध हो जाता है, कोई नहीं होता । जैसे जलीय द्रव्य (वायुनीत जलीय त्र्यणुकादि) महान्, अनेकद्रव्यवान् तथा विभक्तावयव होते हुए भी प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता, परन्तु उसका शीतस्पर्श प्रत्यक्षतः गृहीत है; उसी से द्रव्य अनुमेय है । अतः उस द्रव्य के अनुवन्ध से हेमन्त-शिशिर ऋतु की कल्पना की जाती है । इसी प्रकार, तैजस द्रव्य, जिसका रूप अनुद्भूत है, रूप से युक्त होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु उसका उष्ण स्पर्श प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है; उसीसे द्रव्य अनुमेय होता है । उस द्रव्य के अनुवन्ध से ग्रीष्म-वसन्त ऋतु की कल्पना की जाती है ।। ३७ ।।

जहाँ यह रूपोलब्धि होती है, वहाँ—

अनेक द्रव्यों के समवाय सम्बन्ध होने से तथा ('उद्भूत' नामक) रूपविशेष से रूपसहित द्रव्यों की उपलब्धि होती है ।। ३८ ।।

जहाँ रूप, द्रव्य तथा तदाश्रय प्रत्यक्षतः उपलब्ध होते हैं; वहाँ रूपविशेष प्रयोजक है, जिसकी सत्ता से रूपोलब्धि होती है, तथा अभाव से कहीं रूपोपलब्धि नहीं हो पाती—यह रूपधर्म 'उद्भव' कहलाता है । यह चाक्षुष रश्मि अनुद्भूत होने के कारण प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हो पाती । लोक में तेज का भी धर्मभेद देखा जाता है, यथा—तेज

---

१. विभक्तावयवम्—इति पाठः । २. अनेकद्रव्येण समवायादिति वार्त्तिकसम्मतः पाठः । ३. इदं सूत्रं वैशेषिकसूत्रेष्वपि (४. अ० १. आ० ६ सू०) दृश्यते ।

इति। दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः—उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजः, यथा–आदित्यरश्मयः; उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं तेजः, यथा–प्रदीपरश्मयः; उद्भूतस्पर्शमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षम्, यथा–अबादिसंयुक्तं तेजः। अनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षश्चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ३८ ॥

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३९ ॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते, तथेन्द्रियाणि व्यूढानि, विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः। रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रवृत्त्यर्था[1] द्रव्यविशेषे च प्रतिघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था। सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः। कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः[2]।

यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः स भौतिकधर्मो न भूतानि

उद्भूतरूपस्पर्श वाला प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, जैसे–सूर्य की किरणें। उद्भूतरूप तथा अनुद्भूतस्पर्श वाला तेज प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है, जैसे—दीपक की लो। परन्तु वही उद्भूतस्पर्श तथा अनुद्भूतरूप वाला होता हुआ प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता, जैसे जलादिसंयुक्त तेज। इस नय से चाक्षुष रश्मि (कनीनिका) अनुद्भूतरूपस्पर्श वाली होती हुई प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती ॥ ३८ ॥

कर्म से प्रेरित यह इन्द्रियों की रचना उपभोग की साधिका है ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार चेतन के अभीप्सित या जिहासित अर्थ सुख दुःख उसके हेतु हैं, उसी प्रकार चेतन के लिये सुखदुःखोपलब्धिरूप विषयोपलब्धि की कल्पना की जाती है, उसी चेतन के लिये ये इन्द्रियाँ भी रची गयी हैं। विषयसंयोग के लिये चाक्षुषरश्मि की रचना की गयी है। रूप या स्पर्श का अनुभूतत्व व्यवहारप्रवृत्ति के लिये है। द्रव्य-विशेष में गतिनिरोधक संयोग से चक्षु की आवरणोपपत्ति भी व्यवहार के लिये है। सभी द्रव्यों की विश्व के रूप में विचित्र रूपरचना इन्द्रियों की तरह ही कर्मप्रेरित है, यह रचना पुरुषार्थसाधिका है। तथा कर्म धर्माधर्म रूप से चेतन के उपभोग के लिये है।

व्यभिचार न होने से यह गतिनिरोधक संयोग होना भौतिक धर्म माना गया है। जो यह आवरण की उपलब्धि से इन्द्रिय का द्रव्यविशेष में गतिनिरोधक संयोग है, वह

---

१. ०प्रक्लृप्त्यर्था—इति पाठ०। २. केचिट्टीकाकाराः सूत्रकारीयं सूत्रमिदं मन्यन्ते। वस्तुतस्तु भाष्यकारीयमेवेदं सूत्रम्; न्यायसूचीनिबन्धेऽदृष्टत्वात्।

व्यभिचरति, नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति । अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी; भौतिकाभौतिकयोः समानत्वादिति ।

यदपि मन्यते—प्रतिघाताद् भौतिकानीन्द्रियाणि, अप्रतिघातादभौतिकानीति प्राप्तम् ? दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ? तन्न युक्तम्; कस्मात् ? यस्माद्भौतिकमपि न प्रतिहन्यते, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनाम्, स्थाल्यादिषु पाचकस्य तेजसोऽप्रतिघातः ॥ ३९ ॥

उपपद्यते चानुपलब्धिः, कारणभेदात् ।

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ ४० ॥

यथा 'अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिः' (३.१.३८) इति सत्युपलब्धिकारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः, एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः । तच्च व्याख्यातम्—अनुद्भूतरूपस्पर्शस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरिति अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणम् ॥ ४० ॥

भौतिक धर्म है, तथा वह भूतों से व्यभिचरित नहीं होता । अर्थात् ऐसा संयोग कहीं भी अभौतिक नहीं देखा गया । हाँ, अप्रतिघात (अतादृश संयोग) अवश्य व्यभिचारी हो सकता है; क्योंकि वह भौतिक, अभौतिक—दोनों में ही समानतया घट सकता है ।

जो यह मानता है—'प्रतिघात से इन्द्रियाँ भौतिक सिद्ध होती हैं, अप्रतिघात से भी हो सकती हैं; क्योंकि काचाभ्रपटलस्फटिकादि में अप्रतिघात देखा जाने से इन्द्रियों में भी अप्रतिघात बन सकता है, तब तो इन्द्रियों को अभौतिक भी मानना पड़ेगा ?' यह अयुक्तियुक्त है; क्योंकि कभी-कभी भौतिक में प्रतिघात नहीं भी होता, जैसे काचाभ्रपटलस्फटिकादि के मध्य से भी प्रदीपरश्मियों का प्रकाश निकल ही जाता है । स्थाली आदि में भी विक्लित्तिजनक तेज (अग्नि) का अप्रतिघात देखा जाता है ॥ ३९ ॥

हाँ, कारणभेद से वह अनुपलब्धि भी उपपन्न होती है ।

मध्याह्न में ताराप्रकाश की अनुपलब्धि की तरह उसकी अनुपलब्धि बन सकती है ॥ ४० ॥

जैसे "अनेक द्रव्यों से समवायसमवेतत्व सम्बन्ध और 'उद्भूत' नामक रूपविशेष से द्रव्योपलब्धि होती है" (३.१.३८)—इस नियम से उपलब्धिकारण होने पर भी मध्य दिन में ताराओं का प्रकाश नहीं दिखायी पड़ता; क्योंकि वह आदित्यप्रकाश से अभिभूत रहता है, उसी प्रकार 'महत्त्ववान्, अनेकद्रव्यवान् होने से रूपविशेष से उपलब्धि होती है' (वै० सू० ४.१.६) इस नियम से उपलब्धिकारण होने पर भी चाक्षुष की उपलब्धि रश्मि निमित्तान्तर से नहीं हो पाती । यह हम पीछे कह ही चुके हैं कि अनुद्भूतरूपस्पर्शवान् द्रव्य की प्रत्यक्षतः उपलब्धि नहीं होती । अत्यन्तानुपलब्धि ('यदि स्यात् तर्हि उपलभ्येत' ऐसी योग्यानुपलब्धि) तदभाव का कारण बन सकती है ॥ ४० ॥

योहि ब्रवीति—'लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोपलभ्यते' इति, तस्यैतत् स्यात्—

न; रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४१ ॥

अप्यनुमानतोऽनुपलब्धेरिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति, न त्वेवं चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४१ ॥

उपपन्नरूपा चेयम्—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४२ ॥

बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकं तदभावेऽनुपलब्धिः । सति च प्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षुषाऽग्रहणम्, रूपस्यानुद्भूतत्वात् । सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा । तत्र यदुक्तम्—'तदनुपलब्धेरहेतुः' (३.१.३५) इत्येतदयुक्तम् ॥ ४२ ॥

कस्मात् पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यत इति ?

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४३ ॥

बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षतायां चेति चार्थः । यद्रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्य-

---

जो यह कहें—ढेले का प्रकाश भी मध्याह्न में आदित्य के प्रकाश से अभिभूत होने के कारण उपलब्ध नहीं होता', उनको यह उत्तर देना चाहिये—

रात्रि में भी उसकी उपलब्धि न होने से ऐसा नहीं कह सकते ॥ ४१ ॥

उस ढेले के प्रकाश की अनुमान से भी उपलब्धि नहीं होती । इस प्रकार उसकी अत्यन्तानुपलब्धि से 'ढेले में प्रभा नहीं होती'—यही सिद्ध होता है । ऐसी अत्यन्तानुपलब्धि अनुमान से चक्षूरश्मि में सिद्ध नहीं की जा सकती ॥ ४१

यह चक्षूरश्मि में अनुपलब्धि उपपन्नरूपवाली भी है—

बाह्य प्रकाश के सहारे रूपोपलब्धि होने से उस रूप की अनभिव्यक्ति से भी अनुपलब्धि हो सकती है ॥ ४२ ॥

चक्षु बाह्य प्रकाश का सहारा लेकर ही विषय को गृहीत करता है उस के रहते भी रूप की उपलब्धि नहीं हो पाती । अर्थात् प्रकाश का सहारा मिलने पर, तथा शीतस्पर्श की उपलब्धि होने पर भी रूपानभिव्यक्ति से रूपाश्रित द्रव्य (तारागण आदि) की अनुपलब्धि देखी जाती है; क्योंकि वह रूप उद्भूत नहीं है । उसके लिये आपका 'उसके न मिलने से वह नहीं है' ऐसा कहना अयुक्तियुक्त है ॥ ४२ ॥

तो यही क्यों नहीं कहते कि चाक्षुषरश्मि की अनुपलब्धि में उसका अभिभव ही कारण है ? नहीं; क्योंकि

अभिव्यक्ति में भी अभिभव देखा जाता है ॥ ४३ ॥

'बाह्यप्रकाश के सहारे की अपेक्षा न रखने की अवस्था में' सूत्रस्थ 'च' शब्द का अर्थ है । जिसका रूप अभिव्यक्त तथा उद्भूत होकर बाह्य प्रकाश के सहारे की जरूरत नहीं

प्रकाशानुग्रहं च नापेक्षते तद्विषयोऽभिभवः; विपर्ययेऽभिभवाभावात्। अनुद्भूत-रूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयत इति एवमुपपन्नम्—अस्ति चाक्षुषो रश्मिरिति ॥ ४३ ॥

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४४ ॥

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनाम्। तेन शेष-स्यानुमानमिति।

जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत्? धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नम्; आवरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति ॥ ४४ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः, कस्मात्?

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः? ॥ ४५ ॥

तृणादि सर्पद् द्रव्यं काचे, अभ्रपटले वा प्रतिहतं दृष्टमव्यवहितेन सन्निकृष्यते व्याहन्यते वै प्राप्तिर्व्यवधानेनेति। यदि च रश्म्यर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्याद्, न व्यवहितस्य सन्निकर्ष इत्यग्रहणं स्यात्। अस्ति चेयं काचाभ्रपटल-

---

रखता, उसका अभिभव हो सकता है, इसके विपरीत का नहीं। अर्थात् अनुद्भूतरूप होने से अनुपलभ्यमान, और वाह्य प्रकाश के सहारे से उपलभ्यमान द्रव्य अभिभूत नहीं होता। यों सिद्ध हो गया कि चाक्षुष रश्मि है ॥ ४३ ॥

रात्रि में घूमने फिरने वाले प्राणियों की चक्षूरश्मि भी देखी जाती है ॥ ४४ ॥

रात्रि में विचरण करनेवाले प्राणी विडालादि की चक्षूरश्मि रात्रिकाल में भी दीख पाती है। अतः उससे मनुष्यादि-नेत्र का अनुमान हो सकता है।

जातिभेद की तरह इन्द्रियों का भी भेद मान लें, ताकि विडालादि-चक्षूरश्मियों से मनुष्य चक्षु का अनुमान न हो सके? तो भी धर्मभेद अनुपपन्न ही रह जायेगा; क्योंकि वहाँ संयोगप्रतिषेधार्थक आवरण तो समान रूप से मिलता ही है ॥ ४४ ॥

[यों तैजसत्व सिद्ध कर, अब विषयदेशप्राप्यकारित्वपक्ष का स्थापन करते हैं—]

शंका—इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञानकारण कैसे होगा? है, क्योंकि—

चक्षुरादि अप्राप्य के ज्ञानसाधन हैं, काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि के व्यवधान में भी उपलब्धि देखी जाने से? ॥ ४५ ॥

लोक में, सरकता हुआ तृणादि पदार्थ काच या अभ्रपटल में निरुद्धगतिक तथा अव्यवधान होने पर वही पदार्थ काचान्तर्गत पदार्थ से सम्बद्ध होता देखा गया है, और संयोग कुड्यादि के व्यवधान से निरुद्ध हो जाता है। यदि चक्षूरश्मि तथा अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञानकारण होता तो व्यवहित के साथ सन्निकर्ष होता नहीं, अतः उसका ज्ञान नहीं होता। जब कि लोक में काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवधान होने पर भी व्यवहित

स्फटिकान्तरितोपलब्धि:, सा ज्ञापयति—अप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि, अत एवाभौतिकानि। प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति ॥ ४५ ॥

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४६ ॥

अप्राप्यकारित्वे सतीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिर्न स्यात् ॥ ४६ ॥

प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिर्न स्यात् ?

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४७ ॥

न च काचः, अभ्रपलं वा नयनरश्मि विष्टभ्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यत इति ॥ ४७ ॥

यश्च मन्यते—न भौतिकस्याप्रतिघात इति ? तन्न;

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ४८ ॥

आदित्यरश्मेरविघातात्, स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात्। अविघातादिति च पदाभिसम्बन्धाद् वाक्यभेद इति। प्रतिवाक्यं[1] चार्थभेद इति। आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहन्यते; अविघातात् कुम्भस्थमुदकं तपति,

---

उपलब्धि देखी जाती है, अतः वह सिद्ध करती है कि इन्द्रियाँ अप्राप्य का ज्ञान कराने वाली हैं। अतएव ये अभौतिक भी हैं, क्योंकि प्राप्त का ज्ञान कराना भौतिक धर्म है ? ॥ ४५ ॥

कुड्यादि के व्यवधान द्वारा अनुपलब्धि हेतु से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ४६ ॥

इन्द्रियों को अप्राप्यकारित्व मानने पर कुड्यादि से व्यवहित की अनुपलब्धि नहीं बनेगी ॥ ४६ ॥

प्राप्यकारित्व मानने पर भी तो काच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवहित की उपलब्धि नहीं होगी ?

अप्रतिघात (गत्यनिरोध) से सन्निकर्षोपलब्धि हो जायगी ॥ ४७ ॥

काच या अभ्रपटल चक्षूरश्मि की गति में अवरोध नहीं करते। अतः वह अनिरुद्ध होती हुई अर्थ से सन्निकृष्ट हो जाती है ॥ ४७ ॥

जो यह मानता है—'भौतिक का गत्यनिरोध नहीं होता', यह उचित नहीं;

आदित्यरश्मि के स्फटिक से व्यवहित होने पर भी दाह्यकर्म में गतिनिरोध न होने से ॥ ४८ ॥

इस सूत्र में 'अविघातात्' इस पद के अभिसम्बन्ध से आदित्यरश्मि के अविघात से, स्फटिक के अविघात से, दाह्य में अविघात से—ये तीन वाक्य हैं। वाक्यों के अनुसार ही तीन अर्थ हैं। आदित्यरश्मि घटादिक में निरुद्ध नहीं होतीं, अविघात होने से। क्योंकि

---

1. 'यथावाक्यम्'—इति पाठा०।

प्राप्तौ हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्य स्पर्शस्य ग्रहणम्, तेन च शीतस्पर्शाभिभव इति। स्फटिकान्तरितेऽपि प्रकाशनीये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः, अप्रतिघातात् प्राप्तस्य ग्रहणमिति। भर्जनकपालादिस्थं च द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते, तत्राविघातात् प्राप्तिः, प्राप्तौ तु दाहः। नाप्राप्यकारि तेज इति।

अविघातादिति च केवलं पदमुपादीयते। कोऽयमविघातो नाम? अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्यस्याविष्टम्भः, क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः, प्राप्तेरप्रतिषेध इति। दृष्टं हि कलशनिषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शस्य ग्रहणम्। न चेन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः। दृष्टौ च प्रस्पन्दपरिस्रवौ। काचाभ्रपटलादिभिर्नयनरश्मेरप्रतिघाताद्विभिद्यार्थेन सहसन्निकर्षादुपपन्नं ग्रहणमिति॥ ४८॥

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात्?॥ ४९॥

काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातः, कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतिघात इति प्रसज्यते, नियमे कारणं वाच्यमिति?॥ ४९॥

घटस्थ जल उष्ण हो जाता है। संयोग होने पर, अन्य तेज के गुण उष्ण स्पर्श का ग्रहण हो जाता है, तथा जल का अपना गुण शीतस्पर्श अभिभूत हो जाता है। इसी तरह स्फटिक से व्यवहित प्रकाश्य अर्थ के सन्निकर्ष में प्रदीपरश्मियों का निरोध नहीं होता, अविघात होने से संयुक्त अर्थ का ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार भ्राष्ट्र के खप्पर में पड़ा चणकादि पदार्थ आग्नेय तेज से भुन जाता है, वहां उस तेज का संयोग अविघात से ही होता है। संयोग से वहाँ दाह उत्पन्न होता है! अतः तेज अप्राप्यकारी नहीं है।

'अविघात' यह पद केवल (विशेषणशून्य) लिया जाता है। यह अविघात क्या है? वियुक्त न हो सकने योग्य अवयवों वाले व्यवधायक द्रव्य से द्रव्य का सर्वतः अविष्टम्भ (गति का अप्रतिबन्ध) = प्राप्ति (संयोगव्यापार) का अप्रतिबन्ध, अर्थात् संयोग का अप्रतिबन्ध। लोक में हम देखते हैं कि घट में भरे जल का शीतस्पर्श बाहर गृहीत होता है, जब कि इन्द्रियाँ असन्निकृष्ट द्रव्य के स्पर्श का ग्रहण नहीं कर पातीं। उसी तरह प्रस्पन्द (अन्तःस्थितद्रव्य का बहिःसरण), प्रस्रवण भी देखे जाते हैं। अतः काच, अभ्रपटलादि से चक्षूरश्मि का अप्रतिघात होने से वह काचावयव विभक्त होकर अर्थ के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने से सन्निकृष्ट का ग्रहण हो जाता है॥ ४८॥

शंका—

इतरेतरधर्मप्रसङ्ग से प्रतिघात नहीं बनेगा?॥ ४९॥

काच, अभ्रपटलादि की तरह कुड्यादि से अप्रतिघात, या कुड्यादि की तरह काच अभ्रपटलादि से प्रतिघात—यों उभयथा प्रसक्ति होने लगेगी। अतः आप अपने नियम में कोई हेतु बतायें?॥ ४९॥

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ ५० ॥

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मः, नियमदर्शनात्; प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम् । यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यमादर्शरूपानुग्रहात् तन्निमित्तं भवति, आदर्शरूपोपघाते तदभावाद्, कुड्यादिषु च प्रतिबिम्बग्रहणं न भवति; एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षूरश्मेः, कुड्यादिभिश्च प्रतिघातः; द्रव्यस्वभावनियमादिति ॥ ५० ॥

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५१ ॥

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात् । न खलु भोः ! परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुम्–एवं भवतेति, नापि प्रतिषेद्धुम्–एवं न भवतेति । न हीद-मुपपद्यते–रूपवद्गन्धोऽपि चाक्षुषो भवत्विति, गन्धवद्वा रूपं चाक्षुषं मा भूदिति, अग्निप्रतिपत्तिवद् धूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति, उदकाप्रतिपत्तिवद्वा धूमे-नाग्निप्रतिपत्तिरपि मा भूदिति । किं कारणम्? यथा खल्वर्था भवन्ति य एषां स्वो भावः स्वो धर्म इति, तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यते इति । तथाभूत-

---

आदर्श तथा उदक के स्वच्छतारूप धर्म से रूपोपलब्धि की तरह उक्त उपलब्धि बन जायेगी ॥ ५० ॥

आदर्श (शीशा) तथा उदक का स्वच्छतानामक रूपविशेष नियमतः देखा जाने से नियत स्वधर्म है, अथवा स्वच्छता का स्वधर्म रूपोपलब्धि कराना है । जैसे—आदर्श का व्यवधान पाकर लौटती हुई नयनरश्मि का स्वमुख से सन्निकर्ष होने पर 'प्रतिबिम्ब-ज्ञान' नामक स्वमुखोपलब्धि आदर्श की स्वच्छता के सहारे से तन्निमित्तक हो जाती है, आदर्शस्थ रूपोपघात होने पर वह नहीं हो पाती । इसी तरह काच या अभ्रपटलादि का अविघात, चक्षूरश्मि का कुड्यादि से प्रतिघात—ये दोनों भी द्रव्यस्वभावनियम से बनते हैं ॥ ५० ॥

प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध विषयों के बारे में नियोग (आज्ञा) या निषेध नहीं बनते ॥ ५१ ॥

प्रमाण यथार्थवस्तुविषयक होता है । अरे भाई ! परीक्षकों द्वारा प्रत्यक्षकृत तथा अनुमित विषयों के बारे में अपनी इच्छा से नियम बनाकर 'आप ऐसा करें' यह आज्ञा या 'आप ऐसा न करें' यह निषेध नहीं बना करता । यह कभी भी नहीं हो सकता कि रूप की तरह गन्ध भी चक्षु से गृहीत होने लगे, या गन्ध की तरह रूप भी चक्षु से गृहीत न हो । और ऐसा भी नहीं होता कि धूम से अग्नि के प्रतिपादन की तरह जल का प्रति-पादन होने लगे, या जल की तरह अग्नि का भी प्रतिपादन न हो। कारण क्या है ? जैसे विषय होते हैं और जैसी उनकी सत्ता तथा धर्म होते है वैसे ही वे (तद्धर्मयुक्त)

विषयकं हि प्रमाणमिति । इमौ खलु नियोगप्रतिषेधौ भवता देशितौ—काचाभ्र-पटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातो भवतु, कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिर-प्रतिघातो मा भूदिति ? न; दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः, प्रतिघाताप्रति-घातयोर्हर्युपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके । व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते—कुड्या-दिभिः प्रतिघातः, व्यवहितोपलब्ध्याऽनुमीयते—काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति ॥ ५१ ॥

इन्द्रियनानात्वपरीक्षाप्रकरणम् [५२–६२]

अथापि खल्वेकमिदमिन्द्रियम् ? बहूनीन्द्रियाणि वा ?

कुतः संशयः ?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥ ५२ ॥

बहूनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते, नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी चेति । तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति ॥ ५२ ॥

एकमिन्द्रियम्;

त्वगव्यतिरेकात् ? ॥ ५३ ॥

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह । कस्मात् ? अव्यतिरेकात् । न त्वचा किञ्चिदि-

---

प्रमाण से प्रतिपन्न हो जाते हैं । प्रमाण भी तथा भूतविषयक (सत्यार्थप्रकाशक) होते हैं । आपने ये नियोग तथा प्रतिषेध प्रकृति में बतलाये—काच, अभ्रपटलादि की तरह कुड्यादि से अप्रतिघात हो (नियोग), या कुड्यादि की तरह काचाभ्रपटलादि से अप्रति-घात न हो (प्रतिषेध)—ये दोनों नहीं बनेंगे; क्योंकि ये द्रव्यधर्म या तो प्रत्यक्षगम्य हैं, या अनुमेय । उपलब्धि या अनुपलब्धि प्रतिघात तथा अप्रतिघात की व्यवस्थापिका हो सकती हैं । व्यवधान होने पर व्यवहित की अनुपलब्धि से अनुमान होता है कि कुड्यादि से प्रतिघात होता है, व्यवधान होने पर भी उपलब्धि से अनुमान होता है कि काचा-भ्रपटलादि से अप्रतिघात होता है ॥ ५१ ॥

एक इन्द्रिय है, या बहुत सी इन्द्रियाँ हैं ?—यह संशय क्यों हुआ ?

स्थान के अन्य होने पर अनेकत्व देखा जाने से, तथा एक अनवयविद्रव्य के अनेक स्थानों में देखा जाने से ॥ ५२ ॥

बहुत से द्रव्य अनेक स्थानों में देखे जाते हैं, और कई बार एक ही अवयवी अनेक स्थानों में देखा जाता है । अतः उक्त उभयविध संशय भिन्न स्थान वाली इन्द्रियों के बारे में उत्पन्न हुआ ॥ ५२ ॥

शङ्का—इन्द्रिय एक है; क्योंकि

अभेद सम्बन्ध से त्वक् (नामक एक ही इन्द्रिय है) ? ॥ ५३ ॥

पूर्वपक्षी कहता है कि 'त्वग्' ही एक इन्द्रिय हैं; क्योंकि वहाँ अभेद सम्बन्ध हैं। ऐसा कौन सा इन्द्रियाधिष्ठान हैं, जो त्वक् ने न प्राप्त किया हो, या त्वक् के न रहने पर कौन सा विषय

न्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तम्, न चासत्यां त्वचि किञ्चिद्विषयग्रहणं भवति, यया सर्वेन्द्रियस्थानाति व्याप्तानि, यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति, सा त्वगेक-मिन्द्रियमिति ?

न; इन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः। स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपादयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः। न स्पर्श-ग्राहकादिन्द्रियादिन्द्रियान्तरमस्तीति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन् रूपादयः, न च गृह्यन्ते; तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति।

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः। यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चि-च्चक्षुषि सन्निकृष्टो धूमस्पर्शं गृह्णाति नान्यः; एवं त्वचोऽवयवविशेषा रूपादि-ग्राहकाः, तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादय इति ?

व्याहतत्वादहेतुः। त्वगव्यतिरेकादेकमिन्द्रियमित्युक्त्वा 'त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवद्रूपाद्युपलब्धिः' इत्युच्यते। एवं च सति, नानाभूतानि विषयग्राह-काणि, विषयव्यवस्थानात्; तद्भावे विषयग्रहणस्य भावात्, तदुपघाते चाभावात्। तथा च पूर्वो वाद उत्तरेण वादेन व्याहन्यत इति।

गृहीत हो सकता है! अतः जिससे सभी इन्द्रियस्थान व्याप्त हैं, या जिसके रहने पर सब विषयों का ग्रहण हो पाता है, वह 'त्वग्' ही एक इन्द्रिय है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से दूसरी इन्द्रियों के विषय उपलब्ध नहीं हो पाते। स्पर्शोपलब्धिलक्षणवाली त्वगिन्द्रिय द्वारा गृह्यमाण स्पर्श से अन्ध पुरुष रूपादि का ग्रहण नहीं कर पाते! यदि स्पर्शग्राहक इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ न होती तो स्पर्श की तरह रूपादि का ज्ञान भी अन्य पुरुषों को होना चाहिये। होता है नहीं, अतः निश्चित है कि एक 'त्वग्' ही इन्द्रिय नहीं है (अपितु अन्य इन्द्रियाँ भी हैं)।

'त्वगवयव ही इन्द्रियाँ हैं' ऐसा मानकर त्वगवयवविशेष से धूमोपलब्धि की तरह तत्तदर्थ की उपलब्धि हो जायेगी। जैसे त्वग् का कोई अवयवविशेष चक्षु के समीप होता हुआ धूमस्पर्श का ग्रहण कर लेता है, अन्य अवयव नहीं; इसी तरह त्वग् के अवयवविशेष रूपादि के ज्ञाता है, उन अवयवविशेषों के उपघात से अन्ध पुरुषों को रूपादि गृहीत नहीं हो पाते ?

वचनविरोध होने से यह हेतु नहीं बनता। पहले तो कहा था कि 'अभेद होने से केवल एक त्वगिन्द्रिय है'; अब कहते हो 'त्वगवयवविशेष से धूमाद्युपलब्धि की तरह रूपादि की उपलब्धि हो जाती है', ऐसा मानने पर विषयव्यवस्था से विषयग्राहक अनेक होंगे, जब वे होंगे तो विषयज्ञान हो जायगा, उनके उपघात होने पर विषयज्ञान न होगा। यों आपका वह पूर्वकथन इस उत्तरकथन से विरुद्ध पड़ रहा है।

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेकः। पृथिव्यादिभिरपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि, न च तेष्वसत्सु विषयग्रहणं भवतीति। तस्मान्न त्वगन्यद्वा सर्वविषयमेकमिन्द्रियमिति ॥ ५३ ॥

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५४ ॥

आत्मा मनसा सम्बध्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निकृष्टमिति— आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद् ग्रहणानि स्युः। न च युगपद्रूपादयो गृह्यन्ते, तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकमस्तीति। असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकम्, साहचर्ये हि विषयग्रहणानामन्धाद्यनुपपत्तिरिति ॥५४॥

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५५ ॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रियम्; व्याघातात्। त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्त इति, अप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः। स्पर्शादीनां च प्राप्तानां ग्रहणाद् रूपादीनां प्राप्तानां ग्रहणमिति प्राप्तम्।

प्राप्याप्राप्यकारित्वमिति चेत्? आवरणानुपपत्तेर्विषयमात्रस्य ग्रहणम्। अथापि मन्येत—प्राप्ताः स्पर्शादयस्त्वचा गृह्यन्ते, रूपाणि त्वप्राप्तानीति? एवं

अभेद हेतु भी सन्दिग्ध है। पृथिवी आदि अन्य भूतों द्वारा इन्द्रियाधिष्ठान व्याप्त हैं, उन भूतों के रहे विना विषयज्ञान नहीं हो सकता। अतः त्वग्, या कोई अन्य इन्द्रिय एकाकी सर्वविषयग्राहक नहीं है ॥ ५३ ॥

अर्थों को एक साथ उपलब्धि न होने से एक ही इन्द्रिय नहीं है ॥ ५४ ॥

'आत्मा मन से सम्बद्ध होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय सब अर्थों से सन्निकृष्ट है'— इस सिद्धान्त से आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ के सन्निकर्षों से एक ही साथ अनेक ज्ञान होने चाहिये! जब कि रस-रूपादिज्ञान एक साथ नहीं होते। अतः यह निश्चित है कि सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय नहीं है। यदि युगपदर्थज्ञान मानोगे तो अन्धादि को भी स्पर्श के साथ-साथ रूपादि का ज्ञान होने लगेगा ॥ ५४ ॥

विप्रतिषेध के कारण एक त्वग् ही इन्द्रिय नहीं है ॥ ५५ ॥

अर्थविरोध होने से त्वग् ही एक इन्द्रिय नहीं है; क्योंकि त्वग् से रूप अप्राप्त होते हुए गृहीत होते हैं। यों अप्राप्यकारित्व मानने पर स्पर्शादि में भी अप्राप्यकारित्वप्रसंग होने लगेगा। प्राप्त स्पर्शादि के ग्रहण से प्राप्त रूपादि का भी ग्रहणप्रसङ्ग प्राप्त होगा।

यदि इन्द्रिय को प्राप्याप्राप्यकारित्व मानें तो आवरणानुपपत्ति होने से विषयमात्र का ग्रहण होने लगेगा। यदि यह मानें कि 'प्राप्य स्पर्शादि त्वग् से गृहीत हो जाते हैं, किन्तु रूपादि

सति नास्त्यावरणम्, आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य ग्रहणं व्यवहितस्य चाव्यवहितस्य चेति। दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्। अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहणम्, अन्तिके च ग्रहणम्—इत्येतन्न स्यादिति॥ ५५॥

एकत्वप्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्॥ ५६॥

अर्थः प्रयोजनम्, तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यत इति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते; स्पर्शरूपग्रहणे च ताभ्यामेव न गन्धो गृह्यत इति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते; त्रयाणां ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यते इति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनुमीयते; चतुर्णां ग्रहणे न तैरेव शब्दः श्रूयते इति शब्दग्रहणप्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते। एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतरसाधनसाध्यत्वात् पञ्चैवेन्द्रियाणि॥ ५६॥

न, तदर्थबहुत्वात्?॥ ५७॥

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्ध्यति। कस्मात्? तेषा-

---

प्राप्य होकर गृहीत नहीं होते हैं' तो आवरण की बात कहाँ आयेगी कि इसकी अनुपपत्ति से व्यवहित या अव्यवहित रूपादि का ग्रहण होना चाहिये। सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट वाली बात रूपोपलब्धि या रूपानुपलब्धि में नहीं बनेगी। 'त्वग् द्वारा अप्राप्य रूप गृहीत होगा तो दूर होने से गृहीत नहीं होता, समीप का रूप गृहीत हो जाता है'—यह व्यवस्था नहीं बनेगी॥ ५५॥

एकत्व के खण्डन से अनेकत्व सिद्ध हो जाने पर, उस अनेकत्व की स्थापना में हेतु भी देते हैं—

इन्द्रियों के पाँच अर्थ होने से॥ ५६॥

अर्थ से सूत्रकार का तात्पर्य है—प्रयोजन। इन्द्रियों का वह प्रयोजन पांच प्रकार का है। त्वगिन्द्रिय से स्पर्शज्ञान होने पर उसी से रूपज्ञान नहीं हो पाता—अतः उस ज्ञान के लिए चक्षुरिन्द्रिय का अनुमान होता है! स्पर्श तथा रूप का ज्ञान होने पर भी उन्हीं इन्द्रियों से गन्ध का ज्ञान नहीं होता; अतः गन्धज्ञानप्रयोजनवाली घ्राणेन्द्रिय का अनुमान किया जाता है। इन तीनों का ज्ञान होने पर भी उन्हीं तीनों इन्द्रियों से रस का ज्ञान नहीं हो पाता—अतः रसज्ञान के लिए रसनेन्द्रिय का अनुमान होता है। इन चारों का ज्ञान उन उन इन्द्रियों से होने पर भी उन्हीं से शब्द नहीं सुनायी पड़ता, अतः शब्दग्रहणप्रयोजनक श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान करना पड़ता है। इस तरह इन इन्द्रियप्रयोजनों के एक दूसरे के साधनों द्वारा साध्य न होने से पांच ही इन्द्रियाँ हैं॥ ५६॥

शंका—

उन इन्द्रियों का प्रयोजनबहुत्व होने से ऐसा नहीं?॥ ५७॥

इन्द्रियों के पाँच प्रयोजन होने से पाँच की सिद्धि करनी हो तो उतनी ही सिद्धि

मर्थानां बहुत्वात्। बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः—स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णशीता इति, रूपाणि शुक्लहरितादीनि, गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः, रसाः कटुकादयः, शब्दा वर्णात्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः। तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि, तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद् बहूनि इन्द्रियाणि प्रसज्यन्त इति ?॥ ५७॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धादीनां यानि गन्धादिग्रहणानि तान्यसमानसाधनसाध्यत्वात् ग्राहकान्तराणि प्रयोजयन्ति। अर्थसमूहोऽनुमानमुक्तः, नार्थैकदेश; नार्थैकदेशं चाश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवान् प्रतिषेधति; तस्मादयुक्तोऽयं प्रतिषेध इति।

कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादय इति ? स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः—शीत उष्णोऽनुष्णाशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन संगृहीतः।

नहीं होतीं; क्योंकि उनके प्रयोजन बहुत से हैं। इन इन्द्रियप्रयोजनों की बहुलता है, जैसे—एक स्पर्श को ही लें—यह अकेला शीत, उष्ण, अनुष्ण भेदवाला है। इसी तरह शुक्ल, हरित आदि भेद से रूप अनेक प्रकार का है; गन्ध भी इष्ट, अनिष्ट, उपेक्षणीय भेद से; रस मधुर, कटु आदि भेद से; शब्द वर्ण तथा ध्वनि भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। अतः जो वादी यह कहता है कि 'इन्द्रियों के पाँच ही प्रयोजन होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं', उसके सामने अनेक प्रयोजन सिद्ध होने से अनेक इन्द्रियों का प्रसंग आ पड़ा ?॥ ५७॥

उत्तर—

गन्धसमूह के गन्धत्वेन एक होने से गन्धादिक का प्रतिषेध नहीं होता ॥ ५८ ॥

गन्धत्वादि स्वसामान्य (एकत्वजाति) से व्यवस्थित (अनुगत) गन्धादि का ज्ञान विजातीय तत्तत् साधनों (ग्राहकों) से साध्य हैं, अतः वे इन्द्रियान्तर का अनुमान कराने लगते हैं। क्योंकि हम अर्थसमूह को ही अनुमापक हेतु कहते हैं, न कि प्रयोजनैकदेश को; जब कि प्रयोजनैकदेश के सहारे आप विषयपञ्चत्व का प्रतिषेध करने खड़े हो गये। अतः आपका यह प्रतिषेध उचित नहीं।

गन्धत्वादि स्वसामान्य से गन्धादि कैसे व्यवस्थित हैं ? यह स्पर्श तीन प्रकार का है—शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत भेद से। ये तीनों स्पर्शत्व स्वसामान्य से संगृहीत हो जाते हैं। शीतस्पर्श के गृहीत होते हुए उष्ण या अनुष्णशीत स्पर्श गृहीत होता है, उनका ग्रहण शीतस्पर्श ग्राहक से ही होता है। अतः एकसाधनसाध्य होने से

गृह्यमाणे च शीतस्पर्शे, नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा स्पर्शस्य ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयति; स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वाद्–येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते तेनैवेतरावपीति। एवं गन्धत्वेन गन्धानाम्, रूपत्वेन रूपाणाम्, रसत्वेन रसनाम्, शब्दत्वेन शब्दानामिति। गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि। तस्मादुपपन्नम्–'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि' इति ॥ ५८ ॥

यदि सामान्यं संग्राहकम्, प्राप्तमिन्द्रियाणाम्

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ? ॥ ५९ ॥

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः सङ्गृहीता इति ॥ ५९ ॥

न; बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥ ६० ॥

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिरपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते, अनुमीयन्ते च पञ्च गन्धादयो गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्याः, तस्मादसम्बद्धमेतत्।

अयमेव चार्थोऽनूद्यते–बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति। बुद्धय एव लक्षणानि विषय-

---

उष्ण आदि स्पर्शान्तर का ग्रहण ग्राहकान्तर (इन्द्रियान्तर) का अनुमापक नहीं है। इसी प्रकार गन्धत्वसामान्य से समग्र गन्धों का, रूपत्वसामान्य से सभी रूपों का, रसत्वसामान्य से सम्पूर्ण रसों का, शब्दत्वसामान्य से सब शब्दों का ग्रहण सिद्ध हो सकता है।

गन्धादि विजातीय गुणविशेष का ज्ञान असमान साधनों द्वारा साध्य होने से ग्राहकान्तर का अनुमान करा सकते हैं। अतः प्रयोजन समूहभेद के पाँच प्रकार के होने से इन्द्रियाँ भी पाँच ही हैं ॥ ५८ ॥

यदि जाति ही संग्राहिका हैं तो इन्द्रियों का—

विषयत्वाभेद से एकत्व उपपन्न होने लगेगा ? ॥ ५९ ॥

विषयत्वसामान्य से गन्धादि का संग्रह होने से एक ही इन्द्रिय में सबका संग्रह हो जायेगा ? ॥ ५९ ॥

नहीं; बुद्धि, लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति—इन से (वे गन्धादि संगृहीत होते) ॥ ६० ॥

विषयत्वसामान्य से व्यवस्थित विषय ग्राहकान्तरनिपेक्ष होते हुए एकेन्द्रियग्राह्यत्वेन अनुमित नहीं होते। गन्धादि पाँच गन्धत्वादि स्वसामान्य से व्यवस्थित होकर इन्द्रियान्तरग्राह्य हैं। अतः यह इन्द्रिय का एकत्व असम्बद्ध है।

इसी बात को इस सूत्र में बुद्धिलक्षणपञ्चत्व से स्पष्ट कर रहे हैं। तत्तद्बुद्धियाँ ही इन्द्रियत्वसाधक विषयग्रहण के पाँच भेद होने से उनके पञ्चत्व के लक्षण हैं। यह बात

ग्रहणलिङ्गत्वादिन्द्रियाणाम्, तदेतत् 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' (३. १. ५६) इत्येतस्मिन् सूत्रे कृतभाष्यमिति । तस्माद् बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि ।

अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्चेन्द्रियाणाम् । सर्वशरीराधिष्ठानं स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गम्, कृष्णताराधिष्ठानं चक्षुर्बहिर्निःसृतं रूपग्रहणलिङ्गम्, नासाधिष्ठानं घ्राणम्, जिह्वाधिष्ठानं रसनम्, कर्णच्छिद्राधिष्ठानं श्रोत्रम्; गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहणलिङ्गत्वादिति ।

गतिभेदादपीन्द्रियभेदः । कृष्णसारोपनिबद्धं चक्षुर्बहिर्निःसृतं रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति । स्पर्शनादीनि त्विन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात् प्रत्यासीदन्ति । सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति ।

आकृतिः खलु परिमाणम्, इयत्ता । सा पञ्चधा—स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसन-स्पर्शनानि विषयग्रहणेनानुमेयानि; चक्षुः कृष्णसाराश्रयं बहिर्निःसृतं विषयव्यापि; श्रोत्रं नान्यदाकाशात्, तच्च विभु शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुषसंस्कारोपग्रहाच्चाधिष्ठाननियमेन शब्दस्य व्यञ्जकमिति ।

हमने ऊपर 'इन्द्रियार्थों के पाँच होने से' (३.१.५६.) सूत्र में स्पष्ट कर दी है । अतः बुद्धिलक्षण पाँच होने से इन्द्रियाँ भी पाँच हैं ।

पाँचों इन्द्रियों के अधिष्ठान भी पाँच ही हैं । सम्पूर्ण शरीर का आश्रय लेनेवाली स्पर्शेन्द्रिय स्पर्शज्ञान का हेतु है । कनीनिका का आश्रय लिये हुए चक्षुरिन्द्रिय बहिर्निःसृत रूपज्ञान का हेतु है । घ्राणेन्द्रिय नासाधिष्ठानवाली है, रसनेन्द्रिय जिह्वाधिष्ठानवाली है, श्रोत्रेन्द्रिय कर्णछिद्राधिष्ठानवाली है । इस प्रकार ये सभी पाँच विजातीय क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द ज्ञान की हेतु हैं ।

गतिभेद से भी इन्द्रियभेद सिद्ध होता है । कनीनिका से संयुक्त चक्षु बाहर निकल, रूपाश्रय द्रव्य तक पहुँचती है । स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय ही उन इन्द्रियों के पास पहुँच जाते हैं । सन्तानवृत्ति से शब्द श्रोत्र के पास पहुँचता है ।

आकृति कहते हैं—परिमाण को, इयत्ता को । वह आकृति पाँच प्रकार की है । घ्राण, रसन, स्पर्शनेन्द्रियाँ स्वस्थानमात्र पर्याप्त हैं, तथा स्व स्व विषय के ग्रहण से अनुमित होती हैं । चक्षु कनीनिकाधिष्ठित हो, बाहर निकल कर विषय को व्याप्त करती है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से भिन्न नहीं है, वह आकाश नित्य है, शब्दमात्र के अनुभव से अनुमेय है, पुरुषों के दृष्टादृष्टाख्य संस्कारविशेष सम्बन्ध अथवा संस्कारबल से वह अधिष्ठान होकर शब्द का व्यञ्जक है । इस प्रकार आकृति से भी ये इन्द्रियाँ सिद्ध होती है ।

जातिरिति योनिं प्रचक्षते । पञ्च खल्विन्द्रिययोनयः—पृथिव्यादीनि भूतानि, तस्मात् प्रकृतिपञ्चत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् ॥ ६० ॥

कथं पुनर्ज्ञायते—भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतीनीति ?

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६१ ॥

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः । वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जिकाः, तेजो रूपव्यञ्जकम्, पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् । अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे—भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि, नाव्यक्तप्रकृतीनीति ॥ ६१ ॥

अर्थपरीक्षाप्रकरणम् [६२-७४]

'गन्धादयः पृथिव्यादिगुणाः' (१. १. १४) इत्युद्दिष्टम्; उद्देशश्च पृथिव्यादीनामेकगुणत्वे चानेकगुणत्वे समानम्, इत्यत आह—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥ ६२ ॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६३ ॥

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः । आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्श-

---

जाति कहते हैं योनि (प्रकृति, कारणविशेष) को। पृथ्वी आदि पाँच भूत पाँचों इन्द्रियों की योनि हैं । अतः पृथक् पृथक् पाँच प्रकृति होने से भी ये इन्द्रियाँ पाँच हैं ॥ ६० ॥

यह कैसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ भूतप्रकृतिक हैं, अव्यक्तप्रकृतिक नहीं ?

प्रत्येक भूत की गुणविशेषोपलब्धि से उनके साथ तादात्म्य ज्ञात होता है ॥ ६१ ॥

वायु आदि भूतों का गुणविशेषाभिव्यक्तिनियम लोक में देखा गया है । वायु स्पर्शव्यञ्जक है, जल रसव्यञ्जक है, तेज रूपव्यञ्जक है, कोई पार्थिवद्रव्य उसी द्रव्य की गन्ध का व्यञ्जक है । यह इन्द्रियों का भूतगुणविशेषोपलब्धिनियम है, इस भूतगुणविशेषोपलब्धि से हम मान लेते हैं कि इन्द्रियां भूतप्रकृतिक हैं, अव्यक्तप्रकृतिक नहीं ॥ ६१ ॥

पीछे हम नामसंकीर्तनरूप से कह आये हैं कि 'पृथिव्यादि भूतों के गन्धादि विषय हैं' (१. १. १४), यह नामसंकीर्तन पृथ्व्यादि के एक गुण या अनेक गुण होने पर भी समान ही है—ऐसा संशय होने पर, कहते हैं—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्दों में स्पर्शपर्यन्त पृथ्वी के विषय हैं ॥ ६२ ॥

इन में से पूर्व का एक एक छोड़ कर जल, तेज, वायु के विषय हैं, आकाश का केवल अन्तिम (शब्द) विषय है ॥ ६३ ॥

'स्पर्शपर्यन्त' शब्द में विभक्तिविपरिणाम करके 'स्पर्शपर्यन्त गुणों से उत्तर'—ऐसा

पर्यन्तेभ्य इति। कथं तर्हि तरब्निर्देशः ? स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात् । तेनोत्तर-शब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते। उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति । तन्त्रं वा, स्पर्शस्य विवक्षितत्वात् । स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः शब्द इति ।। ६२-६३ ।।

न; सर्वगुणानुपलब्धेः ।। ६४ ।।

नायं गुणनियोगः साधुः। कस्मात् ? यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मकेनेन्द्रियेण सर्वे उपलभ्यन्ते। पार्थिवेन हि घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते, गन्ध एव एको गृह्यते । एवं शेषेष्वपीति ।। ६४ ।।

कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ?

एकैकश्येनोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ? ।। ६५ ।।

गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः, अतस्तदनुपलब्धिः । तेषां तयोः तस्य चानुपलब्धिः—घ्राणेन रसरूपस्पर्शानाम्, रसनेन रूपस्पर्शयोः, चक्षुषा स्पर्शस्येति ?

अर्थ समझना चाहिए । 'उत्तर' यह तरप्प्रत्यय से निर्देश क्यों किया ? क्योंकि सूत्रकार में शब्दों के स्व-तन्त्रानुसार विनियोग (प्रयोग) की सामर्थ्य रहती है। इस तरब्निर्देश से उत्तर शब्द पर अर्थ को वतलाता है—ऐसा विज्ञात होता है । उद्देशसूत्र में कथित स्पर्श-पर्यन्तों से पर शब्द ऐसी व्यवस्था है। या उत्तर शब्द में, स्पर्श विवक्षित होने से, तन्त्र समझना चाहिए—'स्पर्शपर्यन्तों के वारे में निर्धारण कर देने के बाद वाकी वचा उस स्पर्श से आगे का शब्द'—ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।। ६२-६३ ।।

शंका—

एक भूत में अनेक गुण नहीं हैं; क्योंकि सब गुणों की उपलब्धि नहीं हो पाती ? ।। ६४।।

आप का यह गुणयोग उचित नहीं है, क्योंकि जिस भूत के ये गुण नहीं हैं, वे सब तदात्मक इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं हो पाते। पार्थिव घ्राणेन्द्रिय से स्पर्शपर्यन्त सभी विषय गृहीत नहीं हो पाते; अपितु एक गन्ध विषय ही गृहीत हो पाता है। घ्राणपृथ्वी में सभी गुणों के रहने से सब का उससे ग्रहण होना चाहिये। इसी तरह अवशिष्ट के वारे में भी समझ लें ? ।। ६४ ।।

अतः इन गुणों का विनियोग कैसे समझा जाय ?

एकैकक्रम से उत्तरोत्तर (रसादि के) गुण होने से उत्तरोत्तर (अबादि) के गुणों (रसादि) की उपलब्धि नहीं होती ? ।। ६५ ।।

गन्धादि गुणों में से एक-एक क्रमशः पृथ्वी आदि में पूर्व-पूर्व में उत्तरोत्तर का सम्बन्ध रहने पर भी गुण यथाक्रम पृथिव्यादि एक एक महाभूत का हैं, अतः उन अतिरिक्त—तीन, दो, या एक की उपलब्धि नहीं हो पाती। जैसे घ्राण से रस-रूप-स्पर्श की, रसन से रूप-स्पर्श की, चक्षु से स्पर्श की उपलब्धि नहीं हो पाती ?

कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्त इति ?

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् । अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसादयो गृह्यन्ते । एवं शेषेष्वपीति ? ॥ ६५ ॥

नियमस्तर्हि न प्राप्नोति, संसर्गस्यानियमाच्चतुर्गुणा पृथिवी, त्रिगुणा आपः, द्विगुणं तेजः, एकगुणो वायुरिति ?

नियमश्चोपपद्यते, कथम् ?

विष्टं ह्यपरं परेण ? ॥ ६६ ॥

पृथिव्यादीनां पूर्वंपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टम्, अतः संसर्गान्नियम इति । तच्चैतद् भूतसृष्टौ वेदितव्यम्, नैतर्हीति ? ॥ ६६ ॥

न; पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६७ ॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे । कस्मात् ? पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात् । 'महत्त्वानेकद्रव्यत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिः' (वै. सू. ४.१.६) इति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात्, न पार्थिवमाप्यं वा; रूपाभावात् । तैजसवत्तु पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् न

सिद्धान्ती—अनेक गुणवाले भूतों का ग्रहण कैसे होता है ?

पूर्वपक्षी—सम्बन्ध से अनेक गुणों का ग्रहण हो जायेगा । जलादि के सम्बन्ध से पृथ्वी में रसादि गृहीत हो जाते हैं । इसी तरह अवशिष्ट के बारे में भी समझ लेना चाहिये ॥ ६५ ॥

सिद्धान्ती—तब-तो एक-एक वाला नियम बन नहीं पायगा जलादि संसर्ग का नियम न होने से यह कैसे बनेगा कि पृथ्वी में चार गुण (विषय) होते हैं, जल में तीन गुण होते हैं, तेज में दो गुण होते हैं, वायु में एक गुण होता है ?

पूर्वपक्षी—नियम भी उपपन्न हो सकता है । कैसे ?

पृथिव्यादि अबादि से सम्बद्ध है ? ॥ ६६ ॥

पृथिवी-आदि में पहला पहला भूत, अपने उत्तर उत्तर भूत से सम्बद्ध है । अतः सम्बन्ध से नियम बन सकता है । यह नियम विषयभूतसृष्टयादि के प्रतिपादक पुराणादि ग्रन्थों में स्पष्ट प्रतिपादित है, भले ही आज हम लोगों के ध्यान में न आवें ? ॥ ६६ ॥

इस मत का नैयायिक प्रत्याख्यान करते हैं—

पार्थिव और आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से (एकगुणवान् नहीं हैं) ॥ ६७ ॥

'न' इस पद से सूत्रकार पूर्वोक्त त्रिसूत्री से प्रतिपादित विषय का प्रत्याख्यान करते हैं । कैसे ? पार्थिव और आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से । तब तो महत्त्व से, अनेक द्रव्याश्रित होने से, और रूपवान् होने से उसी की उपलब्धि होती है, यों तैजस द्रव्य का तो प्रत्यक्ष हो जायेगा, परन्तु रूपवान् न होने से पार्थिव और आप्य द्रव्य का प्रत्यक्ष न हो

संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति। भूतान्तररूपकृतं च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते, नियमे वा कारणमुच्यतामिति।

रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवो रसः षड्विधः, आप्यो मधुर एव, न चैतत्संसर्गाद्भवितुमर्हति।

रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः। संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपं न व्यङ्ग्यमस्तीति। एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् रूपयोः। पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपम्, आप्यं तु शुक्लमप्रकाशकम्। न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यते इति। उदाहरणमात्रं चैतत्। अतः परं प्रपञ्चः।

स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्श उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षः, न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गेणोपपद्यत इति।

अथ वा—पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वात्। चतुर्गुणं

सकेगा। तेज के सदृश ही पृथ्वी जल का प्रत्यक्ष होने से इतर संसर्गप्रयुक्त उनका प्रत्यक्ष मानना उचित नहीं है। तब आप का यह सिद्धान्त कहाँ रह जायेगा कि सम्बन्ध से भूतों में अनेक विषयों का ग्रहण हो जाता है! यदि उक्त पार्थिव या आप्य द्रव्य के प्रत्यक्ष को भूतान्तररूपजन्य मानोगे तो इस नय से वायु का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा। यदि कोई इसके लिये प्रतिवन्धकनियम वनाते हो तो उसमें कोई हेतु वताना चाहिये।

अथवा—'पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्' का व्याख्यान 'रस' तथा 'रूप' आदि का अध्याहार करके यों करना चाहिये—पार्थिव तथा आप्य रस के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव रस छह प्रकार का है, जव कि आप्य रस मधुर ही होता है, यह सम्बन्ध से नहीं वन सकता।

अथवा—तैजस रूप से अनुगृहीत पार्थिव तथा आप्य रूप का प्रत्यक्ष होने से। तैजस सम्बन्ध मानने पर रूप व्यञ्जक ही होगा, व्यङ्ग्य नहीं। पार्थिव तथा आप्य रूपों का अनेक तथा एक प्रकार भेद से प्रत्यक्ष होने से भी उसका प्रत्यक्ष संसर्गप्रयुक्त नहीं है। पार्थिव रूप हरा, लाल, पीला आदि अनेक प्रकार का है, जव कि आप्य रूप एक अप्रकाशक शुक्ल ही होता है। यह वात गुणान्तर का सम्बन्ध मानने पर कैसे वनती! यह उदाहरणमात्र दिखा दिया है। आगे इसी वात को विस्तार से समझा रहे हैं।

अथवा—पार्थिव तथा तैजस स्पर्श के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव स्पर्श अनुष्णाशीत है, जब कि तैजस स्पर्श उष्ण प्रत्यक्ष होता है। यह बात एक गुणवाले अन्य द्रव्यों का अनुष्णाशीतस्पर्श वाली वायु के साथ सम्बन्ध मानने पर कैसे बनेगी!

अथवा—व्यवस्थित गुणवाले पार्थिव तथा आप्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से। पार्थिव

पार्थिवं द्रव्यमु, त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम्, तेन तत्कारणमनुमीयते तथाभूतमिति। तस्य कार्यं लिङ्गं कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति। एवं तैजसवायव्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् गुणव्यवस्थायाः तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति।

दृष्टश्च विवेकः—पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात्। पार्थिवं द्रव्यमबादिभिर्वियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते, आप्यं च पराभ्याम्, तैजसं च वायुना, न चैकैकगुणं गृह्यत इति। निरनुमानं तु 'विष्टं ह्यपरं परेण' (३.१.६६) इत्येतदिति, नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि।

यच्चोक्तम्—'विष्टं ह्यपरं परेणेति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतम्' इति? नियमकारणाभावादयुक्तम्[१]। दृष्टं च साम्प्रतमपरं परेण विष्टमिति वायुना च विष्टं तेज इति। विष्टत्वं संयोगः, स च द्वयोः समानः वायुना च विष्टत्वात् स्पर्शवत्तेजः, न तु तेजसा विष्टत्वाद् रूपवान् वायुरिति नियमकारणं नास्तीति।

द्रव्य चतुर्गुण प्रसिद्ध है, जब कि आप्य द्रव्य त्रिगुण ही, इस व्यवस्थित गुणकार्य से व्यवस्थितगुण वाले कारण का अनुमान करते हैं। इस अनुमान का हेतु वह कार्य ही है, क्योंकि कारण न होने से ही कार्य नहीं होता है। इसी प्रकार, तैजस तथा वायव्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने के कारण गुणव्यवस्था से कार्यव्यवस्था का अनुमान होता है।

पार्थिव और आप्य पृथक्-पृथक् देखा गया है। पार्थिव द्रव्य का प्रत्यक्ष जलादि से रहित होने पर भी होता है, इसी तरह जलीय द्रव्य तेज तथा वायु से रहित भी प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, और तैजस द्रव्य वायु से रहित स्वतन्त्रतया प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। उस समय ये एक एक गुण वाले गृहीत नहीं होते हैं। आप का यह कहना तो निरनुमान ही है कि 'पृथिव्यादि अवादि से व्याप्त हैं' (३.१.६६)। क्योंकि यहाँ हमें ऐसा कोई अनुमापक हेतु नहीं मिलता, जिससे आप की बात से हम सहमत हो सकें।

तथा आप का यह कहना भी अयुक्त ही है कि 'पृथिव्यादि अवादि से व्याप्त हैं, यह बात भूतसृष्टिप्रतिपादक पुराणों में प्रतिपादित है, भले ही आज कल हम लोगों के ध्यान में न आवें'; क्योंकि यहाँ भी आपने कोई नियमसेतु नहीं दिखाया। आज भी हम अपर (तेज) को दूसरे (वायु) से विष्ट (संयुक्त) देखते हैं, जैसे—तेज वायु से संयुक्त है। विष्टत्व का अर्थ है 'संयोग'। वह तो दोनों का समान ही है। तथा वायु से संयुक्त होने से तेज स्पर्शवान् है, परन्तु तेज से संयुक्त होने पर भी वायु रूपवान् नहीं बनती—इसमें नियमहेतु नहीं है। यह भी हम देखते हैं कि तैजस उष्ण स्पर्श से

---

१. नियमः 'गन्ध एव पृथिव्याम्' इत्येवमादिः, तस्य कारणं प्रमाणं नास्ति; तद्बाधकस्यैव प्रमाणस्योक्तत्वात्। तस्माद् भूतसृष्टिः कथञ्चिदुपचारतो व्याख्येयेति तात्पर्यटीकायां मिश्राः।

दृष्टं च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्य स्पर्शस्याभिभवादग्रहणमिति, न च तेनैव तस्याभिभव इति ॥ ६७ ॥

तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य 'न सर्वगुणानुपलब्धेः' (३.१.६४) इति चोदितं समाधीयते—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् ॥ ६८ ॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः । घ्राणादीनां पूर्वं पूर्वं गन्धादेर्गुणस्योत्कर्षात्तत्तत् प्रधानम् । का प्रधानता ? विषयग्राहकत्वम् । को गुणोत्कर्षः ? अभिव्यक्तौ समर्थत्वम् । यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणव्यञ्जकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम् । एवं घ्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणग्राहकत्वम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकत्वम् । तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति ।

यस्तु प्रतिजानीते—'गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमेवं रसनादिष्वपि' इति ? तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं प्रसज्यत इति ॥ ६८ ॥

वायव्य (अनुष्णाशीत) स्पर्श अभिभूत हो जाता है, परन्तु वायव्य स्पर्श से ही वायव्य स्पर्श का अभिभव हमें नहीं मिला ॥ ६७ ॥

इस रीति से, न्यायविरुद्ध संवाद का खण्डन कर, पूर्वपक्षी 'सब गुणों की उपलब्धि न होने से नहीं' (३. १. ६४) उक्ति का समाधान कर रहे हैं—

पूर्व पूर्व (गुण) के उत्कर्ष से वह वह प्रधान होता है ॥ ६८ ॥

इस लिये सब गुणों की उपलब्धि नहीं हो पाती । घ्राणादि इन्द्रियों में पूर्व पूर्व गन्धादि गुण का उत्कर्ष होने से उस उस गुण से वह इन्द्रिय प्रधान है । यह प्रधानता है—'विषयग्राहकत्व' । तथा गुणोत्कर्ष है—'अभिव्यक्ति में सामर्थ्य' । जैसे क्रमशः चार गुणवाले, तीन गुणवाले, तथा दो गुणवाले बाह्य पार्थिव, आप्य, तैजस का सर्वगुण-व्यञ्जकत्व नहीं होता; अपितु क्रमशः गन्ध, रस, रूप के उत्कर्ष से गन्ध, रस और रूप व्यञ्जक होता है । उसी प्रकार चार गुण, तीन गुण तथा दो गुण वाली घ्राण, रसन, तथा चक्षु इन्द्रियाँ भी सब विषयों की ग्राहक नहीं हैं, अपितु गन्ध, रस तथा रूप के उत्कर्ष से क्रमशः गन्ध, रस, तथा रूप की ही ग्राहक हैं । अतः घ्राणादि एक एक इन्द्रिय से सब विषयों की उपलब्धि नहीं होती ।

जो यह प्रतिज्ञा करता है कि—'गन्ध गुण होने से घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है', इसी तरह रसनेन्द्रिय के विषय में प्रतिज्ञा करता है, उसको यथागुणसम्बन्ध से तत्तद्विषय का ग्रहण प्रसक्त होता है; हमारे मत में नहीं ॥ ६८ ॥

किंकृतं पुनर्व्यवस्थानम्—किञ्चित् पार्थिवमिन्द्रियं न सर्वाणि, कानिचिदाप्य-तैजसवायव्यानि इन्द्रियाणि न सर्वाणीति ?

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६९ ॥

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितः 'भूयस्त्वम्' । दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते । यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वं सर्वार्थम्; एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्वर्त्यन्ते, न सर्वविषयग्रहणसमर्थानीति ॥ ६९ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि । कस्मादिति चेत् ?

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७० ॥

स्वान् गन्धादीन्नोपलभन्ते घ्राणादीनि । केन कारणेनेति चेत् ? स्वगुणैः सह घ्राणादीनामिन्द्रियभावात् । घ्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति, तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिवैकल्यान्न भवति । एवं शेषाणामपि ॥ ७० ॥

यह व्यवस्था कैसे बन गयी कि कोई इन्द्रिय ही पार्थिव है सब इन्द्रियाँ नहीं, या कोई इन्द्रिय ही आप्य है, कोई इन्द्रिय ही तैजस है, कोई इन्द्रिय ही वायव्य है, सब नहीं ?

उस द्रव्य का भूयस्त्व (प्रकृष्टत्व) होने से ऐसी व्यवस्था बन जाती हैं ॥ ६९ ॥

पुरुष के कर्मविशेष से किया गया, कार्योत्पत्ति में समर्थ, प्रविभक्त द्रव्य के संसर्ग को 'भूयस्त्व' कहते हैं । प्रकर्ष अर्थ में 'भूयस्त्व' का प्रयोग देखा जाता है, जैसे—प्रकृष्ट विषय को 'भूयान्' कह देते हैं । यथा—पुरुषसंस्कारवश से विषौषधि, मणि-आदि द्रव्य पृथक्-पृथक् क्रिया करने में समर्थ उत्पन्न होते हैं । अतएव सब द्रव्य सभी क्रिया नहीं कर सकते । इसी प्रकार, अलग-अलग विषय को ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, न कि सब विषयों को ग्रहण करने में समर्थ ॥ ६९ ॥

शङ्का—इन्द्रियाँ स्वगुणों को उपलब्ध नहीं करतीं; क्योंकि

उनका इन्द्रियत्व स्वविषयसहित होता है ॥ ७० ॥

घ्राणादि इन्द्रियाँ स्वविषय गन्धादि को ग्रहण नहीं करतीं; क्योंकि स्वविषयों के साथ मिलकर घ्राणादिकों में 'इन्द्रियत्व' आता है । घ्राण अपने समानार्थकारी गन्ध के साथ होकर बाह्य गन्ध को ग्रहण करता है । उसका स्वगन्धग्रहण सहकारिकारण के असम्बन्ध से नहीं बनता । इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिए ॥७०॥

यदि पुनर्गन्धः सहकारी च स्याद्, घ्राणस्य ग्राह्यश्च ? इत्यत आह—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७१ ॥

न गुणोपलब्धिरिन्द्रियाणाम्। यो ब्रूते-यथा बाह्यं द्रव्यं चक्षुषा गृह्यते तथा तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्यतामिति, तादृगिदम्; तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति ॥ ७१ ॥

न, शब्दगुणोपलब्धेः ? ॥ ७२ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति एतन्न भवति। उपलभ्यते हि स्वगुणः शब्दः श्रोत्रेणेति ? ॥ ७२ ॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७३ ॥

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रियं भवति, न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः। न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षम्, नाप्यनुमीयते। अनुमीयते तु श्रोत्रेणाकाशेन शब्दस्य ग्रहणम्, शब्दगुणत्वं च आकाशस्येति। परिशेषश्चानुमानं वेदितव्यम्। आत्मा तावत् श्रोता न करणम्, मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः,

---

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि यदि गन्ध को सहकारी भी मान लें और घ्राणेन्द्रिय का ग्राह्य भी मान लें ?

उसी से उसका ग्रहण न होने से ॥ ७१ ॥

इन्द्रियों से स्वगुणोपलब्धि नहीं होती, क्योंकि जैसे कोई कहे—'यथा बाह्य द्रव्य चक्षु से गृहीत होता है उसी तरह उसी चक्षु से वह चक्षु गृहीत हो जायेगी', ऐसी ही बात यह हुई। मतलब कहने का यह है कि दोनों ही जगह ज्ञान के हेतु का अभाव समान है ॥ ७१ ॥

ऐसा नहीं; क्योंकि शब्द गुण श्रोत्र से उपलब्ध होता है ? ॥ ७२ ॥

'इन्द्रियां अपने गुणों को उपलब्ध नहीं करतीं'—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा स्वगुण शब्द गृहीत होता देखा जाता है ? ॥ ७२ ॥

इतरेतर द्रव्य के गुणवैधर्म्य से उसकी उपलब्धि होती है ॥ ७३ ॥

शब्द गुण से सगुण होकर आकाश इन्द्रिय (शब्दाभिन्न गुण सहित) नहीं हैं; क्योंकि शब्द शब्द का व्यञ्जक नहीं होता। घ्राणादि का भी स्वगुण प्रत्यक्ष नहीं होता, और न उनका अनुमान होता है। श्रोत्ररूप आकाश से शब्दग्रहण का अनुमान अवश्य होता है, और तब यह भी अनुमान होता है कि शब्द आकाश का गुण है। यहाँ कौनसा अनुमान है ? परिशेष अनुमान समझना चाहिये। अनुमानप्रकार दिखाते हैं—'आत्मा श्रोता है, श्रोत्र नहीं; मन को श्रोत्र मानने पर दुनियाँ में कहीं बहरापन रह ही न जायेगा;

पृथिव्यादीनां घ्राणादिभावे सामर्थ्यं श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम् । अस्ति चेदं श्रोत्रम्, आकाशं च शिष्यते । परिशेषादाकाशं श्रोत्रमिति[1] ॥ ७३ ॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

[अथ द्वितीयमाह्निकम्]

बुद्धेरनित्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१-९]

परीक्षितानीन्द्रियाणि अर्थाश्च । बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः—सा किमनित्या ? नित्या वेति ?

कुतः संशयः ?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥

अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ, विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्ययश्च यथास्वमनित्यनित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते, तेन संशय इति ॥ १ ॥

अनुपपन्नः खल्वयं संशयः । सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीया अनित्या बुद्धिः सुखादिवत् । भवति च संवित्तिः–ज्ञास्यामि, जानामि, अज्ञासिषमिति; न

पृथिव्यादि में घ्राणादि इन्द्रियों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य हैं, श्रोत्रेन्द्रिय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं । यह श्रोत्र फिर है अवश्य; अतः अवशिष्ट रहने से भाव मानने पर परिशेषात् अनुमान होता है कि आकाश ही श्रोत्र हैं ॥ ७३ ॥

वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य (सहित न्यायदर्शन) के तृतीय अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

इन्द्रिय तथा उनके विषयों की परीक्षा की जा चुकी । अब बुद्धि की परीक्षा आरम्भ करते हैं—वह बुद्धि नित्य है, या अनित्य ?

यह संशय क्यों हुआ ?

कर्म तथा आकाश के सादृश्य से यहाँ संशय हुआ ॥ १ ॥

कर्म तथा आकाश का अस्पर्शवत्त्व बुद्धि में भी समान रूप से मिलता है । इस बुद्धि में अनित्य के उत्पत्तिविनाशधर्मवत्त्व तथा नित्य के उत्पत्तिविनाशधर्माभाववत्त्व–दोनों ही नहीं मिलते, अतः संशय होता हैं ॥ १ ॥

शंका—यह संशय युक्त नहीं है; क्योंकि सभी प्राणियों को बुद्धि का अनित्यत्व प्रत्यात्मवेदनीय होने से सुखादि की तरह अनित्य ही है । जैसे—'जानूँगा' 'जानता हूँ' 'जानता था' यह त्रैकाल्ययुक्त संवेदन भी उत्पत्ति विनाश के विना कैसे होगा ! अतः सिद्ध होता है कि बुद्धि द्वारा त्रैकाल्याभिव्यक्ति होने से बुद्धि अनित्य है । यह प्रमाणसिद्ध

---

१. अत्रत्यं वार्तिकं मननीयं जिज्ञासुभिः ।

चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिः, ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत्सिद्धम्। प्रमाणसिद्धं चेदं शास्त्रेऽप्युक्तम्–'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्', 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इत्येवमादि, तस्मात्संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति ?

दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं तु प्रकरणम्।

एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः–पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिरिति। साधनं च प्रचक्षते—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम् ? 'यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामि' इति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। एतच्चावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम्। नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः; नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिजानातीति ॥ २ ॥

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यम् एवं प्रत्यभिज्ञानमपीति। किं कारणम् ? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः। पुरुषधर्मः खल्वयम्—ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः

अनित्यता शास्त्र में पीछे कह आये हैं—'इन्द्रिय-अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान (बुद्धि') (१.१.४) तथा 'युगपज्ज्ञानानुत्पाद ही मन का हेतु है' (१.१.१६)। इन प्रमाणों से ज्ञान की अनित्यता स्पष्ट सिद्ध है। अतः संशय नहीं बनेगा ?

समाधान—सांख्यमत के प्रौढिवाद का उपालम्भ (तिरस्कार) करने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है। साङ्ख्यमतानुयायी ऐसा मानते हैं—'पुरुष की मनोरूप बुद्धि अविनाशिनी है'। इसमें कारण बतलाते हैं—

विषय का प्रत्यभिज्ञान होने से ॥ २ ॥

यह प्रत्यभिज्ञान क्या है ? 'जिस अर्थ को मैं पहले जानता था, उसी अर्थ को अब जान रहा हूँ'—इस तरह दो ज्ञानों का समान अर्थ में प्रतिसन्धिज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है। यह अवस्थित (नित्य) बुद्धि में ही उपपन्न हो सकता है। उत्पन्नविनाशी नाना बुद्धिभेद मानने पर यह प्रत्यभिज्ञान नहीं बनेगा; क्योंकि अन्य द्वारा ज्ञात को अन्य कैसे स्मरण करेगा ! ॥ २ ॥

सांख्यमत-निराकरण—

साध्यसम होने से यह (प्रत्यभिज्ञान) हेतु हेत्वाभास है ॥ ३ ॥

जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है, इसी तरह प्रत्यभिज्ञान भी साध्य है। कारण, चेतन धर्म का अन्तःकरण में सम्भव नहीं है। यह सब—ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि,

प्रत्ययोऽध्यवसाय इति। चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति, तस्यैतस्माद् हेतोर्नित्यवं युक्तमिति। करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयं नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं शक्यमस्तीति प्रतिपत्तुम्। ज्ञानं चेद् बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते, चेतनस्येदानीं किं स्वरूपम्, को धर्मः, किं तत्त्वम्? ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः किं करोतीति?

चेतयते इति चेत्? न ज्ञानादर्थान्तरवचनम्। पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानातीति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते। चेतयते, जानीते, बुध्यते, पश्यति, उपलभते—इत्येकोऽयमर्थ इति। बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेत्? अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति सत्यमेतत्। एवं चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति, न बुद्धेरन्तःकरणस्येति।

प्रतिपुरुषं च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम्। यश्च प्रतिजानीते—'कश्चित् पुरुषश्चेतयते, कश्चिद् बुध्यते, कश्चिदुपलभते, कश्चित् पश्यति' इति? पुरुषान्तराणि खल्विमानि—चेतनो बोद्धोपलब्धा द्रष्टेति, नैकस्यैते धर्मा इति, अत्र कः प्रतिषेधहेतुरिति?

बोध, अध्यवसाय, प्रत्यय—पुरुष-धर्म हैं! चेतन ही पूर्व ज्ञात अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करता है, अतः उस चेतन का नित्यत्व तो युक्त है; पर अन्तःकरण-धर्म को चैतन्य मानोगे तो उसका चेतनस्वरूप बतलाना पड़ेगा। अस्मदभिमत आत्मा से भिन्न अदर्शितलक्षणक अन्य चेतन का प्रतिपादन करना असम्भव है। बुद्धि या मन को ही यदि ज्ञान हो जाता है तो अब चेतन का क्या स्वरूप, धर्म या तत्त्व रह जायेगा? तथा ज्ञान का बुद्धि में ही सम्भव होने पर यह चेतन क्या करेगा?

यदि 'चेतना को करता है'—यह कहो तो ज्ञान तथा चेतना तो पर्यायमात्र है। 'पुरुष चेतना देता है, बुद्धि ज्ञान करती है' यह ज्ञान से अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा रहा। 'चेतना देता है, जानता है, बोध करता है, देखता है, अवगत करता है'—ये सब पर्याय एक ही बात को बतलाते हैं। यदि यह कहो कि 'बुद्धि चेतन को जानती है' तो ठीक है, पुरुष जानता है, बुद्धि प्रेरणा देती है तो आखिर यह ज्ञान किसमें सिद्ध हुआ? पुरुष में, न कि आप के कथनानुसार मन या बुद्धि में!

प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न शब्दों की व्यवस्था प्रतिज्ञात करोगे तो एक का दूसरे में प्रतिषेध-हेतु बतलाना पड़ेगा। जो यह प्रतिज्ञा करता है कि कोई पुरुष चेतना करता है, कोई बोध करता है, कोई प्राप्त करता है, कोई देखता है तो उसके मत में ये सब भिन्न भिन्न पुरुष हैं—चेतन, बोद्धा, उपलब्धा, द्रष्टा आदि; एक ही पुरुष के ये सब धर्म नहीं हैं, यहाँ प्रतिषेधहेतु दिखाने की आवश्यकता है?

अर्थस्याभेद[1] इति चेत् ? समानम्। अभिन्नार्था एते शब्दा इति तत्र व्यवस्थानुपपत्तिरित्येवं चेन्मन्यसे ? समानं भवति। पुरुषश्चेतयते, बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते; तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति। यदि पुनर्बुध्यतेऽननेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते, तच्च नित्यम् ? अस्त्येतदेवम्, न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वम्। दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानम्—'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्' इति चक्षुर्वत् प्रदीपवच्च—प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति। तस्माद् ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति ॥ ३ ॥

यच्च मन्यते—बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति, तच्च

न; युगपदग्रहणात् ॥ ४॥

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति यानी-

---

यदि यह कहो कि—'चेतयते' 'बुद्धचते' इत्यादि का अर्थभेद होने के कारण, एक ही ज्ञाता के कर्ता होने पर उक्त प्रयोग की व्यवस्था उपपन्न नहीं होगी, अतः उस एक का ही सत्र के साथ सम्बन्ध उचित नहीं ? तो यह बात आप के पक्ष में भी समान ही है, क्योंकि आप भी जब यह कहते हैं कि 'बुद्धि जानती है' तो बुद्धि तथा ज्ञान एक ही चीज हैं, तब उस का सम्बन्ध उसी में कैसे होगा ? एक बात और ! जब आप कहते हैं कि 'पुरुष चेतना देता है, बुद्धि जानती है' तो ये पुरुष और बुद्धि—दोनों ही चेतन हैं। अतः एक चेतन का आप के मत में विनाश मानना पड़ेगा।

यदि यह व्युत्पत्ति करोगे कि 'जिससे जाना जाये वह बुद्धि है' तो यह मन हो गया, और मन नित्य है ? ठीक है, परन्तु विषयप्रत्यभिज्ञानसमवायिता के कारण वह नित्य नहीं है। क्योंकि लोक में करण (इन्द्रिय) का भेद होने पर भी एक ज्ञाता के देखे जाने से उसी को प्रत्यभिज्ञान होता है, जैसे—बायीं आँख से देखे गये का ही दाहिनी आँख से देखा जाने पर प्रत्यभिज्ञान होता है। अथवा—एक दीप से देखा जाने के बाद दूसरे दीप से वही चीज देखी जाने पर प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः यह प्रत्यभिज्ञान ज्ञाता के नित्यत्व का साधक है, मन के नित्यत्व का नहीं ॥ ३ ॥

जो यह मानता है कि—बुद्धि के स्थिर (नित्य) रहते हुए ही विषयानुसार वृत्तियाँ (ज्ञान) उसमें से निकलती रहती हैं; यह वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं है ?

युगपद् ग्रहण न होने से ऐसा नहीं कह सकते ॥ ४ ॥

यदि वृत्ति और वृत्तिमान्–दोनों का अभेद मानोगे तो वृत्तिमान् के स्थिर रहते वृत्तियाँ

---

१. अर्थस्य भेदः—इति पाठा०।

मानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यत इति ॥ ४ ॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते, विपर्यये च नानात्वमिति ॥ ५ ॥

अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः सम्प्रयुज्यत इति—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थानाम्। वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति। एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति ॥ ६ ॥

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥

अप्रत्यभिज्ञानम् = अनुपलब्धिः। अनुपलब्धिश्च कस्यचिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनस्युपपद्यते; वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वात्। एकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति ॥ ७ ॥

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः—

भी स्थिर रहेंगी, तब जितने भी विषयज्ञान होंगे वे सब स्थिर हो जायेंगे, फिर एक साथ सभी विषयों का ज्ञान प्रसक्त होने लगेगा ॥ ४ ॥

[वृत्ति तथा वृत्तिमान् के अभेद में एक और दूषण दिखा रहे हैं—]

अप्रत्यभिज्ञान में विनाश-प्रसक्ति होने लगेगी ॥ ५ ॥

प्रत्यभिज्ञान के अतीत (समाप्त) होने पर वृत्तिमान् भी अतीत हो जायेगा, तब अन्तःकरण का विनाश प्रसक्त होगा। वृत्ति का नाश होने पर भी प्रत्यभिज्ञान (अन्तःकरण) का अनाश—यों विपर्यय मानने पर मन का नानात्व प्रसङ्ग होने लगेगा ॥ ५ ॥

एक ही विनाशी मन कालभेद से इन्द्रियों के साथ संप्रयुक्त होता है, अतएव
क्रमवृत्ति होने से युगपज्ज्ञान नहीं हो पाता ॥ ६ ॥

इन्द्रियों के विषयों का। ज्ञान को अनेकता का कारण वृत्तिमान् का नानात्व मानना ही पड़ेगा; अन्यथा ज्ञान का प्रादुर्भाव तथा तिरोभाव कैसे होगा ! ॥ ६ ॥

[स्वमत में प्रत्यभिज्ञान का उपपादन करते हैं—]

मन के विषयान्तर में व्यासक्त होने से अप्रत्यभिज्ञान हो जाता है ॥ ७ ॥

अप्रत्यभिज्ञान से तात्पर्य है—अनुपलब्धि। यह अनुपलब्धि मन के विषयान्तर में व्यासक्त होने पर होती है; क्योंकि हम वृत्ति तथा वृत्तिमान् को नाना मानते हैं। एक मानने वाले के मत में भले ही उसका विषय में व्यासङ्ग होना निरर्थक रहे ! ॥ ७ ॥

मन को विभु मानने पर कालभेद से इन्द्रियों के साथ संयोग—

न; गत्यभावात् ॥ ८ ॥

प्राप्तानीन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद् ग्रहणानुपपत्तिरिति। गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद्ग्रहणं न लिङ्गान्तरेणानुमीयते इति। यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात् पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानेन प्रतीघाते सानुमीयत इति।

सोऽयं नान्तःकरणे विवादः, न तस्य नित्यत्वे। सिद्धं हि मनोऽन्तःकरणं नित्यं चेति। क्व तर्हि विवादः ? तस्य विभुत्वे। तच्च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः प्रतिषिद्धमिति।

एकं चान्तःकरणम्, नाना चैता ज्ञानात्मिका वृत्तयः—चक्षुर्विज्ञानं घ्राणविज्ञानं रूपविज्ञानं गन्धविज्ञानम्। एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वेऽनुपपन्नमिति। पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति—एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः[1]। विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य, नान्तःकरणस्येति। क्वचिदिन्द्रि-

---

गति न होने से नहीं (वनेगा) ॥ ८ ॥

'इन्द्रिय अन्तःकरण से सम्बद्ध होती हैं'—यह सम्बन्धानुकूलव्यापारार्थक गमन मन को विभु मानने पर उसमें नहीं वनेगा। तथा उसे विभु मानने पर, उसके क्रमवृत्ति न होने से युगपज्ज्ञान होने लगेगा। यों, गत्यभाव से प्रतिसिद्ध मनःसाधक युगपज्ज्ञानानुत्पाद हेतु का लिङ्गान्तर से अनुमान नहीं हो सकता। एक ही समय में दूर एवं समीप में वर्तमान वस्तु का चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है, पर मध्य में हाथ का व्यवधान होने पर प्रतीघात हो जाने से चन्द्रपर्यन्त से चक्षु की गति अवरुद्ध होने का अनुमान होता है।

यह विवाद अन्तःकरण की सत्ता पर, या उसके नित्यत्व पर नहीं है, मन का अन्तःकरणत्व तथा नित्यत्व तो सिद्ध ही है। फिर विवाद किस वात पर है ? उसके विभुत्व मानने पर। उस (विभुत्व) के वारे में कोई प्रमाण न मिलने से वह निरस्त होता है।

साङ्ख्यसम्मत वृत्ति-वृत्तिमान् का एकत्वसिद्धान्त यों भी अनुपपन्न है—अन्तःकरण एक है और चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान, रूपविज्ञान तथा गन्धविज्ञान आदि वृत्तियाँ अनेक हैं; तब यह भेद वृत्ति तथा वृत्तिमान् के अभेद में कैसे होगा ! यह तो ठीक है कि पुरुष ज्ञाता है न कि अन्तःकरण, अतः विषयान्तर-व्यासङ्ग वाला हमारा उत्तर खण्डित हो सकता है; क्योंकि 'विषयान्तरव्यासङ्ग' से तात्पर्य है—विषयान्तरज्ञान, वह पुरुष को ही वन सकता

---

१. पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति हेतुना। अन्तःकरणस्येति शेषः। व्यासक्तो हि स भवति यो जानीते, नान्तःकरणं जानीतेऽतो न व्यासक्तम्।

येण सन्निधिः, क्वचिदसन्निधिः—इत्ययं तु व्यासङ्गोऽनुज्ञायते मनस इति ॥ ८॥

एकमन्तःकरणं नाना वृत्तय इति सत्यभेदे वृत्तेरिदमुच्यते—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानो यथा द्रव्यान्तरोपहिते स्फटिकद्रव्ये अन्यत्वाभिमानः–नीलो लोहित इति, एवं विषयान्तरोपधानादिति ?

न; हेत्वभावात् । स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणो न पुनर्गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदिति–हेतुर्नास्ति, हेत्वभावादनुपपन्न इति । समानो हेत्वभाव इति चेत् ? न; ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनात् । क्रमेण हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते । तस्माद् गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमान इति ॥ ९ ॥

क्षणभङ्गपरीक्षाप्रकरणम् [१०–१७]

'स्फटिकान्यत्वाभिमानवद्' इत्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह—

है, अन्तःकरण को नहीं; परन्तु कहीं इन्द्रिय के साथ सन्निधि तथा कहीं असन्निधि—इस तरह का विषयान्तर-व्यासङ्ग तो मन में भी अनुज्ञात है ही ॥ ८ ॥

शंका—वस्तुतः अभेद होने पर भी 'अन्तःकरण एक है, वृत्तियाँ नाना हैं'—यह इसलिए कह दिया जाता है कि—

स्फटिकान्यत्व के आरोप की तरह उस वृत्ति में अन्यत्व का आरोप है ? ॥ ९ ॥

उस वृत्ति में नानात्व का आरोप कर लिया जाता है । जैसे नील-रक्तादि पुष्पों के पास रखे हुए एक ही स्फटिक द्रव्य में नानात्व का आरोप (भ्रम) होता है कि यह नील स्फटिक है, यह रक्त स्फटिक है; उसी तरह विषयान्तर के उपधान (अनुग्रह) से वृत्ति में नानात्व का आरोप है ?

उत्तर—उक्त दृष्टान्त में कोई हेतु न होने से ऐसा मानना उचित नहीं । 'स्फटिकान्यत्वाभिमान कीं तरह यह ज्ञानों में नानात्वाभिमान गौण (आहार्यारोप) है, गन्धाद्यन्यत्वाभिमान की तरह वास्तविक नहीं'—इस अनुमान में हेतु नहीं है । अतः हेतु न दिखाया जाने से यह अनुमान बनेगा ही नहीं ।

हेत्वभाव तो आपके पक्ष में भी है ? नहीं; क्योंकि अस्मदभिमत में ज्ञानों का क्रमशः उत्पत्तिविनाश लोक में प्रत्यक्ष है । इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष में क्रमशः ज्ञान उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं—यह लोक में वारंवार देखते हैं । अतः यह स्पष्ट है कि वृत्ति में नानात्वारोप गन्धाद्यन्यत्वाभिमान की तरह मुख्य ही है, आहार्यारोप नहीं ॥ ९ ॥

[अब सूत्रकार बौद्धमत से सांख्यमत में दूषण दिखाते हुए बौद्धों के प्रसिद्ध क्षणिकवाद के खण्डन का उपक्रम कर रहे हैं—] सूत्रोक्त 'स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्' इस हेतु को असहन करते हुए क्षणिकविज्ञानवादी (बौद्ध) कहते हैं—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥ १० ॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदान्नानात्वाभिमान इत्ययमविद्यमान-हेतुकः पक्षः । कस्मात् ? स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः । स्फटिकेऽपि अन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते, अन्या निरुद्ध्यन्त इति । कथम् ? क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम् । क्षणश्चाल्पीयान् कालः, क्षणस्थितिकाः = क्षणिकाः । कथं पुनर्गम्यते—क्षणिका व्यक्तय इति ? उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु । पक्तिनिर्वृत्तस्याहाररसस्य शरीरे रुधिरादिभावेनोपचयोऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्त्तते । उपचयाद् व्यक्तीनामुत्पादः, अपचयाद् व्यक्तिनिरोधः । एवं च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते इति । सोऽयं व्यक्तिविशेषधर्मो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति ॥ १० ॥

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ ११ ॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः । कस्मात् ? हेत्वभावात् । नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति । तस्माद् यथादर्शनम-

---

स्फटिक में दूसरे-दूसरे व्यक्तियों की उत्पत्ति होते रहने के कारण व्यक्तियों के क्षणिक होने से उक्त हेतु नहीं बनेगा ॥ १० ॥

'अभेदेन उपस्थित स्फटिक में अनुग्रहभेद से नानात्व का आरोप है' यह पक्ष (प्रतिज्ञात अर्थ) अविद्यमानहेतुक है; क्योंकि स्फटिक में भी क्षण-क्षण में दूसरे-दूसरे की उत्पत्ति है । अर्थात् प्रतिक्षण स्फटिक व्यक्ति उत्पन्न होती हैं, तो पहली निरुद्ध होती रहती हैं । कारण, व्यक्ति तो क्षणिक है । अल्पतर काल को 'क्षण' तथा क्षणभर स्थितिवाले को 'क्षणिक' कहते हैं । यह कैसे ज्ञात होता है कि व्यक्ति क्षणिक हैं ? शरीरादि में वृद्धि तथा ह्रास का प्रवाह देखा जाने से । जठराग्नि पाक से निष्पन्न रस से शरीर में रुधिरादिभाव की वृद्धि तथा ह्रास के प्रवाह से वृद्धि ह्रास देखे जाते हैं । वहाँ उपचय से व्यक्ति का उत्पाद कहलाता है तथा अपचय से व्यक्ति का निरोध । इस रीति से अवयवों में परिणति होते रहने से कालपरिपाकवश शरीर के वृद्धि या ह्रास गृहीत होते हैं । यह व्यक्तिविशेष में दिखाया गया निदर्शन स्फटिकादि सभी व्यक्तियों में समझना चाहिये । कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा (बौद्ध) मत स्वीकार कर लेने पर स्फटिकान्यत्व के आरोप की आवश्यकता न ही पड़ेगी, वहाँ तो क्षणिक सिद्धान्त से स्फटिकान्यत्व उपस्थित ही हैं ? ॥ १० ॥

आचार्य उत्तर देते हैं—

क्षणिकवाद का कोई नियमहेतु न होने से जहाँ जैसा देखें वहाँ वैसा अभ्यनुज्ञान कर लेना चाहिये ॥ ११ ॥

'सभी व्यक्तियों का उपचयापचयप्रबन्ध शरीर की तरह होता है'—ऐसा कोई नियम नहीं; क्योंकि इस नियम का साधक कोई हेतु नहीं है । इस नियम का प्रतिपादक न

भ्यनुज्ञा। यत्र यत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते, तत्र तत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते, यथा—शरीरादिषु। यत्र यत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते, यथा—ग्रावप्रभृतिषु। स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते। तस्मादयुक्तम्—स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति। यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्, तादृगेतदिति ॥ ११ ॥

यश्च—अशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकतां मन्यते, तस्यैतत्

न; उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १२ ॥

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते—अवयवोपचयो वल्मीकादीनाम्। विनाशकारणं चोपलभ्यते—घटादीनामवयवविभागः। यस्य त्वनपचितावयवं निरुध्यते अनुपचितावयवं चोत्पद्यते, तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वाऽपूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यते इति ॥ १२ ॥

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ? ॥ १३ ॥

कोई प्रत्यक्ष है, न अनुमान; अतः जहाँ जैसे देखें वैसा स्वीकार लेना चाहिये। जहाँ-जहाँ उपचयापचयप्रबन्ध देखें वहाँ-वहाँ व्यक्तियों के उपचयापचय से उनके उत्पाद-विनाश की कल्पना से यथाकथमपि अपर अपर व्यक्ति के उत्पत्ति-विनाश माने जा सकते हैं, जैसे—शरीरादि में; परन्तु जहाँ-जहाँ उपचयापचय न दिखायी दे वहाँ उक्त कल्पना का प्रत्याख्यान भी किया जा सकता है, जैसे—शिला आदि में। स्फटिक में भी अपर-अपर व्यक्ति के उत्पाद-विनाश की कल्पना अयुक्त ही है; अन्यथा यह बात तो वैसी ही होगी जैसे कोई पुरुष अर्क के कटुत्व का अनुभव करके सभी द्रव्यों को कटु समझने लगे ॥ ११ ॥

और जो वादी (बौद्ध) सर्वावयवनाश हेतु से पूर्वांश से असम्बद्ध वैसे अपूर्व उत्पाद को द्रव्यसन्तान-धारा में क्षणिकता को स्वीकार करता है, उसकी यह बात

उचित नहीं; उत्पत्ति तथा विनाश का कारण उपलब्ध होने से ॥ १२ ॥

(लोक में) वृद्धिरूप उत्पत्ति में कारण मिलता है, जैसे—वल्मीकादि का अवयवोपचय। अपचयरूप विनाश में भी कारण उपलब्ध होता है, जैसे—घटादि का अवयवशः विभाग। जिसके मत में अनपचितावयव द्रव्य विनष्ट तथा उपचितावयव द्रव्य उत्पन्न हो जाता है, उसके इस (सर्वावयवनाश तथा अपूर्व उत्पाद) मत के दोनों ही पक्षों का साधक कोई हेतु लोक में नहीं मिलता ॥ १२ ॥

शंका—

दूध के विनाश में कारणानुपलब्धि की तरह तथा दधि की उत्पत्ति की तरह (उपर्युक्त तथाविध) उत्पत्ति सिद्ध हो जायेगी ? ॥ १३ ॥

यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञायते, तथा स्फटिकेऽपरापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पादकारणं चाभ्यनुज्ञेयमिति ॥१३॥

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १४ ॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यते, अतो नानुपलब्धिः, विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु अपरापरोत्पत्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति[1] ॥ १४ ॥

अत्र कश्चित् परिहारमाह—

न पयसः परिणाम-गुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १५ ॥

पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह । परिणामश्च—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति ।

गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह । गुणान्तरप्रादुर्भावश्च–सतो द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यत इति । स खल्वेकपक्षीभाव इव ॥ १५ ॥

जैसे लोक में अनुपलभ्यमान क्षीरविनाश तथा दध्युत्पत्ति का कारण अभ्यनुज्ञात होता है, उसी तरह स्फटिक को अपर-अपर व्यक्तियों में उत्पत्तिविनाशकारण मान लेना चाहिये ? ॥ १३ ॥

उक्त विनाश तथा उत्पत्ति का लिङ्ग द्वारा ग्रहण होने से वहाँ कारण की अनुपलब्धि नहीं है ॥ १४ ॥

क्षीरविनाश का लिङ्ग तथा कारण, दध्युत्पत्ति का लिङ्ग तथा कारण प्रमाणों से गृहीत हैं, अतः वहाँ आप अनुपलब्धि नहीं कह सहते । इसके विपरीत, स्फटिकादि द्रव्यों में अपर-अपर व्यक्तियों की उत्पत्ति में कोई लिङ्ग नहीं है, अतः उनका अनुपपादन ही समझिये ॥ १४ ॥

यहाँ कोई (साङ्ख्यमतानुयायी) अपने मत से समाधान देते हैं—

दूध का यहाँ विनाश नहीं होता, अपितु परिणामाख्य गुणविशेष प्रादुर्भूत हो जाता है ॥ १५ ॥

दूध का परिणाम धर्मान्तरोत्पाद विनाश कैसे कहला सकता है—ऐसा एक साङ्ख्यमसानुयायी कहता है । 'परिणाम' कहते हैं—अवस्थित द्रव्य के पूर्व-धर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति हो जाना ।

दूसरा साङ्ख्यमतानुयायी कहता है—वहाँ गुणान्तर का प्रादुर्भाव हो जाता है । द्रव्य के विद्यमान रहते पुर्व-गुण की निवृत्ति हो कर गुणान्तर का उत्पादन होना—'गुणान्तरप्रादुर्भाव' कहलाता है । इन दोनों ही पक्षों में धर्मी के अविनाशवाली बात समान है, अवशिष्ट में एक वादी परिणाम मानता है तथा एक गुणान्तर का विनाश-प्रादुर्भाव ॥ १५ ॥

---

1. अत्रत्यं वार्त्तिकं जिज्ञासुभिरवश्यं ध्येयम् ।

अत्र तु प्रतिषेधः—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १६ ॥

सम्मूर्छनलक्षणादवयवव्यूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते, यथा—मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्तत इति। मृद्वच्चावयवान्वयः पयोदध्नोर्नाशेषनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटत इति ॥ १६ ॥

अभ्यनुज्ञाय चं निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादं च प्रतिषेध उच्यत इति—

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १७ ॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनामिति नायमेकान्त इति। कस्मात् ? हेत्वभावाद्। नात्र हेतुरस्ति—अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवत्; न पुनर्यथा विनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाशः,

---

उक्त साङ्ख्यमत का खण्डन—

व्यूहान्तर से द्रव्यान्तरोत्पत्ति का दिखायी देना पूर्व द्रव्य की निवृत्ति का अनुमान करा देता है ॥ १६ ॥

सम्मूर्छनलक्षणक अवयवव्यूह से दधिरूप द्रव्यान्तर के गृहीत होने पर, पहले का दुग्धद्रव्य अवयवों का विभाग (विनाश) होने से विनष्ट हो गया—ऐसा अनुमान होता है। जैसे मिट्टी के अवयवों के व्यूहान्तर से स्थालीरूप द्रव्यान्तर के उत्पन्न होने की दशा में पहले का मृत्पिण्ड द्रव्य, मृदवयवों के विभक्त होने से निवृत्त हुआ रहता है। मृत्तिका के अन्वय की तरह दूध-दही के अन्वय की स्थिति समझनी चाहिये। सम्पूर्णतया अन्वय (अवयव) के न रहने में द्रव्यान्तरोत्पाद होता है—ऐसा मानना उचित नहीं। अतः 'अवस्थित का द्रव्यान्तर परिणाम' वाला साङ्ख्यसिद्धान्त अयुक्त है ॥ १६ ॥

अथ च—निष्कारण क्षीरविनाश तथा दध्युत्पाद मान कर भी आप उसका प्रतिषेध करते हैं, यह भी उचित नहीं; क्योंकि—

विनाश-कारण की कहीं अनुपलब्धि तथा कहीं उपलब्धि होने से, यह नियम नहीं कहा जा सकता ॥ १७ ॥

स्फटिक व्यक्ति में, क्षीरदधि की तरह निष्कारण विनाश उत्पाद होते हैं—यह नियम (व्याप्ति) नहीं बन पाती, क्योंकि इसमें कोई हेतु नहीं है। यहाँ आप कोई हेतु नहीं बता सकते कि स्फटिक व्यक्ति में क्षीर, दधि की तरह अकारण ही विनाश-उत्पाद हो जाते हैं। और इस नियम को आप निराकृत भी नहीं कर सकते कि विनाशकारण

उत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिः। एवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारण-भावाद्विनाशोत्पत्तिभाव इति।

निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम्। गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः—क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद्, दध्युत्पत्तिवच्चेति, तौ तु न गृह्येते। तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्त इति।

अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ, योऽत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानाद-प्रतिषेधः। कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादीनामित्यभ्यनुज्ञेयोऽयं दृष्टान्तः; प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्। क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योऽयं प्रतिषेद्धुम्ः कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात्। क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्ती पश्यता तत्कारणमनुमेयम्। कार्यलिङ्गं हि कारणम् इत्युपपन्नम्—'अनित्या बुद्धिः' इति ॥ १७ ॥

बुद्धेरात्मगुणत्वपरीक्षाप्रकरणम् [१८-४१]

इदं तु चिन्त्यते—कस्येयं बुद्धिरात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां गुण इति प्रसिद्धोऽपि

उपस्थित होने पर घट का विनाश हो जाता है, उत्पत्तिकारण होने पर उसकी उत्पत्ति हो जाती है। इसी नियम से स्फटिक व्यक्ति में जब विनाश-उत्पाद के कारण उपस्थित होंगे तो उसके विनाश-उत्पाद हो जाते हैं।

क्षीरदृष्टान्त निराश्रय (निर्विषय) भी है। स्फटिकादि में विनाश-उत्पाद यदि गृहीत होते तो क्षीरविनाशकारणानुपलब्धि तथा दध्युत्पत्ति वाला दृष्टान्त सविषयक होता। स्फटिक में वे गृहीत नहीं होते, अतः यह दृष्टान्त निराश्रय ही है।

स्फटिक का उत्पाद-विनाश (कार्य) स्वीकार करके प्रकृति के साधक (कारण) की स्वीकृति की जा सकती है तो उसका अपरापर व्यक्ति की उत्पत्ति का अप्रतिषेध बनेगा! घट की तरह उत्पाद-विनाश निष्कारण नहीं हैं, अतः यह (घटवाला) दृष्टान्त स्वीकार करने में भी बाधा नहीं होनी चाहिये; क्योंकि इसका आप प्रतिषेध नहीं कर सकते। क्षीर-दधि की तरह निष्कारण विनाश-उत्पाद होते हैं, यह दृष्टान्त, कारण से विनाश-उत्पाद देखा जाने से प्रतिषिद्ध किया जा सकता है। क्षीर-दधि का विनाश-उत्पाद देखने वाला भी उसके कारण का अनुमान अवश्य कर लेगा, क्योंकि कारण कार्य का अनुमापक है। इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग से यह सिद्ध हो गया कि बुद्धि अनित्य है ॥ १७ ॥

अब इस पर विचार किया जा रहा है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा अर्थ—इनमें से बुद्धि किसका गुण है। यद्यपि इस विषय पर पहले (३.१.१) भी विचार किया जा

खल्वयमर्थः, परीक्षाशेषं प्रवर्त्तयामीति प्रक्रियते। सोऽयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः; विशेषस्याग्रहणादिति। तत्रायं विशेष :—

नेन्द्रियार्थयोः; तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १८ ॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानम्; तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात्। भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे—ज्ञानमद्राक्षमिति। न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति। अन्यत् खलु वै तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति। इदमन्यदात्ममनःसन्निकर्षजं तस्य युक्तो भाव इति। स्मृतिः खल्वियम्—'अद्राक्षम्' इति पूर्वदृष्टविषया। न च विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तम्, न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति। न च मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् ॥ १८ ॥

अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम् ?

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ १९ ॥

'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गम्' (१.१.१६), तत्र युगपज्ज्ञेया-

---

चुका है; परन्तु इसके विशेष परिज्ञान के लिए पुनः विचार प्रारम्भ कर रहे हैं। वुद्धि में आत्मा, इन्द्रिय, तथा अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है, अतः इन का यह गुण है—यह तो निश्चित हो गया; परन्तु इनमें से यह किस एक का गुण है—ऐसा विशेष ज्ञान नहीं होता—अतः संशय उपस्थित हो गया।

यहाँ विशेष वक्तव्य यह है—

इन्द्रिय तथा अर्थ का गुण बुद्धि नहीं है; क्योंकि उनके विनष्ट होने पर भी वह रहती है ॥ १८ ॥

वुद्धि इन्द्रियों या अर्थों का गुण नहीं है, क्योंकि उन इन्द्रियों तथा अर्थों के विनष्ट होने पर भी ज्ञान यथास्थित रहता है। इन्द्रिय तथा अर्थ के विनष्ट होने पर भी ऐसा होता है कि 'इसको मैंने देखा था', अन्यथा ज्ञाता के विनष्ट होने पर ज्ञान नहीं रहता ! वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान (चाक्षुष-आदि) दूसरा है, जो इन्द्रियार्थविनाश होने पर नहीं होता। परन्तु 'मैंने देखा था' यह आत्ममनःसन्निकर्षज ज्ञान दूसरा है, यह तो रह ही सकता है ; 'मैंने इसे देखा था' यह पूर्वदृष्टविषयक स्मृति है। विज्ञाता के नष्ट होने पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मरण युक्त नहीं; क्योंकि अन्य दृष्ट को अन्य कैसे स्मरण करेगा ? मन को ज्ञाता स्वीकार कर लिये जाने पर इन्द्रियार्थ को ज्ञाता वताना भी उचित नहीं ॥ १८ ॥

तो फिर मन को ही बुद्धि का गुण मान लें ?

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धि होने से बुद्धि मन का गुण नहीं है ॥ १९ ॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धि अन्तःकरण (मन) का अनुमापक है। युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिहेतु

नुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम्। कस्य तर्हि ? ज्ञस्य[1], वशित्वात्। वशी ज्ञाता, वश्यं करणम्, ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावादनुमीयते–अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति। तत्र यज्ज्ञानगुणं मनः स आत्मा, यत्तु सुखाद्युपलब्धि-साधनमन्तःकरणं मनस्तदिति संज्ञाभेदमात्रं नार्थभेद इति।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च योगिन इति वा चार्थः। योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान्युपलभते। तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्युपपद्यते, नाणौ मनसीति। विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नात्मगुणत्वप्रतिषेधः। विभु च मनस्तदन्तःकरणभूतमिति तस्य सर्वेन्द्रियै-र्युगपत्संयोगाद् युगपज्ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति ॥ १९॥

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ? ॥ २० ॥

से जिस मन का अस्तित्व सिद्ध करते हो, ज्ञान (बुद्धि) उसका गुण नहीं है तो किसका गुण है ? ज्ञाता का। ज्ञाता (आत्मा) स्वतन्त्र है, ज्ञानसाधन मन उस के अधीन हैं, यदि बुद्धि को मन का गुण माने तो मन का साधनत्व नष्ट हो जायेगा। जैसे घ्राणादि-साधन (इन्द्रिय) वाले पुरुष को गन्धादि का ज्ञान होता है उसी तरह अन्तःकरणसाधन वाले को सुखादि ज्ञान तथा स्मृति होती हैं—ऐसा अनुमान होता है। इस प्रकार मन के दो भेद हो गये ! उन में जो ज्ञानगुणवाला मन है, उसे आत्मा कह देते हैं, और जो सुखाद्युपलब्धि-साधन मन वह है अन्तःकरण है। यह नाम का ही भेद है, अर्थ का भेद नहीं। अर्थात् एक ज्ञाता ज्ञानगुणवान् है, तथा दूसरा ज्ञानसाधन है—यों, हम दोनों के पक्ष में समानता ही है। अन्तर इतना ही है कि जिस ज्ञाता को आप 'मन' कहते हैं, उसी को हम 'आत्मा' कहते हैं।

सूत्रस्थ 'च' से एक अर्थ यह भी निकलता है कि यदि ज्ञान को मन का गुण मानोगे तो अणु मन द्वारा योगी को जो युगपज्ज्ञेयोपलब्धि होती है वह असम्भव हो जायेगी। योगी योगज समाधि के प्रादुर्भूत होने पर साधारण जनों से विशिष्ट इन्द्रियों का इन्द्रिय-सहित शरीरान्तर का निर्माण करके उन से एक साथ अनेक ज्ञेयों का जान लेता है। यह बात ज्ञाता के विभु मानने पर बन सकती है, मन के अणु मानने पर नहीं। मन के विभु होने पर भी ज्ञान के आत्मगुण का प्रतिषेध नहीं बनता। विभु मन उस ज्ञाता का अन्तःकरण है, उसका सब इन्द्रियों के साथ युगपत् संयोग होने से युगपद् ज्ञान उत्पन्न होंगे ॥ १९ ॥

ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी बात वही रहेगी ? ॥ २० ॥

---

१. जानतीति ज्ञः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३.१.१३५) इति पाणिनिसूत्रेण सिद्धः, तस्य, ज्ञातुरित्यर्थः।

विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्त इति युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग इति ? ॥ २० ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निर्षवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्, तस्य चायौगपद्यमणुत्वान्मनसः । अयौगपद्यादनुत्पत्तिर्युगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति ॥ २१ ॥

यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते ?

न; उत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते'—नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते, येनैतत् प्रतिपद्येमहीति ॥ २२ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ? ॥ २३ ॥

'तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम्' इत्येतदनेन समुच्चीयते । द्विविधो हि गुणनाश-

---

विभु आत्मा सब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होगा तो युगपज्ज्ञानोत्पाद होने लगेगा ? ॥ २० ॥

उत्तर—

इन्द्रियों का मन के साथ सन्निकर्ष न होने से युगपज्ज्ञानोत्पाद नहीं होता ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धि का, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के कारण की तरह, इन्द्रियमनःसन्निर्ष भी कारण है । वह इन्द्रियमनःसन्निकर्ष एक साथ अनेक जगह नहीं हो सकता; क्योंकि मन अणु है । अयौगपद्य होने से ही, ज्ञान की युगपद् उत्पत्ति आत्मगुण मानने पर भी नहीं होगी ॥ २१ ॥

यदि 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ही गन्धादि ज्ञान हो जाता है, तो मन की कोई आवश्यकता नहीं'—ऐसा मान लें ?

उत्पत्तिकारण का प्रसङ्ग न होने से ऐसा नहीं मान सकते ॥ २२ ॥

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्र से ही गन्धादि ज्ञान उत्पन्न हो जाता है'—यह आप कह रहे हैं, परन्तु अभी ज्ञानोत्पत्ति के विचार का प्रसङ्ग नहीं, जिससे हम आपसे सहमत हो सकें ॥ २२ ॥

शंका—

ज्ञान के विनाशकारण की अनुपलब्धि से उस के सदा वर्तमान रहने पर उसमें नित्यता की प्रसक्ति होने लगेगी ? ॥ २३ ॥

यहाँ 'ज्ञान के आत्मगुण मानने पर भी यह बात तो बराबर है' (३.२.२०)—इस सूत्र का भी समुच्चय कर लेना चाहिये । गुणनाश के हेतु दो हो सकते हैं—१. या तो

हेतुः–गुणानामाश्रयाभावः, विरोधी च गुणः। नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः पूर्वः, विरोधी च बुद्धेर्गुणो न गृह्यते। तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः ?॥ २३ ॥

अनित्यत्वग्रहात् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्। गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते, यथा–शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति ॥ २४ ॥

असंख्येयेषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्मसमवेतेष्वात्ममनसोश्च सन्निकर्षे समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायौगपद्यमस्तीति युगपत्स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः, यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति ?

तत्र कश्चित् सन्निकर्षस्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्नाह—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ? ॥ २५ ॥

उन के आश्रय का अभाव हो जाये, २. या फिर उसका विरोधी गुण पैदा हो जाये। नित्य होने से आत्मा में पहला विकल्प तो बनेगा नहीं; तथा बुद्धि का कोई विरोधी गुण गृहीत नहीं होता, अतः बुद्धि को आत्मगुण मानने पर उसमें नित्यत्वप्रसङ्ग होने लगेगा ? ॥ २३ ॥

उत्तर—

बुद्धि के अनित्यत्वग्रहण से, बुद्ध्यन्तर से उसका विनाश हो जाता है, शब्द की तरह ॥ २४ ॥

'ज्ञान अनित्य है'—यह बात सभी प्राणियों को अनुभवसिद्ध है, प्रत्येक ज्ञान के पश्चात् ज्ञानधारा होती है, जैसे—पहले घटज्ञान हुआ, फिर 'इस घट को मैं जानता हूँ'—यह ज्ञान अथवा घटज्ञान ही प्रतिक्षण में उत्पन्न होते हैं—यों क्रम से ज्ञान होते चलते हैं। यह क्रमिक ज्ञान ही बुद्धि के बुद्ध्यन्तर गुण का विरोधी है—ऐसा अनुमान किया जाता है। जैसे शब्द-सन्तान में शब्द का शब्दान्तरविरोधी होता है ॥ २४ ॥

शङ्का—

स्मृतिहेतुक आत्मसमवेत असंख्य ज्ञानजनित संस्कारों एवं आत्ममनःसन्निकर्ष के समान रूप से स्मृतिहेतु होने पर कारण का अयौगपद्य नहीं है, अतः बुद्धि को आत्मगुण मानेंगे तो युगपत् स्मृतियाँ प्रादुर्भूत होने लगेगी ?

वहाँ कोई एकदेशी सन्निकर्ष के अयौगपद्य का उपपादन करने के लिए कहता है—

ज्ञानसमवेत आत्मप्रदेशसन्निकर्ष हेतु से मन द्वारा स्मृत्युत्पत्ति होने से युगपद् उत्पत्ति नहीं होगी ॥ २५ ॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमित्युच्यते, ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः सन्निकृष्यते। आत्ममनःसन्निकर्षात् स्मृतयोऽपि पर्यायेण भवन्तीति ? ॥ २५ ॥

न; अन्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते। तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे वर्तमानस्य मनसः शरीराद् बहिर्ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यत इति ॥ २६ ॥

साध्यत्वादहेतुः ? ॥ २७ ॥

विपच्यमानकर्माशयमात्रं जीवनम्, एवं च सति साध्यमन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति ॥ २७ ॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

सुस्मूर्षया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति, स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते। आत्ममनःसन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधः—धारकः, प्रेरकश्च। निःसृते च शरीराद् बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात् पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति ॥ २८ ॥

ज्ञानसाधन संस्कार 'ज्ञान' कहलाता है। ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेशों से मन क्रमशः सन्निकृष्ट होता है! इस पर्यायजनित आत्ममनःसन्निकर्ष से स्मृतियाँ भी पर्याय से ही होंगी ॥ २५ ॥

मन के अन्तःशरीरवृत्ति होने से ऐसा कहना युक्त नहीं ॥ २६ ॥

सदेह आत्मा से प्रारब्ध कर्मसहित मन का संयोग 'जीवन' कहलाता है। वहाँ, मृत्यु से पूर्व अन्तःशरीर में ही वर्तमान मन का शरीर से वाहर के आत्मप्रदेशों से संयोग उपपन्न नहीं होता ॥ २६ ॥

एकदेशी की शङ्का—

उक्त जीवनलक्षण स्वयं साध्य होने से हेतु नहीं बन सकता ? ॥ २७ ॥

विपच्यमान कर्माशयमात्र ही 'जीवन' है—ऐसा मानने पर मन का अन्तःशरीर-वृत्तित्व प्रमाणों से साधनीय है, अतः वह सिद्ध नहीं है ? ॥ २७ ॥

स्मरण करनेवाले का शरीरधारणोपपादन होने से निषेध युक्त नहीं ॥ २८ ॥

स्मरण करने की इच्छा से यह मन प्रणिधान करता हुआ वहुत काल के वाद भी किसी विषय का स्मरण कर ही लेता है, और वैसे स्मरणकर्ता को शरीरधारण किये हुए भी देखते है। आत्ममनःसन्निकर्षज प्रयत्न दो प्रकार का होता है—१. शरीर का धारक तथा २. प्रेरक। यों, शरीर से वाहर मन के निकल जाने पर धारकप्रयत्नाभाव से स्मरण करते हुए शरीर का गुरुत्व के कारण पतन होने लगेगा ॥ २८ ॥

न; तदाशुगतित्वान्मनसः ? ॥ २९ ॥

आशुगति मनः, तस्य बहिः शरीरात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृतेन सन्निकर्षः, प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनमुभयं युज्यते इति। उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निःसरणं मनसः; अतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति ? ॥ २९ ॥

न; स्मरणकालानियमात् ॥ ३० ॥

किञ्चित्क्षिप्रं स्मर्यते, किञ्चिच्चिरेण। यदा चिरेण, तदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्यचिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति। तत्रैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यत इति। शरीरसंयोगानपेक्षश्चात्ममनःसंयोगो न स्मृतिहेतुः; शरीरस्य भोगायतनत्वात्। उपभोगायतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरम्, न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तौ कल्पते, क्लृप्तौ वा शरीरवैयर्थ्यमिति ॥ ३० ॥

आत्मप्रेरण-यदृच्छाज्ञ-ताभिश्च न संयोगविशेषः ? ॥ ३१ ॥

आत्मप्रेरणेन वा मनसो बहिः शरीरात् संयोगविशेषः स्याद् यदृच्छया

मन के आशुगति होने से पतन नहीं होगा ? ॥ २९ ॥

मन शीघ्रगतिवाला है, उसका शरीर से बाहर ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेश से सन्निकर्ष होता है, तथा वह वापस लौटकर शरीरधारक प्रयत्न उत्पन्न करता है—यों दोनों क्रियाएँ उसमें सम्पन्न होती हैं। या धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके वह शरीर से बाहर निकलता है। इस रीति से, धारण उपपन्न होने से पतन नहीं बनेगा ? ॥ २९ ॥

स्मरणकाल का नियम न होने से (पतनप्रतिषेध) नहीं (हो सकता) ॥ ३० ॥

कोई बात जल्दी याद आ जाती है, कोई देर में। जब कोई बात देर में स्मरण आती है, उस स्मरण करने की इच्छा से धार्यमाण मन में चिन्तनप्रबन्ध के होने से हेतुभूत किसी अर्थ के विषय में किया गया चिन्तन स्मृतिहेतु होता है। इस स्थिति में यह दीर्घकालिक चिन्तन बाहर निकलनेवाले मन में नहीं बनेगा। ऐसा आत्ममनःसन्निकर्ष जो शरीरसंयोग की अपेक्षा न रखता हो, स्मृतिहेतु नहीं बन सकता; क्योंकि शरीर ही भोगायतन है। ज्ञाता पुरुष का उपभोगायतन शरीरमात्र है, इस में से मन के बाहर निकल जाने पर, आत्मसंयोगमात्र ज्ञान सुखादि की उत्पत्ति में हेतु नहीं कल्पित किया जा सकता है। यदि कल्पना कर भी लें तो उस शरीर का वैयर्थ्य ही होगा ॥ ३० ॥

'ज्ञानसमवेत' (३. २. २५) इत्यादि सूत्रोक्त एकदेशिमत को दूसरा एकदेशी खण्डित कर रहा है—

शरीर से बाहर संयोग आत्मप्रेरणा, यदृच्छा या ज्ञातृता से नहीं हो पाता ? ॥ ३१ ॥

मन का शरीर से बाहर के प्रदेश में संयोग या तो आत्मप्रेरणा से हो, या फिर

वाऽऽकस्मिकतया, ज्ञतया व मनसः ? सर्वथा चानुपपत्तिः। कथम् ? स्मर्तव्यत्वादिच्छातः स्मरणज्ञानासम्भवाच्च। यदि तावदात्मा–अमुष्यार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कारः अमुस्मिन्नात्मदेशे समवेतस्तेन मनः संयुज्यतामिति मनः प्रेरयति, तदा स्मृत एवासावर्थो भवति, न स्मर्तव्यः। न चात्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशः संस्कारो वा, तत्रानुपपन्नाऽऽत्मप्रत्यक्षेण संवित्तिरिति। सुस्मूर्षया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरादपि कञ्चिदर्थं स्मरति, नाकस्मात्। ज्ञत्वं च मनसो नास्ति, ज्ञानप्रतिषेधादिति ॥३१॥

एतच्च—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥ ३२ ॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद् देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति, तदाऽऽत्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं हि दुःखं दुःखवेदनं चेति तत्रायं समानः प्रतिषेधः। यदृच्छया तु न विशेषः, नाकस्मिकी क्रिया, नाकस्मिकः संयोग इति।

कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत् ? समानम्।

कर्मादृष्टं पुरुषस्थं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुः, एवं दुःखं दुःखसंवेदनं च

यदृच्छा से (अकस्मात्) हो, या मन की ज्ञातृता से हो—तीनों ही विकल्पों में उपपादन नहीं वनेगा। कैसे ? स्मर्तव्य होने से, या इच्छा द्वारा स्मरणज्ञान सम्भव न होने से। यदि आत्मा 'अमुक अर्थ का स्मृतिहेतु संस्कार अमुक आत्मप्रदेश में समवेत हुआ है, अतः उससे साथ जाकर मन संयुक्त हो'—ऐसी प्रेरणा मन को करता है तो वह अर्थ आत्मा द्वारा स्मृत ही है, स्मर्तव्य उसमें क्या रह गया ! और उक्त प्रेरणा भी अनुपपन्न है, क्योंकि आत्मप्रदेश तथा संस्कार आत्मप्रत्यक्ष हैं नहीं, अतः वहाँ आत्मप्रत्यक्ष से संवित्ति अनुपपन्न है। स्मरण करने की इच्छा से मन प्रणिधान करता हुआ वहुत देर में भी किसी अर्थ को स्मरण करता है, अकस्मात् नहीं। अतः दूसरा पक्ष भी अनुपपन्न है; क्योंकि मन में ज्ञानप्रतिषेध पहले प्रतिपादित किया जा चुका, अतः उस में ज्ञातृत्व अनुपपन्न है ॥३१॥

दूसरे एकदेशिमत का खण्डन—

और यह कथन—

व्यासक्तमना पुरुष के पादव्यथन द्वारा हुए संयोगविशेष के समान है ॥ ३२ ॥

जव यह अन्यासक्तचित्त पुरुष किसी जगह कंकड़ या काँटे से पैर में विंध जाता हैं, तव एक विशिष्ट आत्ममनःसंयोग मानना ही पड़ेगा; क्योंकि लोक में वैसा दुःख तथा दुःखानुभूति भी देखी जाती है। इसमें भी प्रतिषेध पहले जैसा ही है; क्योंकि यदृच्छा से यह संयोगविशेष नहीं होता, न यहाँ आकस्मिकी क्रिया ही होती है, न तथाभूत संयोग ही।

यदि वैसे संयोगविशेष में अदृष्ट कर्म ही उपभोग के लिये क्रिया का हेतु हो जायेगा ? तो यह वात स्मृतिहेतु मनःसंयोग में भी समान है। पुरुषस्थ अदृष्ट कर्म पुरुष के उप-

सिध्यतीत्येवं चेन्मन्यसे ? समानम् । स्मृतिहेतावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति । तत्र यदुक्तम्—'आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः' (३.२.३१) इति, अयमप्रतिषेध इति । पूर्वस्तु प्रतिषेधः 'नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः' (३.२.२६) इति ? ।। ३२ ।

कः खल्विदानीं कारणयौगपद्यसद्भावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति ?

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ।। ३३ ।।

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुः, एवं प्रणिधानं लिङ्गादिज्ञानानि, तानि च न युगपद्भवन्ति, तत्कृता स्मृतानां युगपदनुत्पत्तिरिति ।

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः[1] ।

यत्खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्त्तमुत्पद्यते, कदाचित्तस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः; हेत्वभावात् । सतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः । बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रबन्धे कश्चिदेवार्थः कस्यचित्स्मृतिहेतुः, तस्यानुचिन्तनात् तस्य स्मृतिर्भवति, न चायं स्मर्ता सर्वं स्मृतिहेतुं संवेदयते—'एवं मे

भोग के लिये मन में क्रियाहेतु बन जायेगा एवं सुखाद्युपभोग भी उसको प्राप्त होगा—ऐसा मानोगे ? तो हमारे मत में भी यही उत्तर है । अर्थात् स्मृतिहेतु में भी संयोगविशेष उस प्रकार हो सकता है । अतः वहाँ जो आपने प्रतिषेध दिया था कि—'आत्मप्रेरणा, यदृच्छा तथा ज्ञातृता से संयोगविशेष नहीं होता' (३.२.३१)—यह नहीं बनेगा । अपितु मन के 'अन्तःशरीरवृत्ति होने से शरीर के बाह्य प्रदेशों में उसका संयोग नहीं होता' (३.२.२६)—यह पहला प्रतिषेध ही बनेगा ।। ३२ ।।

शंका—स्मृतियौगपद्य के रहते अब कौन युगपद् स्मरण न होने में हेतु है ?

प्रणिधान, लिङ्गादि ज्ञान के अयुगपद्भाव से युगपत् स्मरण नहीं होता ।। ३३ ।।

जैसे आत्ममनःसन्निकर्ष तथा संस्कार स्मृतिहेतु हैं, उसी तरह प्रणिधान तथा लिङ्गादिज्ञान भी स्मृतिहेतु हैं । वे युगपद् उद्भूत नहीं होते; अतः तत्कृत स्मृतियाँ भी युगपत् उत्पन्न नहीं होती ।

प्रातिभ ज्ञान स्मृत्यनुरूप ही है, वह प्रणिधानादि के विना ही संस्कारसहित आत्म॰ मनःसंयोगमात्र से जो स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं वैसी अन्य स्मृतियाँ भी युगपत् सम्भव होने लगेंगी ? अर्थात् जो प्रणिधानाद्यनपेक्ष स्मार्त ज्ञान प्रातिभ ज्ञान के सदृश उत्पन्न होता है, उनके हेतु (प्रणिधानादि) की अपेक्षा न होने से कदाचित् वैसी स्मृतियों की युगपदुत्पत्ति होने लगेगी ? स्मृतिहेतु के असंवेदन (समझमें न आने) से स्मार्त ज्ञान में प्रातिभज्ञान के साथ तुल्यारोप है । पर अनेकार्थविषयक चिन्ता (अनुभवधारा) में कोई ही अर्थ किसी चिन्तन का स्मृतिहेतु बनता है, उसके अनुचिन्तन से उसकी स्मृति होती है, और स्मर्ता इस प्रकार सभी स्मृतिहेतुओं का तो संवेदन नहीं कर पाता कि

---

१. इदं भाष्यमेव न सूत्रम्; प्रमाणाभावात् ।

स्मृतिरुत्पन्ना' इति, असंवेदनात् प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्तमित्यभिमन्यते। न त्वस्ति प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्तमिति।

प्रातिभे कथमिति चेत्? पुरुषकर्मविशेषादुपभोगवन्नियमः।

प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्मान्नोत्पद्यते? यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न करोति, एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रतिभाहेतुर्न युगपदनेकं प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेद्? न; करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यात्।

'उपभोगवन्नियमः' इत्यस्ति दृष्टान्तो हेतुर्नास्तीति चेन्मन्यसे? न; करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याद्। नैकस्मिन् ज्ञेये युगपदनेकं ज्ञानमुत्पद्यते, न चानेकस्मिन्। तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्यमित्थम्भूतमिति न ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्यययौगपद्यादिति।

अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः—अवस्थितशरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपदनेकार्थस्मरणं स्यात्। क्वचिद् देशेऽवस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थप्रबन्धेन ज्ञानमनेकमेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवैति। तेन यदा मनः संयुज्यते तदा ज्ञातपूर्व-

---

'मुझे ऐसी स्मृति उत्पन्न हुई हैं'। अतः असंवेदन से स्मार्तज्ञान भी प्रातिभज्ञान की तरह होता है—ऐसा वह अभिमान (भ्रम) करता है। वस्तुतः स्मार्त में भी सम्पूर्ण प्रणिधानादि की अपेक्षा रहती ही हैं।

प्रातिभ में क्या व्यवस्था रहती है? पुरुषकर्मविशेष से उपभोग की तरह उसमें नियम है।

अब प्रातिभज्ञान युगपत् उत्पन्न क्यों नहीं होता? जैसे उपभोगार्थक कर्म एक साथ उपभोग नहीं कराता, उसी तरह प्रतिभाहेतु पुरुषकर्मविशेष एक साथ अनेक प्रातिभज्ञानों को उत्पन्न नहीं कराता।

'हेतु के न होने से' यह आपकी उक्ति अयुक्त है? नहीं; क्योंकि करण में अनेक प्रत्यय एक साथ उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती। और उपर्युक्त 'उपभोगवन्नियमः' यह दृष्टान्त है, हेतु नहीं है—ऐसा आप नहीं कह सकते; क्योंकि हम अभी उत्तर दे चुके हैं कि करण (साधन) का क्रमिक ज्ञान में सामर्थ्य होता है। अनेक ज्ञान न तो एक ज्ञेय में युगपद् उत्पन्न हो सकते हैं, न अनेक में। इस लोकसिद्ध क्रमिकज्ञान से ऐसा ही करणसामर्थ्य अनुमित होता है। विकरणधर्मा (योगी) के अनेकदेह होने पर ज्ञानयौगपद्य दिखायी देता है। ज्ञाता होने की दशा में तो योगी को भी वैसा ज्ञानयौगपद्य नहीं होगा।

दूसरा प्रतिषेध यह है—अवस्थित शरीर ज्ञाता के अनेक ज्ञानसमवाय से एक प्रदेश में युगपद् अनेकार्थ का स्मरण हो सकता है। किसी देश में अवस्थित शरीरज्ञाता से इन्द्रियार्थसम्बन्ध से अनेक ज्ञान एक ही आत्मप्रदेश में समवेत हो जाते हैं। उससे जब

स्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते; प्रदेशसंयोगपर्यायाभावादिति। आत्मप्रदेशानामद्रव्यान्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियौगपद्यप्रतिषेधानुपपत्तिः।

शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्या शब्दश्रवणवत् संस्कारप्रत्यासत्त्या मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। पूर्व एव तु प्रतिषेधो नानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपत् स्मृतिप्रसङ्ग इति॥ ३३॥

यत् 'पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्माः'[1] इति कस्यचिद्दर्शनम्, तत् प्रतिषिध्यते—

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः॥ ३४॥

अयं खलु जानाति तावद्—इदं मे सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति, ज्ञात्वा स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिच्छति, दुःखसाधनं हातुमिच्छति। प्राप्तीच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावाप्तये समीहाविशेष आरम्भः, जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिः, एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः। एककर्तृकत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वं च। तस्माद् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्न-

---

मन संयुक्त होता है तब ज्ञातपूर्व अनेक अर्थ का युगपत् स्मरण प्रसक्त हो सकता है; प्रदेशसंयोग में अनेकोत्पत्ति का सामर्थ्य होने से। आत्मप्रदेश द्रव्यान्तर तो हैं नहीं, अतः एकार्थक समवाय का सम्बन्धसमानतया स्मृतियौगपद्यप्रतिषेध अनुपपन्न ही है।

शब्दसन्तान में तो शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से साक्षात् सम्बद्ध है, वही सुनायी देता है, न कि शब्दसन्तानगत समग्र शब्द; इसी तरह सहकारिकारणसंस्कारप्रत्यासत्ति से मन में स्मृति उत्पन्न होती है, अतः उसमें यौगपद्यप्रसङ्ग न होगा। एकदेशिमत का भी वही प्रतिषेध समझना चाहिये, जो हम पीछे (३. २. २६ में) कह आये है कि अनेकज्ञानसमवाय होने से एक प्रदेश में युगपत्स्मृतिप्रसङ्ग न होगा॥ ३३॥

'ज्ञान पुरुषधर्म है; इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख अन्तःकरण के धर्म हैं'—ऐसा कुछ (साङ्ख्यमतानुयायी) विद्वान् मानते हैं, सूत्रकार इस का खण्डन करते हैं—

इच्छा, द्वेषादि भी ज्ञाता के ही गुण हैं; क्योंकि अर्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति उस ज्ञाता के ही इच्छाद्वेष के कारण होती हैं॥ ३४॥

यह ज्ञाता जानता है कि 'यह मेरे लिये सुखसाधन है, यह दुःखसाधन हैं', ऐसा जानकर वह सुखसाधन को पाना चाहता है, तथा दुःखसाधन को छोड़ देना चाहता है। पाने की इच्छा से युक्त इस सुखसाधन की प्राप्ति के लिये समीहाविशेष को 'आरम्भ' कहते हैं। और जिहासाप्रयुक्त दुःखसाधन का परिवर्जन 'निवृत्ति' कहलाता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष एवं सुख-दुःखों का एक (ज्ञाता) से ही अभिसम्बन्ध बनता है। ज्ञानेच्छादिकों का एककर्तृकत्व तथा सामानाधिकरण्य है, अतः ज्ञाता

सुखदुःखानि धर्माः, नाचेतनस्येति । आरम्भनिवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानं वेदितव्यमिति ॥ ३४ ॥

अत्र भूतचैतनिकः[1] आह—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ? ॥ ३५ ॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति यस्यारम्भनिवृत्ती तस्येच्छाद्वेषौ तस्य ज्ञानमिति प्राप्तम्—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीरणामारम्भनिवृत्तिदर्शना- दिच्छांद्वेषज्ञानैर्योग इति चैतन्यम् ? ॥ ३५ ॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३६ ॥

शरीरे चैतन्यनिवृत्तिः । आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति । अथ शरीरस्येच्छादिभि- र्योगः, परश्वादेस्तु करणस्यारम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः ? न तर्ह्ययं हेतुः 'पार्थिवा- प्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योगः' इति ।

के ही इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःखादि धर्म हैं, अचेतन के नहीं । यों यह प्रवृत्ति- निवृत्ति जीवात्मा में प्रमाण से जान लेने के वाद परमात्मा में भी अनुमान प्रमाण से समझ लेनी चाहिये ॥ ३४ ॥

यहाँ भूतचैतनिक चार्वाक कहता है—

इच्छा द्वेष के शरीरनिमित्तिक होने से पार्थिवादि देहों में चैतन्यप्रतिषेध नहीं बनता ? ॥ ३५ ॥

'इच्छा, द्वेष आरम्भ-निवृत्ति के हेतु हैं'—इस सिद्धान्त से जिसके आरम्भ-निवृत्ति होंगे, उस के इच्छा-द्वेष हैं तथा उसी का ज्ञान होना चाहिये; तव पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय शरीरों के भी आरम्भ-निवृत्ति देखे जाने से इच्छा द्वेषादि का योग भी उन्हीं के साथ होगा, तव ज्ञान भी उन्हीं को होना चाहिये, तो क्यों न उन शरीरों में ही चैतन्य मान लें ? ॥ ३५ ॥

परशु-आदि में भी आरम्भनिवृत्ति देखे जाने से ॥ ३६ ॥

शरीरों में चैतन्य नहीं मानना चाहिये । यदि चर्वाक यह सिद्धान्त बनायेगा कि 'जिसमें आरम्भ-निवृत्ति देखे जाय उसी का इच्छा द्वेष तथा ज्ञान से सम्वन्ध होगा' तो परशु (कुठार) आदि साधनों की भी आरम्भ-निवृत्ति देखे जाने से उसे भी चैतन्य मानना पड़ेगा । यदि कहें कि शरीर का इच्छा-द्वेषादि से ही सम्वन्ध होता है, परश्वादि साधनों की आरम्भ-निवृत्ति तो कहीं-कहीं व्यभिचरित भी देखी जाती है ? तो यह कोई हेतु नहीं बना, तथा इसी परश्वादि दृष्टान्त से आपका यह सिद्धान्त भी व्यभिचरित हो जायेगा कि पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय शरीरों की आरम्भ-निवृत्ति देखे जाने से उनका इच्छा द्वेष तथा ज्ञान से सम्वन्ध है ।

---

१. 'ज्ञानेच्छादीनां पार्थिवमिदं शरीरमेवाधिकरणम्' इति भूतचेतनवादी चार्वाक इत्यर्थः ।

अयं तह्यन्योऽर्थः—तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः। पृथिव्यादीनां भूतानामारम्भस्तावत्त्रसस्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः. लोष्टादिषु च लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः, आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति। पार्थिवाद्येष्वणुषु तद्दर्शनादिच्छाद्वेषयोगः, तद्योगाज् ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति ?

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः[1]। कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः, सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः। न च मृत्सिकतानामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः, तस्मात् 'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः' इत्यहेतुरिति ॥ ३६ ॥

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३७ ॥

तयोरिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ = भेदकौ। ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती, न स्वाश्रये। किं तर्हि ? प्रयोज्याश्रये। तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः, न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः।

यस्य तु ज्ञत्वाद् भूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये तस्य

शंका—हमारे सिद्धान्तवाक्य का आपने अर्थ ठीक नहीं समझा। उसका अर्थ यह है—पृथिव्यादि भूतों में उनके अस्थिर स्थावर शरीरों में तदवयवव्यूहहेतु से प्रवृत्तिविशेष ज्ञात होता है। तथा लोष्टादिक में वह हेतु न होने से प्रवृत्तिविशेषाभावरूप निवृत्ति ज्ञात होती है। इच्छाद्वेषादिक आरम्भ निवृत्ति हेतु से निर्णीत है। पार्थिवादि अणुओं में वह हेतु देखा जाने से उनसे इच्छाद्वेष का सम्बन्ध तथा उससे ज्ञान का सम्बन्ध है। अतः भूतचैतन्य सिद्ध हो जाता है ?

कुम्भादि में उक्त साध्य की अनुपलब्धि होने से वह अहेतु है।

कुम्भादि के मृत्तिकावयवों में उनके आकृतिहेतु प्रवृत्तिविशेष 'आरम्भ', तथा सिकता (वालुका) में उस प्रवृत्तिविशेष का अभाव ही 'निवृत्ति' कहलाती है। उन मृत्सिकतादिकों में प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाने पर भी, इच्छाद्वेषादि या ज्ञान से उनका सम्बन्ध नहीं देखा जाता। अतः 'इच्छा द्वेष आरम्भप्रवृत्तिमित्तक हैं'—यह आपका कहना अहेतुक है ॥ ३६ ॥

नियम तथा अनियम तो उनके भेदक हैं ॥ ३७ ॥

इच्छाद्वेषों के नियम, अनियम तो ज्ञ तथा अज्ञ के भेदक हैं। प्रवृत्ति-निवृत्ति ज्ञाता के इच्छाद्वेषनिमित्तक है। आप उन्हे स्वाश्रय (ज्ञ के आश्रित) नहीं कह सकते; वे तो प्रयोज्याश्रय हैं। जो भूत प्रयुज्यमान होंगे, उनमें ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होगी, सब में नहीं; अतः नियम नहीं वन सकता।

जिस (चार्वाक) के मत में ज्ञाता होने से भूतों की इच्छाद्वेषत्तिमित्तक प्रवृत्ति-निवृत्ति

---

१. न्यायसूचीनिबन्धे नैतत् सूत्रत्वेन परिगणितम्, नापि वृत्तिकृता व्याख्यातम्, अतो नेदं सूत्रम्।

नियमः स्यात्, यथा—भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिर्गुणप्रतिबन्धाच्चानिवृत्तिर्भूतमात्रे भवति नियमेन; एवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्याताम्! न तु भवतः। तस्मात् प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नाः, प्रयोज्याश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम्।

एकशरीरे तु ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानम्। भूतचैतनिकस्यैकशरीरे बहूनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नगुणानीति ज्ञातृबहुत्वं प्राप्तम्। ओमिति ब्रुवतः प्रमाणं नास्ति। यथा नानाशरीरेषु नानाज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात्, एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिव्यवस्थानुमानं स्याज्ज्ञातृबहुत्वस्येति।

दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानाम्, सोऽनुमानमन्यत्रापि। दृष्टः करणलक्षणेषु भूतेषु परश्वादिषु उपादानलक्षणेषु च मृत्प्रभृतिष्वन्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः। सोऽनुमानमन्यत्रापि—त्रसत्स्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणनिमित्त इति। स च गुणः प्रयत्नसमानाश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः, पुरुषर्थाराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति।

है, उसके यहाँ नियम वन सकता है। जैसे भूतसामान्य में गुरुत्वादि गुणान्तरनिमित्तक प्रवृत्ति तथा इसी गुणप्रतिवन्ध से नियमतः भूतमात्र में निवृत्ति देखी जाती है। इसी तरह भूतमात्र में ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति-निवृत्ति स्वाश्रय होने से होने लगेगी, जव कि होती नहीं है। अतः यही मानना चाहिये कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न प्रयोजक (ज्ञाता) के आश्रित हैं, तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रयोज्य (भूतादि) के आश्रित हैं।

एक शरीर में अनेक ज्ञाता किसी भी अनुमान से सिद्ध नहीं किये जा सकते। भूतचैतन्यवादी के मत में वहुत से भूत ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न गुणवाले हैं, अतः अनेक ज्ञाता होने लगेंगे। यदि वह उनका अनेकत्व स्वीकार करता है तो उसकी इस स्वीकृति में कोई प्रमाण नहीं है। जैसे अनेक शरीरों में वुद्धचादिगुणव्यवस्था से अनेक ज्ञाता होते हैं; वैसे ही एक में भी वुद्धचादिव्यवस्था से अनेक ज्ञाताओं का अनुमान होने लगेगा।

भूतों का अन्यगुणनिमित्तक प्रवृत्तिविशेष देखा गया है, वह अन्यत्र भी अनुमान करा देगा। करणलक्षण परशु-आदि तथा उपादानलक्षण मृदादि भूतों में अन्यगुणनिमित्तक प्रवृत्तिविशेष देखा जाता है, तन्मूलक ही यह अनुमान होता है कि प्राणियों के अस्थिर शरीरों में भूतों का तदवयवव्यूहलिङ्गक प्रवृत्तिविशेष अन्यगुणनिमित्तक ही है। वह गुण प्रयत्नसमानाधिकरण धर्माधर्माख्य संस्कारविशेष ही है। वह पुरुषसम्वद्ध सकलार्थ-प्रयोजक पुरुषार्थ-सम्पादन के लिये भूतों का प्रयोजक है। जैसे पुरुष का प्रयत्न तत्तदर्थ सम्पादन के लिये भूतों को प्रेरणा देता है, उसी तरह तद्गत धर्माधर्मरूप संस्कार भी प्रेरणा देता है।

आत्मास्तित्वहेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। 'नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्' (३.२.१८) इति च समानः प्रतिषेध इति। क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रं चारम्भनिवृत्ती इत्यभिप्रेत्योक्तम्—'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' (३.२.३५)। अन्यथा त्विमे आरम्भनिवृत्ती आख्याते, न च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते, तस्मादयुक्तम्—'तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः' इति ॥ ३७ ॥

भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधः, मनस्तूदाहरणमात्रम्।

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ३८ ॥

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्' (१.१.१०) इत्यतः प्रभृति यथोक्तं संगृह्यते, तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः।

पारतन्त्र्यात्। परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात् प्रवर्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति।

इसी प्रकार, आत्मास्तित्वसाधक तथा आत्मनित्यत्वसाधक हेतुओं से भी भूतचैतन्य का प्रतिषेध समझना चाहिये। 'इन्द्रिय-अर्थ को बुद्धि नहीं कह सकते; क्योंकि उनके विनाश पर भी ज्ञानस्थिति देखी जाती है' (३.२.१८)—यह प्रतिषेध भी भूतचैतन्याभाव का ही समर्थन करता है। क्रिया तथा क्रियोपरममात्र को आरम्भ-निवृत्ति समझ कर पूर्वपक्षी ने कह दिया था कि 'तल्लिङ्ग होने से इच्छाद्वेष का पार्थिवादि में प्रतिषेध नहीं बनता' (३.२.३५)। अन्यथा हमारे मत में हितप्राप्ति तथा अहितपरिहार के लिये चेष्टा (प्रयत्न) विशेष आरम्भ-निवृत्ति कहलाते हैं। इस लक्षणवाले आरम्भ तथा निवृत्ति भूतों में दिखायी नहीं देते। अतः यह कहना असमीचीन ही है कि 'तल्लिङ्ग होने से पार्थिवादि में प्रतिषेध नहीं बनता' ॥ ३७ ॥

बुद्धि के आश्रितत्व के बारे में भूत, इन्द्रिय तथा मन का प्रतिषेध समान ही है; मन तो एक उदाहरणमात्र है।

यथोक्त हेतुओं से, पारतन्त्र्य से, तथा अकृताभ्यागम दोष से बुद्धि मन का (गुण नहीं हो सकती) ॥ ३८ ॥

'यथोक्त' का तात्पर्य 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान को ही आत्मा का हेतु समझें' (१. १. १०) इत्यादि सूत्र से है। उक्त हेतुओं से भूत, इन्द्रिय, तथा मन का चैतन्य प्रतिषिद्ध समझना चाहिए।

पारतन्त्र्य हेतु से भी इनमें चैतन्य का प्रतिषेध समझें। भूत, इन्द्रिय तथा मन परतन्त्र हैं, वे किसी अन्य के प्रयत्न से धारण, प्रेरण तथा व्यूहन (संग्रह) क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं। इनको चैतन्य मानने पर ये स्वतन्त्र होने लगेंगे।

अकृताभ्यागमाच्च। 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (१.१.१७) इति चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेणोपभुज्यत इति स्यात्। अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युपपद्यत इति ॥ ३८ ॥

अथायं सिद्धोपसङ्ग्रहः—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम्। परिशेषो नाम 'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः' (१.१.५ सू० भा०)। भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते, शिष्यते चात्मा, तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते।

यथोक्तहेतूपपत्तेश्चेति। 'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (३.१.१) इत्येवमादीनामात्मप्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधादिति।

परिशेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनादिज्ञानार्थं च यथोक्तहेतूपपत्तिवचनमिति।

अकृताभ्यागम दोष से भी बुद्धि मन का गुण नहीं है। "वाणी, बुद्धि तथा शरीर से किये जाने वाले कार्यों का आरम्भ 'प्रवृत्ति' कहलाता है" (१. १. १७) यह पहले कह आये हैं, इस स्थिति में शरीरादि को चैतन्य मानने पर चेतन के स्वतन्त्र होने से वे ही कर्ता हो जायेंगे, तब शरीरनाश के बाद परलोक का फलभोग कैसे सम्भव होगा! अन्यथा दूसरे के कर्म का दूसरा उपभोग करेगा। शरीरादि को अचेतन मानने पर स्वकृत कर्म का फलभोग पुरुष (आत्मा) को उपपन्न होगा, क्योंकि वह नित्य है ॥ ३८ ॥

अब इस समग्र प्रकरण का उपसंहार यह है—

परिशेष से तथा यथोक्त हेतुओं द्वारा उपपादन से ॥ ३९ ॥

ज्ञान आत्मा का ही गुण है। 'परिशेष' से तात्पर्य है 'प्रसक्त का निषेध कर दिये जाने पर, अन्यत्र प्रसङ्ग प्राप्त न होने से अवशिष्ट को मान लेना'। यहाँ साधक हेतुओं से भूत, इन्द्रिय तथा मन का बुद्धिगुणत्व प्रतिषिद्ध कर दिया गया, तब द्रव्यान्तर में यह गुण प्रसक्त नहीं हो सकता, अब बाकी बच गया—आत्मा, अतः यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि आत्मा का ही गुण है।

यथोक्त हेतुओं के उपपादन से भी। 'दर्शन स्पर्शन द्वारा एक ही अर्थ के ग्रहण से' (३. १. १) इत्यादि आत्मप्रतिपादक हेतुओं के, प्रतिपक्षियों द्वारा खण्डित न किये जाने से भी बुद्धि आत्मा का गुण सिद्ध होती है।

अथवा—परिशेष-ज्ञापन कराने के लिए सूत्र में 'यथोक्तहेतु' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् तृतीयाध्याय-प्रथमाह्निकोक्त हेतु आत्मा के साधक हैं। अथ च प्रकृत (बुद्धि का आत्मगुणत्व) स्थापनादिज्ञान के लिये 'उपपत्ति' शब्द का प्रयोग है, अर्थात् बुद्धि को आत्मगुण मानने में भी वे हेतु खण्डित नहीं होते।

अथवा—उपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदम्। नित्यः खल्वयमात्मा, यस्मादेकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते, अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते इति। उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा, सा सति सत्त्वे नित्ये चाश्रयवती, बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यत इति। एक-सत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते, शरीरप्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते। बुद्धिसन्ततिमात्रे त्वेकसत्त्वानुपपत्तेर्न कश्चिद्दीर्घमध्वानं संधावति, न कश्चिच्छरीरप्रबन्धाद्विमुच्यत इति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति। बुद्धि-सन्ततिमात्रे च सत्त्वभेदात् सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहितमव्यावृत्तम-परिनिष्ठितं च स्यात्। ततः स्मरणाभावः, नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। स्मरणं च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणम्—'अज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयम्'। इति सोऽय-मेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति, तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति, तद् बुद्धिप्रबन्ध-मात्रे निरात्मके नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४० ॥

उपपद्यते इति। आत्मन एव स्मरणम्, न बुद्धिसन्ततिमात्रस्येति। तुशब्दो-

---

अथवा—'उपपत्ति से'—यह एक पृथक् हेतु ही है। 'यह आत्मा नित्य है, क्योंकि एक शरीर में धर्म का आचरण करके शरीर के विनष्ट होने पर स्वर्ग में देवताओं के बीच शरीरान्तर उपपन्न होता है, अधर्म का आचरण करके देह-नाश के वाद नरक में शरीरा-न्तर उपपन्न होता है।' यहाँ उक्त स्वर्गीय नारकीय शरीरों की प्राप्ति ही आत्मा की 'उपपत्ति' है। वह किसी नित्य सत्त्व (द्रव्य) को ही अपना आधार वना सकती है। बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर निरात्मक में आश्रयहीन होकर वह कैसे उपपन्न हो सकेगी! अनेक शरीर-सम्वन्ध वाला एकसत्त्वाश्रय ही संसार' कहलाता है, शरीरसम्बन्धोच्छेदरूप अपवर्ग 'मोक्ष' कहलाता है। बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर एक सत्त्व की उपपत्ति न होने से न कोई लम्वे रास्ते (शरीर से शरीरान्तर) चलेगा, न कोई शरीरसम्वन्ध से मुक्त होगा, यों संसार तथा मोक्ष—दोनों की ही उपपत्ति न वनेगी। तथा बुद्धिसन्तानमात्र मानने पर सत्त्वभेद से यह सारा प्राणियों का व्यवहार असमाप्त, एक दूसरे न जुड़ा हुआ, अव्यापृत तथा अपरिनिष्ठित (अव्यवस्थित) होने लगेगा। तव स्मरणाभाव भी होगा; क्योंकि अन्य दृष्ट का अन्य स्मरण नहीं करता। स्मरण कहते हैं—'एक ज्ञाता को पूर्व ज्ञात का ज्ञान होना' कि 'इस जाने हुए अर्थ को मैं जानता था।' यह एक ही ज्ञाता जिस पूर्व ज्ञात अर्थ को ग्रहण करता है वह ग्रहण 'स्मरण' कहलाता है। वह स्मरण निरात्मक बुद्धिसन्तानमात्र में उपपन्न नहीं होता ॥ ३९ ॥

ज्ञातृस्वभाव होने से आत्मा को स्मरण ॥ ४० ॥

उपपन्न हो सकता है। आत्मा को ही स्मरण होता है, बुद्धिसन्तानमात्र को नहीं।

ऽवधारणे। कथम् ? ज्ञस्वभावत्वात्। ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः, अयं खलु 'ज्ञास्यति, जानाति, अज्ञासीत्' इति त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते, तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयम्—'ज्ञास्यामि, जानामि, अज्ञासिषम्' इति वर्तते, तद्यस्यायं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणम्, न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति ॥ ४० ॥

स्मृतिहेतूनामयौगपद्याद्युगपदस्मरणमित्युक्तम्। अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यत इति ? स्मृतिः खलु—

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियाराग - धर्माधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४१ ॥

सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थस्मृतिकारणम्। निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम्, एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योऽन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्तीति। धारणाशास्त्रकृतो[1] वा प्रज्ञा-

---

सूत्र में 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। क्यों ? ज्ञस्वभाव ज्ञाता का अपना धर्म है, वह 'जानेगा', 'जानता है', 'जानता था'—इस त्रिकालविषयक अनेक ज्ञान से सम्बद्ध होता है। यह त्रिकालविषयक ज्ञान 'जानूँगा' 'जानता हूँ' 'जानता था'—ऐसा प्रत्यात्मवेदनीय (प्रतिव्यक्ति को अनुभवसिद्ध) होता है। जिसका यह स्वधर्म है वही स्मरण करता है, न कि निरात्मक बुद्धिसन्तानमात्र ॥ ४० ॥

स्मृतिहेतुओं में यौगपद्य न रहने से युगपद् स्मरण नहीं होता—यह पहले कह आये हैं। यह स्मृति—

प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास, लिङ्ग, लक्षण, सादृश्य, परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोग, एककार्य, विरोध, अतिशय, प्राप्ति, व्यवधान, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म, अधर्म—इन २५ निमित्तों से होती है ॥४१॥

स्मरण करने की इच्छा से मन को एक में धारण करना, अर्थात् उस सुस्मूर्षा-विषय के अतिरिक्त अन्यत्र गये मन को निवारण करना 'प्रणिधान' कहलाता है। सुस्मूर्षित के चिह्न का चिन्तन भी अर्थ का स्मरण करता है। एक ग्रन्थ में आये हुए अर्थ (विषय), जैसे इसी ग्रन्थ में प्रमाणादि पदार्थ, 'निवन्ध' कहलाते हैं। एक ग्रन्थ में आये हुए पदार्थ अनुक्रम या व्युत्क्रम से अन्योन्यस्मृतिहेतु होते हैं। जैगीषव्यादि महर्षि प्रोक्त 'धारणाशास्त्र', तत्कृत प्रज्ञातवस्तुओं में स्मर्तव्य विषयों का समारोप भी 'निवन्ध' है,

---

१. "धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादिप्रोक्तम्, तत्कृतो ज्ञातेष्वेव वस्तुषु नाडीचक्रहृत्पुण्डरीककण्ठकूपनासाग्रतालुललाटब्रह्मरन्ध्रादिषु स्मर्तव्यानां बीजरूपसंस्थानास्त्राभरणभूतानां देवतानामुपनिक्षेपः समारोपः। तथा च तत्र देवताः समारोपितास्तत्तदवयवग्रहणात् स्मर्यन्ते इत्यर्थः"—इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्राः।

तेषु वस्तुषु स्मर्तव्यानामुपनिःक्षेपो निबन्ध इति। अभ्यासस्तु समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिः, अभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोऽभ्यासशब्देनोच्यते, स च स्मृतिहेतुः समान इति। लिङ्गं पुनः संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि चेति। यथा—धूमोऽग्नेः, गोर्विषाणम्, पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य, अभूतं भूतस्येति। लक्षणं पशवयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः—बिदानामिदम्, गर्गाणामिदमिति। सादृश्यं चित्रगतं प्रतिरूपकं देवदत्तस्येत्येवमादि। परिग्रहात्—स्वेन वा स्वामी, स्वामिना वा स्वं स्मर्यते। आश्रयाद्—ग्रामण्या तदधीनं संस्मरति। आश्रितात्—तदधीनेन ग्रामण्यमिति। सम्बन्धात्—अन्तेवासिना युक्तं गुरुं स्मरति, ऋत्विजा याज्यमिति। आनन्तर्यादिति करणीयेष्वर्थेषु। वियोगाद्—येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति। एककार्यात्—कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः। विरोधात्—विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनादन्यतरः स्मर्यते। अतिशयाद्—येनातिशय उत्पादितः। प्राप्तेः—यतोऽनेन किञ्चित्प्राप्तमाप्तव्यं वा भवति तमभीक्ष्णं स्मरति। व्यवधानात्—कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते, सुखदुःखाभ्यां तद्धेतुः स्मर्यते। इच्छाद्वेषाभ्यां यमिच्छति यं च द्वेष्टि तं स्मरति। भयाद्—यतो बिभेति। अर्थित्वाद्—येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा। क्रियया—रथेन रथकारं

वह स्मृतिहेतु होता है। समान विषयों में ज्ञान को बार बार दुहराने को 'अभ्यास' कहते हैं। अभ्यासजनित संस्कार जो कि आत्मगुण है, 'अभ्यास' कहलाता है। वह भी स्मृतिहेतु है। 'लिङ्ग' कहते हैं—संयोगिद्रव्य या समवायी या एक अर्थ में समवेत होता हो, या विरोधी हो। क्रमशः उदाहरण, जैसे—धूम अग्नि का लिङ्ग है, शृंग गौ का, हाथ पैर का या रूप स्पर्श का, तथा अभूत भूत का। 'लक्षण' पशवयवस्थ गोत्र (वंश) की स्मृति का हेतु होता है, जैसे 'यह बिदों का' 'यह गर्गों का'। 'सादृश्य'—जैसे देवदत्त की चित्रगत प्रतिकृति। 'परिग्रह' स्मृति कहलाता है, जैसे—स्व से स्वामी का, या स्वामी से स्वस्मरण। 'आश्रय' से—ग्रामनेता से उसके अधीन का स्मरण। 'आश्रित' से—उसके अधीन से ग्रामनेता का स्मरण। 'सम्बन्ध' से—अन्तेवासी (छात्र) से युक्त गुरु का, या ऋत्विज् से याज्य का स्मरण। 'आनन्तर्य' से भी कर्तव्यविषयक स्मरण होता है। 'वियोग' से—जिससे वियुक्त हुआ जाता है, वह वियोगप्रतिसंवेदी अत्यधिक याद आता है। 'एककार्य' से—अन्यकर्ता के दर्शन से अन्यकर्ता की स्मृति होती है। 'विरोध' से—विजय के इच्छुक किन्हीं दो में एक को देखकर दूसरे का स्मरण। 'अतिशय' से—जिसके द्वारा अतिशय उत्पन्न किया गया हो। 'प्राप्ति' से—जिसको जिससे कुछ प्राप्त हो या प्राप्त करना हो वह उसे हमेशा याद करता है। 'व्यवधान' से—जैसे म्यान से तलवार का याद आना या सुख-दुःख से उसके हेतु का स्मरण होना। 'इच्छा' या 'द्वेष' से—जिसकी इच्छा करता है या जिससे द्वेष करता है, उसे हमेशा याद रखता है। 'भय' से—जिससे डरता हो वह भी स्मृत रहता है। 'अर्थित्व' से—जिसकी चाह हो भोजन या वस्त्र से, वह भी हमेशा याद

स्मरति। रागाद्—यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति। धर्मात्—जात्यन्तरस्मरणमिह चाधीतश्रुतावधारणमिति। अधर्मात्—प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति। न चैतेषु निमित्तेषु युगपत्संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति। निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनाम्, न परिसंख्यानमिति ॥ ४१ ॥

बुद्धेरुत्पन्नापवर्गित्वपरीक्षाप्रकरणम् [४२-४५]

अनित्यायां च बुद्धौ उत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्चानित्यानां संशयः—किमुत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः शब्दवत् ? आहोस्वित् कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति ?

उत्पन्नापवर्गिणीति पक्षः परिगृह्यते। कस्मात् ?—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४२ ॥

कर्मणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति। क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानो गृह्यते, प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद् बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति। अवस्थितग्रहणे च व्यवधीयमानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः। अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणे सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्त्तते प्राग् व्यवधानात्, तेन व्यवहिते प्रत्यक्षं ज्ञानं निवर्तते।

रहता है। 'क्रिया' से—रथ को देखकर उसके निर्माता रथकार का स्मरण। 'राग' से—जैसे जिस स्त्री में जिसका राग हो वह उस स्त्री को हमेशा याद रखता है। 'धर्म से'—जैसे इस जन्म में जात्यन्तर का स्मरण या अधिक श्रुत का अवधारण होता है। 'अधर्म से'—जैसे पहले अनुभव किये दुःख के कारणों को स्मरण करता है।

इन हेतुओं के रहने में युगपत्संवेदन नहीं होता, अतः स्मृति युगपत् नहीं हो सकती। स्मृति हेतुओं का यह निदर्शनमात्र है, परिगणन नहीं। अतः उन्मादादि लोकसिद्ध अन्य हेतुओं का भी यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ४१ ॥

अनित्य बुद्धि में उत्पन्नविनाशित्व होने से तथा साथ ही कालान्तरावस्थिति से अनित्यों में संशय होता है कि क्या यह बुद्धि शब्द की तरह उत्पन्नविनाशी है, या कुम्भ की तरह कालान्तरावस्थायी है ?।

पहले उत्पन्नविनाशी पक्ष पर विचार करते हैं; क्योंकि—

अनवस्थायी कर्म का ग्रहण होता है ॥ ४२ ॥

जैसे—फेंके गये तीर की भूमिपतनावधिपर्यन्त क्रिया की अनेक धाराएँ गृहीत होती हैं, उसी तरह बुद्धि भी, प्रत्यर्थनियत (अर्थ रहने तक) होने से अनेक क्रियाओं की तरह उपपन्न होती है। अतः यह आशुतरविनाशिनी है। अवस्थित घटादि के ग्रहण में तो यह प्रक्रिया है कि जब तक कोई व्यवधान न आ जाये तब तक वे उपस्थित रहते हैं, जब कोई व्यवधान आ जाता है तो उनका प्रत्यक्ष निवृत्त हो जाता है। बुद्धि तो सन्तत धारा

कालान्तरावस्थाने तु बुद्धेर्दृश्यव्यवधानेऽपि प्रत्यक्षमवतिष्ठेतेति । स्मृतिश्चा-लिङ्गं बुद्ध्यवस्थाने; संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिहेतुत्वात् ।

यश्च मन्येत—अवतिष्ठते बुद्धिः, दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः, सा च बुद्धाव-नित्यायां कारणाभावान्न स्यादिति ? तदियमलिङ्गम् । कस्मात् ? बुद्धिजो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुः, न बुद्धिरिति ।

हेत्वभावादयुक्तमिति चेत् ? बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ।

यावदवतिष्ठते बुद्धिस्तावदसौ बोद्धव्यार्थः प्रत्यक्षः, प्रत्यक्षे च स्मृतिरनु-पपन्नेति ॥ ४२ ॥

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४३ ॥

यद्युत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः; प्राप्तमव्यक्तं बोद्धव्यस्य ग्रहणम्, यथा विद्यु-त्सम्पाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानादव्यक्तं रूपग्रहणमिति । व्यक्तं तु द्रव्याणां ग्रहणम्, तस्मादयुक्तमेतदिति ? ॥ ४३ ॥

से घट के अव्यवधान में उत्पन्न होती रहती है । व्यवधान में प्रत्यक्ष भी उत्पन्न नहीं होता । अन्यथा घट की तरह उसको कालान्तरावस्थायी मानने पर बुद्धि का दृश्यव्यव-धान होने पर भी प्रत्यक्ष होना चाहिए ।

आज देखे हुये घट को दूसरे दिन स्मरण कर लेते हैं—यह स्मृति भी बुद्धि की स्थायिता सिद्ध नहीं कर सकती; क्योंकि स्मृति में बुद्धिजन्य संस्कार हेतु है; न कि साक्षात् बुद्धि ।

जो यह मानता है कि—'बुद्धि स्थिर है, क्योंकि उसके विषय में स्मृति होती है, यदि बुद्धि अनित्य होती तो कारण न रहने से स्मृतिरूप कार्य कैसे होगा ?' यह मत अहेतुक है; क्योंकि बुद्धिजन्य संस्कार ही स्मृतिहेतु है वह गुणान्तर है; न कि साक्षात् बुद्धि ।

आप की भी बात हेतु के होने से अयुक्त ही है ? यह नहीं कह सकते; क्योंकि बुद्धि नित्य होने से बराबर प्रत्यक्ष रहेगी, फिर उसकी स्मृति कहाँ बनेगी ! कारण, जब तक बुद्धि रहेगी तब तक वह बोद्धव्यार्थ प्रत्यक्ष रहेगा और प्रत्यक्ष के रहते स्मृति कैसे उत्पन्न होगी ! ॥ ४२ ॥

यदि रूपज्ञान अनवस्थायी होगा तो वह, विद्युत्संपात में क्षणिक अव्यक्त रूपज्ञान की तरह, अव्यक्त ही गृहीत होगा ? ॥ ४३ ॥

यदि उत्पत्तिविनाशिनी बुद्धि है तो संयुक्त बोद्धव्य विषय का ज्ञान भी अव्यक्त ही होगा, जैसे विद्युत्संपात में वैद्युत प्रकाश के अस्थिर होने से रूप का अव्यक्त ज्ञान होता है, जब कि द्रव्यों का ज्ञान व्यक्त होता है । अतः ज्ञान का कालान्तरानवस्थायित्व पक्ष अयुक्त ही है ? ॥ ४३ ॥

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४४ ॥

'उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः' इति प्रतिषेद्धव्यम्, तदेवाभ्यनुज्ञायते–'विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत्' इति। यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति।

ग्रहणे हेतुविकल्पाद् ग्रहणविकल्पः, न बुद्धिविकल्पात्।

यदिदं क्वचिदव्यक्तं क्वचिद्व्यक्तं ग्रहणमयं विकल्पः; ग्रहणहेतुविकल्पात्। यत्रानवस्थितो ग्रहणहेतुः तत्राव्यक्तं ग्रहणम्, यत्रावस्थितस्तत्र व्यक्तम्, न तु बुद्धेरवस्थानानवस्थानाभ्यामिति। कस्मात् ? अर्थग्रहणं हि बुद्धिः, यत्र तदर्थग्रहणमव्यक्तं व्यक्तं वा बुद्धिः सेति। विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहणमात्रमव्यक्तग्रहणम्, तत्र विषयान्तरे बुद्ध्यन्तरानुत्पत्तिः; निमित्ताभावात्। यत्र समानधर्मयुक्तश्च धर्मी गृह्यते विशेषधर्मयुक्तश्च, तद्व्यक्तं ग्रहणम्। यत्र तु विशेषेष्वगृह्यमाणे सामान्यग्रहणमात्रम्, तदव्यक्तं ग्रहणम्। समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषयान्तरम्, तत्र यत्तु ग्रहणं न भवति तद्ग्रहणनिमित्ताभावाद्, न बुद्धेरनवस्थानादिति।

यथाविषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव। प्रत्यर्थनियतत्वाच्च बुद्धीनाम्–सामान्यविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति व्यक्तम्, विशेषविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रति

हेतूपादान द्वारा प्रतिषेध्य की स्वीकृति देने से ॥ ४४ ॥

यहाँ 'बुद्धि उत्पाद-विनाशिनी है'—यह प्रतिषेध्य है, उसीको आप 'विद्युत्सम्पात में रूप के अव्यक्त ज्ञान की तरह' ऐसा उदाहरण देकर स्वीकृत कर रहे हैं ! जहाँ अव्यक्त ज्ञान होगा वहाँ बुद्धि के उत्पाद-विनाश मानने ही पड़ेंगे।

ज्ञान के हेतुविकल्प से ज्ञानविकल्प है, न कि ज्ञानविकल्प से। यह जो कहीं अव्यक्त तथा कहीं व्यक्त ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञानसम्बन्धी हेतुविकल्प कारण है। जहाँ ज्ञानहेतु कारण अस्थिर है, वहाँ अव्यक्त ज्ञान होगा, जहाँ ज्ञानहेतु कारण स्थिर है, वहाँ व्यक्त ज्ञान होगा। ज्ञान की स्थिति से कोई मतलब नहीं; क्योंकि अर्थ-ज्ञान ही बुद्धि है। अर्थ का व्यक्त या अव्यक्त ज्ञान हो वह सब 'बुद्धि' है। विशेष ज्ञान न होने पर सामान्य ज्ञानमात्र को 'अव्यक्त ज्ञान' कहते हैं। वहाँ निमित्त कारण न होने से विषयान्तर की बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ तुल्यधर्मा तथा विशेषधर्मा धर्मी गृहीत होता है, वह 'व्यक्त-ज्ञान' तथा जहाँ विशेष के अगृहीत होने पर सामान्य ज्ञानमात्र होता है वह 'अव्यक्त ज्ञान' कहलाता है। समानधर्म से युक्त होते हुए विशेष धर्म का सम्बन्ध होना 'विषयान्तर' कहलाता है। वहाँ जो ज्ञान नहीं होता वह ज्ञानहेतु के न होने से नहीं हो पाता, न कि बुद्धि के अनवस्थान से।

जिसका विषय जैसा है उसका वैसा ही ज्ञान 'व्यक्त ज्ञान' कहलाता है। प्रत्येक ज्ञान के अपने अपने अर्थ में नियत होने से सामान्यविषयक ज्ञान अपने विषय के प्रति

व्यक्तम् । प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः, तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं क्व विषये बुद्ध्यनवस्थानकारितं स्यादिति !

धर्मिणस्तु धर्मभेदे बुद्धिनानात्वस्य भावाभावाभ्यां तदुपपत्तिः ।

धर्मिणः खल्वर्थस्य समानाश्च धर्माः, विशिष्टाश्च; तेषु प्रत्यर्थनियता नानाबुद्धयः । ता उभय्यो यदि धर्मिणि वर्तन्ते तदा व्यक्तं ग्रहणं धर्मिणमभिप्रेत्य । यदा तु सामान्यग्रहणमात्रं तदाऽव्यक्तं ग्रहणमिति । एवं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोर्ग्रहणयोरुपपत्तिरिति ।

न चेदमव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बोद्धव्यस्य वाऽनवस्थायित्वादुपपद्यत इति ॥ ४४ ॥

इदं हि न—

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४५ ॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम् । कथम् ? प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् । प्रदीपार्चिषां सन्तत्या वर्तमानानां ग्रहणा-

---

'व्यक्त' है, इसी तरह विशेषविषयक ज्ञान अपने प्रति 'व्यक्त' है वुद्धियाँ प्रत्येक विषयज्ञान में नियत हैं । तो वुद्धि के अनवस्थान के कारण यह अव्यक्त ज्ञान प्रख्यात होता हुआ किस विषय में होगा !

धर्मी में धर्मभेद होने से वुद्धि-नानात्व के होने या न होने से व्यक्त तथा अव्यक्त की उपपत्ति होती है ।

धर्मी अर्थ के सामान्य तथा विशेष—दोनों ही धर्म होते हैं, उनमें वुद्धियाँ प्रत्यर्थनियत होने से अनेकविध हैं । यदि धर्मिविषयक वे दोनों प्रकार की वुद्धि रहती हैं तो धर्मी के अभिप्राय से व्यक्त ज्ञान होता है, तथा जव सामान्य ज्ञानमात्र होता है उसे अव्यक्त ज्ञान कहते हैं । इस प्रकार धर्मी को लेकर व्यक्ताव्यक्त ज्ञान का उत्पादन हो सकता है, उससे ज्ञान की अवस्थितता या अनवस्थितता सिद्ध नहीं होती ।

एक वात और, यह अव्यक्त ज्ञान वुद्धि या वोद्धव्य विषय की अनवस्थायिता के कारण नहीं, अपितु ज्ञान के प्रत्यर्थनियतत्व के कारण होता है; जो कि हम अभी प्रतिपादित कर चुके हैं ॥ ४४ ॥

पूर्वपक्षी के मत से वुद्धचनवस्थायित्व अधर्मिता अहेतु है—ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि—

प्रदीप की प्रभासन्तति द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान की तरह उस द्रव्य का व्यक्त ज्ञान होता है ॥ ४५ ॥

वुद्धि को उत्पादविनाशी मानने पर भी द्रव्यों का ज्ञान व्यक्त मानना चाहिये । कैसे ? प्रदीप की किरण सन्तानों से अभिव्यक्त ज्ञान की तरह । दीपक की किरणसन्तति का ज्ञान तथा ज्ञेय विषय—दोनों ही अनवस्थायी हैं; उसी तरह वुद्धियों के प्रत्यर्थ-

नवस्थानं ग्राह्यानवस्थानं च, प्रत्यर्थनियतत्वाद् बुद्धीनाम्, यावन्ति प्रदीपार्चींषि तावत्यो बुद्धय इति । दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणमिति ॥ ४५ ॥

बुद्धेः शरीरगुणव्यतिरेकपरीक्षाप्रकरणम् [४६–५५]

चेतना शरीरगुणः; सति शरीरे भावात्, असति चाभावादिति ?—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४६ ॥

सांशयिकः सति भावः । स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते, परगुणश्चोष्णता, तेनायं संशयः—किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यते, अथ द्रव्यान्तरगुण इति ? ॥ ४६ ॥

न शरीरगुणश्चेतना । कस्मात् ?

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ४७ ॥

न रूपादिहीनं शरीरं गृह्यते, चेतनाहीनं तु गृह्यते; यथा—उष्णताहीना आपः, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ।

संस्कारवदिति चेद् ? न; करणानुच्छेदात् ।

यथाविधे द्रव्ये संस्कारः, तथाविध एवोपरमो न; तत्र कारणोच्छेदादत्यन्तं

नियत होने से जितनी दीपक की किरणें होंगी उतनी ही बुद्धियाँ होंगी । प्रदीप की किरणें यद्यपि अस्थिर हैं फिर भी उन से होनेवाला ज्ञान व्यक्त ही गृहीत होता है । अत. 'ज्ञान की अनवस्थायिता से अव्यक्त ज्ञान होता है'–ऐसा आप नहीं कह सकते ॥ ४५ ॥

चेतना शरीर का गुण है; क्योंकि वह शरीर के रहने पर रहती है, न रहने पर नहीं रहती ?

द्रव्य में स्वगुण तथा परगुण—दोनों को उपलब्धि से यहाँ संशय है ॥ ४६ ॥

'आश्रय के होने पर उसका गुण गृहीत होता है'—इसीसे चेतन विषय में कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो पाता । जैसे जल में द्रवत्व स्वगुण भी उपलब्ध है, उष्णता पर-गुण (तैजस) भी है । अतः यह संशय होता है—क्या शरीर में गृहीत होनेवाली चेतना शरीर का गुण है या किसी द्रव्यान्तर का ॥ ४६ ॥

चेतना शरीरगुण नहीं है; क्योंकि

रूपादि शरीरपर्यन्त ही रहते हैं ॥ ४७ ॥

शरीर रूपादिहीन गृहीत नहीं हो पाता, जब कि वह चेतनाहीन गृहीत होता देखा जाता है, जैसे उष्णताहीन जल । अतः चेतना शरीरगुण नहीं है ।

जैसे संस्कार शरीरगुण है, परन्तु वह शरीरपर्यन्त नहीं रहता, उसी तरह चेतना को भी शरीरगुण मान लें ? नहीं मान सकते; क्योंकि वहाँ कारण का नाश नहीं होने से उसका नाश नहीं होता । द्रव्य की जिस स्थिति में संस्कार होता है उस स्थिति में संस्कार का नाश नहीं होता, वहाँ कारणोच्छेद से संस्कारानुपपत्ति आत्यन्तिक होती है।

संस्कारानुपपत्तिर्भवति। यथाविधे शरीरे चेतना गृह्यते, तथाविध एवात्यन्तोपरम-श्चेतनाया गृह्यते। तस्मात् संस्कारवदित्यसमः समाधिः।

अथापि शरीरस्थं चेतनोत्पत्तिकारणं स्याद्? द्रव्यान्तरस्थं वा? उभयस्थं वा? तन्न; नियमहेत्वभावात्। शरीरस्थेन कदाचिच्चेतनोत्पद्यते, कदाचिन्नेति नियमे हेतुर्नास्तीति। द्रव्यान्तरस्थेन च शरीर एव चेतनोत्पद्यते, न लोष्टादिषु इत्यत्र न नियमहेतुरस्तीति। उभयस्थ निमित्तत्वे शरीरसमानजातीयद्रव्ये चेतना नोत्पद्यते, शरीर एव चोत्पद्यते इति नियमे हेतुर्नास्तीति॥ ४७॥

यच्च मन्येत—सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्ट, एवं चेतनोपरमः स्यादिति?

न; पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः॥ ४८॥

नात्यन्तं रूपोपरमो द्रव्यस्य, श्यामरूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते, शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति॥ ४८॥

अथापि—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः॥ ४९॥

परन्तु जिस स्थिति के शरीर में चेतना गृहीत होती है उसी तरह के शरीर में चेतना का नाश भी देखा जाता है। अतः 'संस्कार की तरह' यह समाधान तुल्य नहीं है।

यदि यह कहें कि शरीरस्थ या द्रव्यान्तरस्थ या शरीरस्थ द्रव्यान्तरस्थ—दोनों ही उत्पत्तिकारण हैं? नियमहेतु न होने से यह नहीं कह सकते; क्योंकि 'शरीरस्थ कारण से कभी चेतना उत्पन्न हो, कभी नहीं'—इस नियम में कोई हेतु नहीं वनता। तथा 'द्रव्यान्तरस्थ कारण से शरीर में चेतना उत्पन्न हो, सिकता-पाषाणादि में नहीं'—इस नियम में भी कोई हेतु नहीं वन सकता। अथ च—उभयस्थ मानने पर, 'शरीरसमानजातीय-द्रव्य में चेतना उत्पन्न न हो, केवल शरीर में ही उत्पन्न हो'—इस नियम में भी कोई हेतु नहीं वन पाता॥ ४७॥

और जो ऐसा माना जाय कि 'जैसे श्यामादिगुणवान् द्रव्य में, द्रव्य के रहते हुए भी श्यामादि गुण का नाश हो जाता है, उसी तरह शरीर के रहते चेतना का उपरम हो जाता है?'

पाकजगुणान्तरोत्पत्ति के कारण ऐसा नहीं मान सकते॥ ४८॥

द्रव्य का आत्यन्तिक रूपनाश नहीं होता। श्यामरूप के निवृत्त होने पर पाकजन्य गुणान्तर रक्तरूप उत्पन्न होता है, किन्तु शरीर में चेतनामात्र का आत्यन्तिक उपरम हो जाता है। अतः यह दृष्टान्त अनुपपन्न है॥ ४८॥

एक वात और—

प्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि होने से यहाँ पाकज गुणों वाला प्रतिषेध भी नहीं बनता॥४९॥

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्वसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते; पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात् । न च शरीरे चेतनाप्रतिद्वन्द्विसिद्धौ सहानवस्थायि गुणान्तरं गृह्यते, येनानुमीयेत तेन चेतनाया विरोधः । तस्मादप्रतिषिद्धा चेतना यावच्छरीरं वर्तेत ! न तु वर्त्तते, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना इति ॥ ४९ ॥

२. इतश्च न शरीरगुणश्चेतना;

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५० ॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः । शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनवहुत्वम् । तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वं सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गम्, एवमेकशरीरेऽपि स्याद् । न तु भवति, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ॥ ५० ॥

यदुक्तम्—न क्वचिच्छरीरावयवे चेतनाया अनुत्पत्तिरिति ? सा

न; केशनखादिष्वनुपलब्धेः ? ॥ ५१ ॥

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वमिति ? ॥ ५१ ॥

जितने द्रव्यों में पूर्व गुण विरोधी गुण की उत्पत्ति होती हो उतने ही द्रव्यों में पाकज गुण की उत्पत्ति देखी जाती है; क्योंकि पूर्व गुणों के साथ पाकज गुणों का अवस्थान नहीं देखा जाता । चेतना में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि शरीर में चेतनाप्रतिद्वन्द्वी की सिद्धि होती हो—ऐसा गुणान्तर गृहीत नहीं होता, जिस से कि चेतना के विरोध का अनुमान हो । विरोध न होने से चेतना को शरीर के स्थायितापर्यन्त रहना चाहिये, परन्तु रहती नहीं, अतः चेतना शरीरगुण नहीं है ॥ ४९ ॥

२. इस कारण भी चेतना शरीरगुण नहीं हैं;

शरीरव्यापी होने से ॥ ५० ॥

शरीर तथा उसका प्रत्येक अवयव चेतनोत्पत्ति से व्याप्त है, क्योंकि उसमें शरीर के किसी भी भागमें चेतना की अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती । तो जव शरीर की तरह शरीरावयव भी चेतन हैं तव आपको अनेक चेतन मानने पड़ेंगे । जैसे प्रत्येक शरीर में चेतन का पार्थक्य सुख-दुःख, ज्ञान आदि का व्यवस्थापक हेतु है, उसी तरह अव एक शरीर में भी चेतनवहुत्व होता हुआ सुखादि का व्यवस्थापक होने लगेगा, होता है नहीं; अतः मानना चाहिये कि चेतना शरीरगुण नहीं है ॥ ५० ॥

शंका—यह जो कहा था कि 'किसी भी शरीरावयव में चेतना का अनुत्पाद नहीं है' ? यह भी

नहीं कह सकते; क्योंकि केशनखादि में चेतना उपलब्ध नहीं होती ? ॥ ५१ ॥

केश तथा नखादि में चेतना उपलब्ध नहीं होती, अतः चेतना का शरीरव्यापित्व सिद्ध नहीं होगा ॥ ५१ ॥

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५२ ॥

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणम् । त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरम्, तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते । अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशादीनामिति ॥ ५२ ॥

३. इतश्च न शरीरगुणश्चेतना;

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५३ ॥

द्विविधः शरीरगुणः–अप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः । विधान्तरं तु चेतना—नाप्रत्यक्षा संवेद्यत्वात्, नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात् । तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति ॥ ५३ ॥

न; रूपादीनामितरेतरधर्म्यात् ? ॥ ५४ ॥

यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणत्वं जहति, एवं रूपादिवैधर्म्याच्चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ? ॥ ५४ ॥

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

केश–नखादि में चेतना क्यों नहीं उपलब्ध होती ?

शरीर के त्वक्पर्यन्त माना जाने से केश-नखादि में चेतना नहीं बनती ॥ ५२ ॥

शरीर इन्द्रियाधिष्ठान है । यह शरीर जीव, मन, सुख-दुःख संवित्ति का अधिष्ठानभूत है, उक्त संवित्ति त्वक्पर्यन्त होती है, अतः उतने को ही शरीर माना जाता है, केश नखादि को नहीं । शरीरसंयुक्त होने से केशादि को शरीर कह देते हैं, वस्तुतः वे शरीरावयव नहीं है ॥ ५२ ॥

३. इस कारण भी चेतना शरीरगुण नहीं है; क्योंकि

(चेतना) शरीरगुणों से विलक्षण है ॥ ५३ ॥

शरीरगुण दो प्रकार के हैं—कोई अप्रत्यक्ष अनुमेय हैं, जैसे—गुरुत्वादि; कोई प्रत्यक्ष इन्द्रियग्राह्य हैं, जैसे—रूपादि । चेतना इन दोनों ही प्रकारों से विलक्षण है । वह संवेद्य होने से भी अप्रत्यक्ष नहीं होती, और मनोविषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है । अतः चेतना शरीरगुण नहीं, अपितु किसी अन्य द्रव्य का गुण है ॥ ५३ ॥

शरीरगुणों से वैलक्षण्यमात्र चेतना का

शरीरावृत्तित्व सिद्ध नहीं करता; क्योंकि रूपादि गुण भी इतरेतरविलक्षण हैं ! ॥५४॥

जैसे एक दूसरे से विलक्षण रूप-स्पर्शादि शरीरगुणत्व से च्युत नहीं होते, उसी तरह रूपादि से विलक्षण होने के कारण ही चेतना शरीर-गुणत्व को कैसे छोड़ेगी ? ॥ ५४ ॥

रूपादिक के ऐन्द्रियक होने से उनमें शरीराश्रयत्व है ॥ ५५ ॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति। यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते, तथा रूपादिवैधर्म्याच्चेतना न द्वैविध्यमतिवर्तेत यदि शरीरगुणः स्यादिति! अतिवर्तते तु, तस्मान्न शरीरगुण इति।

भूतेन्द्रियमनसां ज्ञानप्रतिषेधात् सिद्धे सत्यारम्भो विशेषज्ञापनार्थः। बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति ॥ ५५ ॥

मनःपरीक्षाप्रकरणम् [५६-५९]

परीक्षिता बुद्धिः, मनसः इदानीं परीक्षाक्रमः। तत् किं प्रतिशरीरमेकम्, अनेकं वा? इति विचारे—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५६ ॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयम्, करणस्यैकप्रयत्ननिर्वृतौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम्। यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात्? सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, न तु भवति। तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः ॥ ५६ ॥

अप्रत्यक्ष होने से भी। जैसे रूपादि इतरेतरविधर्मी होते हुए भी मुख्य अंश में समानधर्मा ही है, क्योंकि पूर्वोक्त (३. २. ५३) द्वैविध्य (अप्रत्यक्षत्व व वहिरिन्द्रियग्राह्यत्व) को वे अतिक्रान्त नहीं करते। उसी तरह चेतना भी यदि शरीर-गुण होती तो उक्त द्वैविध्य को अतिक्रान्त न करती! जब कि वह अतिक्रान्त करती है, अतः यह सिद्ध है कि वह शरीरगुण नहीं, अपितु द्रव्यान्तरगुण है।

भूत, इन्द्रिय तथा मन में ज्ञान का प्रतिषेध हम पीछे (३. २. ३८) कर आये, यों सिद्ध होने पर भी विशेष ज्ञान के लिये फिर से वात को उठाया गया; क्योंकि अनेक तरह से परीक्षित तत्त्व ही सुनिश्चित हुआ करता है ॥ ५५ ॥

बुद्धि की परीक्षा हो चुकी, अब मन की परीक्षा का उपक्रम कर रहे हैं। वह मन प्रत्येक शरीर में एक है, या अनेक?—ऐसा विचार (संशय) उपस्थित होने पर, कहते हैं—

ज्ञानायौगदद्य हेतु से मन एक ही है ॥ ५६ ॥

ज्ञान युगपत् उत्पन्न नहीं होते, अपितु क्रमिक ही होते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय स्वस्व-विषयक ज्ञान कराने में नियत है, अर्थात् उस-उस इन्द्रिय का एक काल में स्वस्वविषयक एक ही ज्ञान कराने में सामर्थ्य देखा जाता है—ऐसा एकत्व मन की सिद्धि में हेतु नहीं; वल्कि दूसरी इन्द्रियों के विषयान्तरों का ज्ञानायौगपद्य (एक ही ज्ञान) मन की सिद्धि में हेतु है; क्योंकि अनेक मन मानने पर दूसरी इन्द्रियों के साथ भी मनःसंयोग होने से इन्द्रियान्तरज युगपद् अनेक ज्ञान होने लगेंगे। ऐसा होता है नहीं, अतः उस उस विषय का तत्तदिन्द्रियों द्वारा एक ज्ञान होने से 'मन' सिद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

न; युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ? ॥ ५७ ॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते, व्रजति, कमण्डलुं धारयति, पन्थानं पश्यति, शृणोत्यरण्यजान् शब्दान्, बिभेति, व्याललिङ्गानि बुभुत्सते, स्मरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति क्रमस्याग्रहणाद्युगपदेताः क्रिया इति प्राप्तं मनसो बहुत्वमिति ? ॥५७॥

अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ५८ ॥

आशुसञ्चारादलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद् बुद्धिर्भवतीति; तथा बुद्धीनां क्रियाणां चाशुवृत्तित्वाद् विद्यमानः क्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणाद् युगपद् क्रिया भवन्तीति अभिमानो भवति।

किं पुनः–क्रमस्याग्रहणाद् युगपद् क्रियाभिमानः ? अथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति ?—नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते इति ? उक्तम्–इन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्तीति। तच्चाप्रत्याख्येयम्;

शङ्का—

एक साथ अनेक क्रियाएँ उपलब्ध होने के कारण आप ऐसा नहीं कह सकते ? ॥ ५७ ॥

जैसे एक ही अध्यापक पढ़ता भी है, चलता भी है, कमण्डलु उठाता है, रास्ता देखता है, जंगल में होने वाले शब्द सुनता है, उनसे डरता है, सांप के निशान को देखना चाहता है, गन्तव्य स्थान का स्मरण करता है—यों इस अध्यापक की इन क्रियाओं में क्रमिक ग्रहण न होने से ये क्रियाएँ एक साथ ही हुईं—ऐसा मानना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में मन में अनेकत्वप्रसङ्ग हुआ कि नहीं ? ॥ ५७ ॥

उत्तर—

अलातचक्र की तरह, उन क्रियाओं की युगदुपलब्धि आशुसंचार से हो जाती है ॥५८॥

अति शीघ्र घूमने से घूमते हुए अलात (जलती लकड़ी) में विद्यमान क्रम जैसे ज्ञात नहीं होता, क्रम के अग्रहण से वहाँ अविच्छिन्नत्व बुद्धि होने लगती है; उसी तरह बुद्धि तथा क्रियाओं में अतिशैघ्र्य होने से उनमें विद्यमान क्रम ज्ञात नहीं हो पाता। क्रम के अज्ञात रहने से वहाँ युगपत् क्रियाएँ हुईं—ऐसा भ्रम होता है। वस्तुतः ये क्रियायें क्रमिक ही हैं।

शङ्का—

यहाँ क्रम के अग्रहण से युगपत् क्रिया का भ्रम है ? या क्रियाओं के युगपद् होने से वहाँ क्रियायौगपद्य गृहीत होता है ?—इनमें से हम किस बात को उचित समझें; किसी पक्ष में कोई हेतु दीजिये ?

उत्तर—कहा तो कि विषयान्तर में इन्द्रियान्तरों का ज्ञान क्रमिक ही होता है, इसके स्वसिद्ध (प्रत्यात्मवेदनीय) होने से। इस सिद्धान्त का आप खण्डन नहीं कर सकते। एक

आत्मप्रत्यक्षत्वात् । अथापि दृष्टश्रुतानर्थान् चिन्तयतः क्रमेण बुद्धयो वर्तन्ते, न युगपत्–अनेनानुमातव्यमिति । वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात्क्रमस्याग्रहणम् । कथम् ? वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति, पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति, सम्बद्धाँश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते । न चासां क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात् क्रमो गृह्यते, तदेतदनुमानमन्यत्र बुद्धिक्रिया-यौगपद्याभिमानस्येति ।

न चास्ति मुक्तसंशया युगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनाम्, यया मनसां बहुत्वमेक-शरीरेऽनुमीयेत इति ॥ ५८ ॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ५९ ॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयः; ज्ञानायौगपद्यात् । महत्त्वे मनसः सर्वे-न्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति ॥ ५९ ॥

अदृष्टनिष्पाद्यत्वपरीक्षाप्रकरणम् [६०-७२]

मनसः खलु भोः ! सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभः, नान्यत्र शरीरात् । ज्ञातुश्च

बात और–दृष्ट या श्रुत अर्थों को विचारती हुई बुद्धि क्रम से ही प्रवृत्त होती है, एक साथ सर्वत्र नहीं, इससे अनुमान होता है कि ज्ञान क्रमिक होते हैं । वर्ण, पद, तथा वाक्य और उनके अर्थ ज्ञानों के क्रम का ग्रहण उनमें आशुवृत्तित्व होने से नहीं हो पाता । कैसे ? वाक्यस्थ वर्णों के उच्चारण करने पर प्रत्येक वर्ण का श्रवण होता है, सुना गया एक या अनेक वर्ण पदरूप से जोड़ा जाता है, जोड़ कर उसे पदरूप से समझा जाता है । पदरूप से समझकर अर्थ की स्मृति से उस पाद का अर्थ समझा जाता है; इसी तरह पदसमूह को याद कर उन्हें वाक्यरूप में समझा जाता है । पदों के सम्बद्ध रूप में अर्थ को याद कर वाक्यार्थ समझा जाता है । इन सभी क्रियाओं तथा बुद्धियों में, अतिशीघ्रता हो जाने से क्रम गृहीत नहीं हो पाता । वस्तुतः हैं तो ये सब क्रमिक ही । इसी तरह अन्यत्र भी क्रियां के बुद्धिगत यौगपद्य-भ्रम के बारे में समझ लें ।

वस्तुतः उभयवादिसम्मत ज्ञानों की ऐसी कोई संशयरहित युगपद् उत्पत्ति नहीं है, जिससे एक शरीर में मन का अनेकत्व अनुभूत हो सके ॥ ५८ ॥

यथोक्त (ज्ञानायौगपद्य) हेतु से मन का अणुत्व भी सिद्ध होता है ॥ ५९ ॥

'मन अणु है तथा एक है' यह धर्मसमुच्चय भी तभी सिद्ध होता है जब हम ज्ञानायौग-पद्य सिद्धान्त मानते हैं । अन्यथा मन के 'महत्' होने पर इसका एक ही समय में अनेक इन्द्रियों के साथ संयोग होकर अनेक ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे । होते हैं नहीं; अतः सिद्ध है कि मन अणु तथा एक है ॥ ५९ ॥

इन्द्रियसहित मन का शरीर में ही रहना मिलता है, शरीर से अन्यत्र नहीं । ज्ञाता

पुरुषस्य शरीरायतना बुद्ध्यादयो विषयोपभोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च, सर्वे च शरीराश्रया व्यवहाराः। तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः—किमयं पुरुष-कर्मनिमित्तः शरीरसर्गः? आहोस्विद् भूतमात्रादकर्मनिमित्त इति?—श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति।

तत्रेदं तत्त्वम्—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ६० ॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तम्, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानम्, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति। यदधिष्ठानोऽय-मात्मा–'अयमहम्' इति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयमनुप-लभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरम्। तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन पतितेऽस्मिन् शरीरे उत्तरं निष्पद्यते, निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीर-वत् पुरुषार्थक्रिया, पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरसर्गे सत्येतदुपपद्यते इति। दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतीनामुत्पत्तिः। तयाऽनुमातव्यम्—

पुरुष के बुद्ध्यादि गुण, विषयोपभोग—हेय का त्याग और ईप्सित की प्राप्ति—आदि सभी व्यवहार शरीर का ही आश्रय लिये हुए हैं। यहाँ विप्रतिपत्ति होने पर संशय होता है कि क्या यह शरीर पुरुषकर्मनिमित्तक है? या विना किसी कर्मनिमित्त से भूतों के सम-वाय से हो जाता है? यहाँ यह विप्रतिपत्ति सुनायी देती है।

यद्यपि वास्तविकता यह है—

पूर्वजन्मकृत फलानुबन्ध से शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ६० ॥

पूर्व जन्म में शरीर, वाणी या बुद्धि द्वारा किये गये कार्य पूर्वकृत कर्म कहलाते हैं। उससे उत्पन्न हुए धर्म तथा अधर्म उसके फल हैं। उस फल का अनुवन्ध जीव का आत्मा में रहना है। उस अनुवन्ध से प्रयुक्त भूतों द्वारा ही उस जीव की शरीरोत्पत्ति होती हैं; न कि स्वतन्त्रतया भूतों से। जिसका सहारा लेकर यह आत्मा 'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता हुआ सम्बद्ध हो, विषयोपभोग की कामना से विषयों को चाहता हुआ विषयों की उपलब्धि नहीं करता हुआ धर्म तथा अधर्म का संस्कार करता है, स्थिर वनाये रखता है वह 'शरीर' है। इस शरीर के विनष्ट होने पर भूतसहित धर्माधर्मलक्षणक उस संस्कार से दूसरा शरीर वनता है। वनने पर इस दूसरे शरीर की भी पहले की तरह पुरुषार्थ-क्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। पुरुष (आत्मा) की भी पहले की तरह प्रवृत्ति होने लगती है। ये उपर्युक्त सब बातें कर्म की अपेक्षा रखनेवाले भूतों से शरीर-सृष्टि होने से ही उपपन्न हो पाती हैं। लोक में भी पुरुषसम्बन्धी प्रयत्न द्वारा प्रमृक्त भूतों से

शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्पद्यमानम् पुरुषस्य गुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यत इति ॥ ६० ॥

अत्र नास्तिक आह—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत् तदुपादानम् ? ॥ ६१ ॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते, तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वादुपादीयते इति ? ॥ ६१ ॥

न; साध्यसमत्वात् ॥ ६२ ॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या, तथा सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः । साध्यसमत्वादसाधनमिति । 'भूतेभ्यो मूर्त्युत्पादनवत्' इति चानेन साध्यम् ॥ ६२ ॥

न; उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६३ ॥

विषमश्चायमुपन्यासः । कस्मात् ? निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते, बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः । मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते । तत्र

पुरुषार्थक्रियासमर्थ रथ-आदि द्रव्यों की उत्पत्ति देखी जाती है । उससे अनुमान करना चाहिये कि शरीर भी पुरुषार्थक्रियासमर्थ उत्पन्न होता हुआ पुरुष के (धर्माधर्म) गुणान्तरापेक्ष भूतों से उत्पन्न होता है ॥ ६० ॥

तथापि यहाँ पुनर्जन्म न माननेवाला नास्तिक (चार्वाक) कहता है—

भूतों से अन्यद्रव्योत्पत्ति की तरह शरीरोत्पत्ति होती है ॥ ६१ ॥

जैसे लोक में कर्मनिरपेक्ष भूतों द्वारा निर्मित, मिट्टी, धूल, पत्थर, गेरु, अञ्जन आदि द्रव्य उपभोग साधन होने से प्राप्त किये जाते मिलते हैं; उनमें अदृष्ट सहायक नहीं होता; उसी तरह यह शरीर भी भूतों से उत्पन्न हुआ पुरुषार्थ-साधन होने से उपादेय है, इसमें कर्म (अदृष्ट) की क्या अपेक्षा है ?

इस हेतु के साध्यसम होने से (आप ऐसा) नहीं (कह सकते) ॥ ६१ ॥

जैसे आपको 'अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्ध करनी है, उसी तरह 'उक्त सिकतादि द्रव्यों की सृष्टि भी अकर्मनिमित्तक हैं'—यह भी आपको सिद्ध करना पड़ेगा; अतः इस हेतु के साध्यसम होने से यह हेत्वाभास हैं, अतः इससे कोई अनुमान नहीं बन सकता ॥ ६२ ॥

अथवा, भूतों द्वारा सिकता-पाषाणादि के उत्पादनसे इस शरीरोत्पत्ति की समानता नहीं है; क्योंकि इस में माता-पिता निमित्त हैं ॥ ६३ ॥

आपका सिकतापाषाणादि का दृष्टान्त प्रकृत से विरुद्ध है, क्योंकि उक्त सिकतादि द्रव्य निर्बीज उत्पन्न होते हैं और यह शरीरोत्पत्ति (माता-पिता के) बीज से होती है ।

सत्त्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म, पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाश्रये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति ॥ ६३ ॥

तथाऽऽहारस्य ॥ ६४ ॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम्। भुक्तम् पीतम् = आहारः तस्य पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यम् मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकम्, मात्रया चोपचयो बीजे यावद्व्यूहसमर्थं सञ्चयः इति। सञ्चितं चार्बुदमांसपेशी-कललकण्डरशिरःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूह्यते, व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति। न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पत इति। एतस्मात् कारणात् कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायते इति ॥ ६४ ॥

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६५ ॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते। तत्रासति कर्मणि न भवति,

---

'मातापितृ'-शब्द से उनके रजःशुक्र बीजरूप में गृहीत होते हैं। उनमें से प्राणी को गर्भवास के दुःखादि अनुभावक कर्म के अनुरूप भोगने पड़ते हैं तथा माता-पिता को पुत्र-जन्म-सुखादि के अनुभावक कर्म होते हैं। इस प्रकार ये सब कर्म मिलकर माता के गर्भाशय में शरीरोत्पाद को भूतों के सहारे प्रयुक्त करते हैं—यों बीज शरीरोत्पत्ति में साक्षात्कारण सिद्ध हो गया ॥ ६३ ॥

तथा आहार के ॥ ६४ ॥

शरीरोत्पत्तिनिमित्तक होने से यह शरीरोत्पाद निर्निमित्तक नहीं है। खाया पीया हुआ अन्न-जल 'आहार' कहलाता है। उस आहार के पाक से बना रसद्रव्य मातृ-शरीर में उपचित गर्भाशयस्थ बीज में सम्मिलित होकर उसके तुल्य पाकवाला हो जाता है, वह उस बीज में इतनी मात्रा में सम्मिलित होता है कि गर्भ की आकृति बन जाये। सम्मिलित हुआ वह रस अर्बुद, मांसपेशी, कलल, कण्डरा (स्नायु), सिर, हाथ-पैर आदि आकारों द्वारा इन्द्रियाधिष्ठान-भेद से अवयवी बनता जाता है। और गर्भनाडी से पहुँचा हुआ रस उस आकार में उपचित होता रहता है जब तक कि प्रसव न हो जाये। यह इतनी लम्बी-चौड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया स्थाल्यादिगत अन्नपान (आहार) के बारे में कल्पित नहीं की जा सकती। इस कारण, 'शरीर कर्मनिमित्त है'—ऐसा समझा जाता है ॥ ६४ ॥

दम्पति-संयोग में नियम न होने से भी ॥ ६५ ॥

लोक में सभी स्त्री-पुरुषों का संयोग गर्भस्थिति का हेतु नहीं देखा जाता। वैसा (गर्भस्थित्यनुकूल) अदृष्ट कर्म न रहने से गर्भस्थिति नहीं होती, अनुकूल अदृष्ट होने से गर्भस्थिति हो जाती है। इस रीति से नियमाभाव उपपन्न नहीं हुआ। कर्मनिरपेक्ष भूतों को शरीरोत्पत्तिहेतु मानने पर नियम बन जायेगा कि सभी स्त्री-पुरुषों का संयोग शरीरो-

सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति, कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्ति-हेतुषु नियमः स्यात् । न ह्यत्र कारणाभाव इति ॥ ६५ ॥

अथापि—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६६ ॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनां च स्नायुत्वगस्थिशिरापेशीकललकण्डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थ्नां च कोष्ठगानां वातपित्तकफानां च मुखकण्ठहृदयामाशयपक्वाशयाधःस्रोतसां च परम-दुःखसम्पादनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षैरुत्पाद-यितुमिति 'कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिः' इति विज्ञायते ।

एवं च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैरात्मभिः सम्बन्धात् सर्वात्मनां च समानः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरम्, पृथिव्यादिगतस्य च नियम-हेतोरभावात् सर्वात्मना सुख-दुःखसंवित्त्यायतनं समानं प्राप्तम् ?

यत्तु प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते, तत्र शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते । परिपच्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते

त्पत्ति कर सकेगा; क्योंकि इस नियम के न वनने में कोई विरोधी कारण आप नहीं दिखा सकते । हमारे मत में तो अदृष्ट कर्म विरोधी कारण है ॥ ६५ ॥

एक बात और—

वह अदृष्टकर्म शरीरोत्पत्तिनिमित्त की तरह संयोगोत्पत्ति का भी निमित्त है ॥ ६६ ॥

जैसे यह सूक्ष्मावयवारब्ध शरीर वना हुआ है, जिसमें कि स्थूलसूक्ष्म धातु तथा प्राणवाही नाडियों, शुक्रपर्यन्त सात धातुओं, स्नायु-त्वक्-अस्थि-शिरा-पेशी-कलल-कण्ड-राओं, शिर-वाहु-उदर, जाँघ, कोष्ठगत वात-पित्त-कफ, मुख-कण्ठ-हृदय-आमाशय-पक्वा-शय-अधःस्रोतों (मलमूत्रेन्द्रियों) को यथास्थान एकत्र कर उन्हें आकार देना अतीव कष्टसाध्य है, अतएव कर्मनिरपेक्ष पृथिवी-आदि जड़ महाभूतों द्वारा ऐसा उत्पाद होना अशक्य ही है, अतः 'शरीरोत्पत्ति कर्मनिमित्तक ही है'—ऐसा समझ में आता है ।

शङ्का—इस तरह प्रत्यात्मनियत किसी निमित्त के अभाव होने से समानतया स्थित सभी जीवात्माओं से सम्वन्ध होने के कारण सभी आत्माओं के लिये पृथिवी-आदि से उत्पादित यह शरीर समान है और पृथिव्यादि में भी कोई व्यावर्तक हेतु न होने से सभी आत्माओं के सभी शरीर होने से सुख-दुःखसंवित्ति का समान रूप से अधिष्ठान होने लगेगा ?

उत्तर—'एक आत्मा का एक शरीर अधिष्ठान है—इस व्यवस्था में शरीरोत्पत्ति-निमित्तक कर्म हेतु है'—ऐसा समझा जाता है । परिपाक को प्राप्त हुआ प्रत्यात्मनियत कर्माशय जिस आत्मा में रहता है, उसी के लिये एक उपभोगाधिष्ठान शरीर उत्पन्न कर उसी शरीर के साथ उस आत्मा के संयोग को उपभोग का साधन वनाता है । इस प्रकार

तस्यैवोपभागायतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति। तदेवम् 'शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगनिमित्तं कर्म' इति विज्ञायते। प्रत्यात्मव्यवस्थानं तु शरीरस्यात्मना संयोगं प्रचक्ष्महे इति ॥ ६६ ॥

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ॥ ६७ ॥

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते, अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेनानियमः प्रत्युक्तः। कस्तावदयं नियमः ? यथैकस्यात्मनः शरीरं तथा सर्वेषामिति नियमः। अन्यस्यान्यथा, अन्यस्यान्यथेत्यनियमो भेदो व्यावृत्तिर्विशेष इति। दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिः—उच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति, प्रशस्तं निन्दितमिति, व्याधिबहुलमरोगमिति, समग्रं विकलमिति, पीडाबहुलं सुखबहुलमिति, पुरुषातिशयलक्षणोपपन्नं विपरीतमिति, प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति, पट्विन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति। सूक्ष्मश्च भेदोऽपरिमेयः।

सोऽयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियतात् कर्मभेदादुपपद्यते। असति कर्मभेदे प्रत्यात्मनियते निरतिशयित्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादिगतस्य नियमहेतोरभावात्

जैसे वह अदृष्ट शरीरोत्पत्ति में मिमित्त है, उसी तरह उस आत्मा का उस शरीर से उपभोगक्षम सम्बन्ध कराने में भी वही निमित्त है, ऐसा समझ में आता है। 'प्रत्यात्मव्यवस्था' का तात्पर्य हम 'उस शरीर से उसी आत्मा का संयोग' कहते हैं ॥ ६६ ॥

अव अकर्मनिमित्त शरीरोत्पत्तिरूप साङ्ख्यमत का खण्डन करते हैं—

इस (उपर्युक्त व्यवस्था) से (सांख्यसम्मत) अनियमवाद का भी उत्तर दे दिया गया ॥ ६७ ॥

जो यह 'अकर्मनिमित्तक ही शरीरसृष्टि होती है, इसमें अनियम होगा'—ऐसा कहा था, वह भी प्रत्याख्यात हो गया। नियम क्या है ? 'एक आत्मा के शरीर की तरह सब आत्माओं को शरीर होता है'—यह नियम है। 'किसी की एक तरह और किसी की दूसरी तरह शरीरोत्पत्ति होती है' यह अनियम है। इसी को भेद, व्यावृत्ति या विशेष कह देते है। यह विशेषता लोक में देखी भी जाती है, जैसे—एक शरीर उच्च कुल में उत्पन्न होता है, दूसरा नीच कुल में; एक शरीर पूजित होता है, दूसरा निन्दित; एक शरीर सुन्दर, सभी अवयवों से सम्पन्न होता है, दूसरा वेडोल, टेढे-मेढे अवयवों वाला; एक शरीर सुख भोगनेवाला, दूसरा हमेशा दुःख के पालने में झूलनेवाला; एक शरीर सत्पुरुषों के लक्षणों से युक्त, दूसरा चोर डाकू-आदि परवञ्चक पुरुषों के चिह्नों से युक्त; एक सुलक्षण, दूसरा कुलक्षण; एक कार्यकुशल, दूसरा अकुशल—ये कुछ मोटे-मोटे भेद गिना दिये। सूक्ष्म भेद तो अपरिमेय तथा असंख्य हैं।

यह उपर्युक्त जन्मभेद प्रत्यात्मनियत कर्मभेद से उपपन्न होता है।

यदि प्रत्यात्मनियत कर्मभेद न मानोगे तो आत्माओं में समानता होने तथा पृथिवी-आदि के पृथिव्यादिगत नियमहेतु के अभाव से सभी आत्माओं को समान शरीर उत्पन्न

सर्वं सर्वात्मनां प्रसज्येत ! न त्विदमित्थम्भूतं जन्म, तस्मान्नाकर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति।

उपपन्नश्च तद्वियोगः; कर्मक्षयोपपत्तेः। कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः। कस्मात्? कर्मक्षयोपपत्तेः। उपपद्यते खलु कर्मक्षयः। सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतु कर्म कायवाङ्मनोभिर्न करोति इत्युत्तरस्यानुपचयः, पूर्वोपचितस्य विपाकप्रतिसंवेदनात्प्रक्षयः। एवं प्रसवहेतोरभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसन्धिः। अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्तिरिति॥ ६७॥

तददृष्टकारितमिति चेत्[1]? पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे॥ ६८॥

'अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः। न जात्वनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं पश्यति, तच्चास्य दृश्यं द्विविधम्—विषयश्च, नानात्वं चाव्यक्तात्मनोः; तदर्थः शरीरसर्गः। तस्मिन्नवसिते चरितार्थानि

होने लगेगा। जबकि ऐसा लोक में देखा नहीं जाता। अतः मानना पड़ेगा कि शरीरोत्पत्ति कर्मनिमित्तक ही है।

इस सिद्धान्त से, तन्निमित्तक कर्मों के क्षीण होने पर उस शरीर का नाश भी सम्भव है। जब हम कर्मनिमित्तकशरीरसृष्टिसिद्धान्त मान लेते हैं तो उस सिद्धान्त से 'एक न एक दिन शरीर-आत्मा का वियोग' भी सिद्ध है; क्योंकि जिन कर्मों से वह शरीर उत्पन्न हुआ, वे कभी न कभी तो क्षीण होंगे ही, उस दिन उक्त वियोग सम्भव है। कर्म क्षीण होते हैं—यह बात युक्ति से भी समझ में आ जाती है। क्योंकि प्रमाणादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अज्ञान (मोह) के नष्ट होने पर तन्मूलक राग दूर हो जाता है, राग के दूर होने पर पुनरुत्पत्तिकारण त्रिविध (शरीर वाणी या मन से) कर्म नहीं होते कि जिनके उपभोग के लिए पुनः शरीरोत्पत्ति हो, यों आगामी कर्म बनेंगे नहीं, पिछलों का उपभोग से क्षय हो चुका। इस प्रकार, उत्पत्तिहेतु के न रहने से वर्तमान शरीर के विनष्ट होने पर पुनः शरीरान्तरोत्पाद में प्रतिसन्धान नहीं होगा। अकर्मनिमित्तक शरीर सृष्टि मानने पर भूतों के क्षीण न होने से शरीरपरम्परा कभी रुकेगी नहीं तो आपके (सांख्य के) मत में अपवर्ग कैसा!॥ ६७॥

वह शरीरवियोग अदृष्टकारित है, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि यों तो अपवर्ग के बाद भी अदृष्टवशात् पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी॥ ६८॥

शङ्का—'अदृष्ट' से तात्पर्य है 'अदर्शन'। भूतों से शरीरोत्पत्ति अदृष्टवश होती है; क्योंकि विना शरीर के उत्पन्न हुए अधिष्ठान के विना द्रष्टा (पुरुष) दृश्य को देखेगा कैसे! इसका यह दृश्य दो प्रकार का है—१. दृश्य, तथा २. अव्यक्त व आत्मा का

---

१. एतावत्पर्यन्तं भाष्यान्तर्गतं क्वचित्पुस्तके।

भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोगः' इति, एवं चेन्मन्यसे ?

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे। पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यते इति। या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमता, या चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता—नैतयोरदर्शनयोः क्वचिद्विशेष इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

चरितार्थता विशेष इति चेत् ?

न; करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्[1]। चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्ते इत्ययं विशेषः—एवं चेदुच्यते ? न; करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्। चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात् पुनः पुनः शरीरारम्भो दृश्यते, प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणान्निरर्थकः शरीरारम्भः पुनर्दृश्यते। तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता, युक्ता तु कर्मनिमित्ते सर्गे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः।

नानात्व, उसके लिये यह शरीरोत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति के हो जाने पर भूत अपना कार्य कर चुके—अतः पुनः शरीरोत्पत्ति न करेंगे, यों शरीरवियोग हमारे मत में भी उपपन्न है ?

उत्तर—यदि ऐसा मानते हो तो अपवर्ग के वाद भी उस दृश्य के लिए शरीरोत्पाद होना कौन रोकेगा ! अतः पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी; क्योंकि आपकी दोनों वातों में शरीरोत्पत्ति के पूर्व दर्शनाभावात्मक अदर्शन और शरीरध्वंस (अपवर्ग) में होनेवाला दर्शनाभावात्मक अदर्शन—दोनों में अन्तर क्या हुआ ! अतः उक्त अदर्शन की निवृत्ति न होने से अपवर्गानन्तर भी शरीरोत्पादप्रसङ्ग हो सकता है।

शङ्का—उक्त प्रथम अदर्शन में प्रकृतिपुरुष का नानात्वादृश्यत्व करना ही प्रयोजन है, वह निवृत्त कर देने से शरीरोत्पत्ति का प्रयोजन समाप्त हो गया, अव अपवर्ग के वाद उसके निष्प्रयोजन होने से वह शरीरोत्पत्ति नहीं करेगा ?

आप करण तथा अकरण का आरम्भ देखा जाने से ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उक्त कार्य कर देने से चरितार्थ होने पर भी भूतों द्वारा पुनः पुनः विषयोपलब्धिनिमित्तवशात् शरीरारम्भ देखा जाता है; दूसरे, प्रथम प्रकार का अदर्शन तो प्रथम शरीरोत्पत्ति से ही निवृत्त हो गया, अव द्वितीय प्रकार के दर्शनहेतु में पुनः पुनः शरीरोत्पत्ति होगी, तव भी उक्त नानात्व के दर्शन के न होने पर भी पुनः पुनः शरीरारम्भ होता है। तो 'अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्धान्त में दर्शन के लिये भूतसृष्टि का मानना अनुपपन्न ही है। 'कर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति' सिद्धान्त में दर्शवमात्र के लिए हुई भूतसृष्टि उपपन्न हो सकती है। अतः यही सिद्धान्त उचित है।

---

१. न्यायसूचीनिबन्धे न परिगणितम्, वृत्तिकृता च न व्याख्यातमतो नैतत्सूत्रमपि तु भाष्यमेव।

कर्मविपाकसंवेदनं दर्शनमिति । तददृष्टकारितमिति कस्यचिद्दर्शनम्–अदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुः, तेन प्रेरिताः परमाणवः सम्मूर्छिताः शरीरमुत्पादयन्तीति ? तत्र मनः समाविशति स्वगुणेनादृष्टेन प्रेरितम् । समनस्के शरीरे द्रष्टुरुपलब्धिर्भवतीति ?

एतस्मिन् वै दर्शने गुणानुच्छेदात् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे । अपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्यादृष्टस्यानुच्छेद्यत्वादिति ॥ ६८ ॥

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ६९ ॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात्, तत्र किंकृतं शरीरादपसर्पणं मनस इति ! कर्माशयक्षये तु कर्माशयान्तराद्विपच्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति । अदृष्टादेवापसर्पणमिति चेत्–योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः, स एवापसर्पणहेतुरपीति ? न; एकस्य जीवनप्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः । एवं च सति एकमदृष्टं जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तम्, नैतदुपपद्यते ॥ ६९ ॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७० ॥

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणम्, कर्माशयान्तराच्च

जैनमतखण्डन—

१. कुछ वादी कर्मविपाक संवेदन (कर्मफलभोग) को (अदृष्टजन्य) मानते हैं । वे उस 'अदृष्टकारित' का यो प्रतिपादन करते हैं—परमाणुओं का गुणविशेष 'अदृष्ट' है, वह क्रियाकारण है । उस कारण से इकट्ठे हुए पार्थिवादि परमाणु शरीर को उत्पन्न करते हैं, अदृष्टं स्वगुण से प्रेरित होकर मन उस शरीर में प्रविष्ट हो जाता है । उक्त सांख्याभिमत द्रष्टा के इस मनःसहित शरीर से दृश्योपलब्धि होती है ?

इस मत में भी उक्त अदृष्ट गुणविशेष का उच्छेद न होने से, अपवर्गानन्तर भी शरीरोत्पाद हो ही सकता है, अतः यह मत भी सदोष है ॥ ६८ ॥

२. इसी मत में दूषणान्तर दिखाते हैं—

मनःकर्मनिमित्त मानने पर उसका संयोगोच्छेद नहीं बनेगा ॥ ६९ ॥

अदृष्ट स्वगुण से प्रेरित मन जब एक वार शरीर में प्रविष्ट हो गया तो फिर वह उस शरीर से वियुक्त क्यों होगा, जबकि वैसा कोई कारण न हो ! 'कर्मनिमित्तक उत्पत्ति' सिद्धान्त में कर्म के क्षीण होने से वह मन उस शरीर से वियुक्त हो सकता है । यदि यह कहें कि उसी स्वगुण अदृष्ट से, जो संयोग कराता हैं, वियोग भी हो जायेगा ? तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि एक ही कारण जीवन तथा मृत्यु का कारक नहीं बना करता, जबकि आप उस एक ही कारण को जीवन तथा मृत्यु का कारक वता रहे हैं ! अतः यह मत भी समीचीन नहीं ॥ ६९ ॥

विनाश (मृत्यु) न होने से शरीर में नित्यत्व-प्रसङ्ग होने लगेगा ॥ ७० ॥

विपाक (कर्मफल) क भोग से उस कर्माशय के क्षीण होने पर शरीरनाश (मृत्यु) हो जाता है, तथा अन्य कर्माशय होने पर 'जन्म' होता है । यदि कर्मनिरपेक्ष भूतमात्र

पुनर्जन्म। भूतमात्रात्तु कर्मनिरपेक्षाच्छरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयाच्छरीरपातः प्रायणमिति–प्रायणानुपपत्तेः खलु वै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः। यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति ॥ ७० ॥

पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्ग इत्येतसत् माधित्सुराह—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ? ॥ ७१ ॥

यथा अणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिविद्धा न पुनरुत्पद्यते, एवमदृष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यत इति ? ॥ ७१ ॥

न; अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७२ ॥

नायमस्ति दृष्टान्तः, कस्मात् ? अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अकृतम् = प्रमाणतोऽनुपपन्नम्, तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः। एतच्छ्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम्। तस्मान्नायं दृष्टान्तः। न प्रत्यक्षं न चानुमानं किञ्चिदुच्यत इति। तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयत इति।

अथ वा—नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अणुश्यामतादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां

से शरीरोत्पत्ति मानें तो किसके क्षीण होने पर शरीरनाश होगा ! जब शरीरनाश नहीं होगा तो उसमें नित्यत्व आ गया—ऐसा हम समझते हैं। निष्कर्ष यह है कि स्वेच्छया नाश मानें तो कदाचित् तब भी नाश अनुपपन्न ही है ॥ ७० ॥

इस मत में, अपवर्ग के बाद पुनः शरीरोत्पत्ति होने लगेगी—इस शंका का समाधान करना चाहते हुए कहते हैं—

अणु की श्यामता के नित्यत्व की तरह यह शरीर अपवर्ग होने पर विनष्ट हो जायेगा ? ॥ ७१ ॥

जैसे अणु की श्यामता (कृष्णरूप) नित्य हैं; क्योंकि वह अग्निसंयोग से एक बार विनष्ट होकर पुनः उत्पन्न नहीं होती; उसी तरह अपवर्ग होने पर हमारे मत में पुनः शरीरोत्पत्ति नहीं होगी ? ॥ ७१ ॥

अकृताभ्यागम दोष होने से यह दृष्टान्त उचित नहीं ॥ ७२ ॥

यह दृष्टान्त यहाँ देना उचित नहीं; क्योंकि स्वयं इसमें अकृताभ्यागम दोष है। 'अकृत' अर्थात् प्रमाण से अनुपपन्न, उसका अभ्यागम अर्थात् अभ्युपपत्ति (स्वीकृति), व्यवसाय। श्यामता के दृष्टान्त से शरीरोत्पत्ति न माननेवाले को प्रमाण से अनुपपन्न (अपने हठ को सिद्ध करने के लिये प्रमाणादि की आवश्यकता न माननेवाला) ही समझना चाहिये। अतः यह दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान को सहारा लेकर नहीं कहा जा रहा है। यों यह दृष्टान्त स्वयं साध्य होने से असिद्ध है

अथवा सूत्र का व्याख्यान यों समझना चाहिये—अणु श्यामता के दृष्टान्त से

शरीरोत्पत्तिं समादधानस्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत। ओमिति ब्रुवतः प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः।

प्रत्यक्षविरोधस्तावद्—भिन्नमिदं सुखदुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम्। को भेदः? तीव्रं मन्दं चिरमाशु नानाप्रकारमेकप्रकारमिति एवमादिर्विशेषः। न चास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःखहेतुविशेषः, न चासति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते। कर्मनिमित्ते तु सुखदुःखयोगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः कर्मसञ्चयानां चोत्कर्षापकर्षभावान्नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः। सोऽयं हेतुभेदाभावाद् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः!

तथाऽनुमानविरोधः—दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात् सुखदुःखव्यवस्थानम्। यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्तनीयं सुखं बुद्ध्वा तदीप्सन् साधनावाप्तये प्रयतते स सुखेन युज्यते, न विपरीतः। यश्च साधननिर्वर्तनीयं दुःखं बुद्ध्वा तज्जिहासुः साधनपरिवर्जनाय यतते स च दुःखेन त्यज्यते, न विपरीतः। अस्ति

अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति माननेवाले को अकृताभ्यागम-प्रसङ्ग होगा; क्योंकि तब पुरुष सुख-दुःख कारणों वाले कर्म को न करने पर भी सुख-दुःख प्राप्त करने लगेगा। यदि यह अकृताभ्यागम स्वीकार करते हो तो आपके इस मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—तीनों ही प्रमाणों से विरोध उपस्थित होगा।

१. प्रत्यक्षप्रमाण-विरोध, जैसे—सभी प्राणियों के ये प्रत्यात्मवेदनीय सुख-दुःख प्रत्यक्षतः भिन्न-भिन्न देखे जाते है। भेद क्या है? कोई सुख-दुःख तीव्र तथा कोई मन्द होता है, कोई चिरकाल तथा कोई अल्पकाल तक ठहरता है। यों, नाना प्रकार तथा एक प्रकार का देखा जाने से उसमें भेद ज्ञात होता है। परन्तु आपके मत में नियत सुख-दुःखहेतु विशेष नहीं दिखायी देता, हेतुविशेष के न रहने पर फलभेद भी नहीं होगा। कर्मनिमित्तक सुख-दुःखसम्बन्ध मानने पर, कर्मों की तीव्रता या मन्दता के उपपादन से या कर्म-सञ्चय के उत्कर्ष-अपकर्ष से उससे होने वाले सुख-दुःख में नानाप्रकारता तथा एकप्रकारता आ ही जायेंगी—अतः कर्मों से सुख-दुःख-भेद बन जायेगा। परन्तु आपके मत में हेतुभेद न होने से प्रत्यक्षदृष्ट सुख-दुःख-भेद उपपन्न न होगा—यह प्रत्यक्षप्रमाण से विरोध है!

२. अनुमानप्रमाण-विरोध, जैसे—पुरुषगुणानुरोध से सुख-दुःख की उत्पत्ति लोक में उपपन्न होती है। जो चेतन प्राणी साधन से उत्पादनीय सुख को प्रमाणों द्वारा जानकर उसको चाहता हुआ उक्त साधनप्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है तो वह सुखी होता है, दूसरा नहीं। और ज़ो साधनों से उत्पादनीय दुःख को प्रमाणों द्वारा जानकर उसको छोड़ने की इच्छा करता हुआ उक्त साधननिवृत्ति के लिये प्रयत्न करता है तो वह दुःखों से

चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःखव्यवस्थानम्, तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थाकृतेन भवितव्यमित्यनुमानम्। तदेतदकर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुध्यते इति। तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाददृष्टं विपाककालनियमाच्चाव्यवस्थितम्। बुद्ध्यादयस्तु संवेद्याश्चापवर्गिणश्चेति।

अथागमविरोधः—बहु खल्विदमार्षमृषीणामुपदेशजातमनुष्ठानपरिवर्जनाश्रयमुपदेशफलं च। शरीरिणां वर्णाश्रमविभागेनानुष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः, परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः। तच्चोभयमेतस्यां दृष्टौ, नास्ति कर्म सुचरितं दुश्चरितं वा, कर्मनिमित्तः पुरुषाणां सुखःदुखयोग इति विरुध्यते।

सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिः—'अकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिः, अकर्मनिमित्तः सुखदुःखयोगः' इति॥ ७२॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

❀ समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ❀

छुटकारा पा जाता है, दूसरा नहीं पाता। हाँ, कभी-कभी प्रत्यक्षतः पुरुषप्रयत्न के विना ही अतर्कित सुख-दुःख उपस्थित हो जाते हैं, इस प्रसङ्ग में यही अनुमान करना पड़ता है कि यह अतर्कित सुख-दुःख भी इस चेतन के किसी अन्य गुणविशेष के कारण उपपन्न हुआ है। यह अनुमान अकर्मनिमित्तक सृष्टि मानने पर नहीं वन सकता। यह अतर्कित सुखदुःखोत्पादक पुरुषगुणान्तर न प्रत्यक्ष है, न क्षणिक, अपितु बुद्धयादि पुरुषगुणों की तरह विलक्षण है; क्योंकि यह अदृष्ट गुणविशेष असंवेद्य है, परन्तु विपाककालनियम से वँधा हुआ नहीं है। जैसे बुद्धयादि मात्र संवेद्य भी हैं, तथा विनाशी भी।

३. आगमप्रमाण-विरोध, जैसे—यह हमारा साङ्गोपाङ्ग ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र, जिसमें ऋषियों के विधिनिषेधपरक उपदेश भरे पड़े हैं, तथा उन उपदेशों पर आचरण करने वालों के दृष्टान्त भी वर्णित हैं! इन शास्त्रों में प्राणियों के लिये वर्णाश्रमभेद से विधिपरक प्रवृत्ति तथा निषेधपरक निवृत्ति दिखायी गयी हैं। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति अकर्मनिमित्तक सृष्टि माननेवालों के मत में कैसे वनेगी; क्योंकि इनके मत में शुभाचरण या दुराचरण रूप कोई कर्म नहीं कि जिसका फल मिले, जब कि सुकर्म तथा निमित्त से ही सुख-दुःखोत्पत्ति होती हुइ देखी जाती है।

अतः 'शरीरोत्पत्ति अकर्मनिमित्तक है, सुख-दुःखसम्बन्ध भी अकर्मनिमित्तक है'—यह मिथ्यादृष्टि अतिशयेन पापपङ्कनिमग्न पुरुषों को ही हो सकती है, शास्त्रप्रमाणसम्पन्न आस्तिकजन तो समग्र सृष्टि को कर्मनिमित्तक ही मानते हैं, अतः उनके मत में कर्मों के क्षीण होने से अत्यन्तापवर्ग सम्पन्न होना उचित ही है॥ ७२॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन) में तृतीय अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त

❀ तृतीय अध्याय भी समाप्त ❀

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[प्रथममाह्निकम्]

प्रवृत्तिदोषसामान्यपरीक्षाप्रकरणम् [१–२]

मनसोऽनन्तरा प्रवृत्तिः परीक्षितव्या। तत्र खलु यावद्धर्माधर्माश्रयशरीरादि परीक्षितम्, सर्वा सा प्रवृत्तेः परीक्षेत्याह—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता[1] ॥ १ ॥

तथा परीक्षितेति ॥ १ ॥

प्रवृत्त्यनन्तरास्तर्हि दोषाः परीक्ष्यन्ताम् ? इत्यत आह—

तथा दोषाः ॥ २ ॥

परीक्षिता इति। बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भव-प्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसारहेतवः, संसारस्यानादित्वादनादिना प्रबन्धेन

उद्देशसूत्र (१. १. ९) में मन के बाद प्रवृत्ति का नाम गिनाया गया है, अतः मन की परीक्षा के बाद 'प्रवृत्ति' की परीक्षा किया जाना आवश्यक है। परन्तु पीछे जो धर्म, तथा अधर्म के आश्रयभूत शरीरादि की परीक्षा की गयीं, वे सब एक तरह से 'प्रवृत्ति' की ही परीक्षा हैं; क्योंकि प्रवृत्ति धर्माधर्मान्तःपाती है। अतः धर्माधर्म की परीक्षा से उसकी भी परीक्षा हो ही गयी—इसी आशय को लेकर (सूत्रकार) कहते हैं

प्रवृत्ति (शरीरादि की परीक्षा) जैसे पीछे वर्णित की जा चुकी है ॥ १ ॥

उस वर्णन से ही उसका परीक्षा हो चुकी। (पीछे हम जैसा उसका लक्षण कर आये हैं, उस लक्षण के सहारे जो कुछ भी हम प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर उसके बारे में कह चुके हैं, उसीसे इस (प्रवृत्ति) पर अच्छी तरह विचार किया जा चुका) ॥ १ ॥

तो फिर प्रवृत्ति के बाद परिगणित दोषों की ही परीक्षा कर लें ? इस पर कहते हैं—

उसी तरह दोष भी ॥ २ ॥

परीक्षित हो चुके। दोषों के प्रवृत्तितुल्य होने से पूर्वपरीक्षा से दोषों की भी परीक्षा हो चुकी। कहने का तात्पर्य यह है कि दोष बुद्धि के समानाश्रय हैं, यों वे भी आत्मगुण होते हुए प्रवृत्ति के हेतु हैं, और पुनर्जन्म की प्रतिसन्धि कराने में सामर्थ्य रखते हैं, अतः वे भी संसार के हेतु हैं, तथा संसार के अनादि होने से दोष भी अनादि सन्तानरूप

---

१. वार्तिककारास्तु सूत्रोक्तं यथाशब्दं द्वितीयसूत्रस्थेन 'तथा' शब्देन योजयन्ति। 'प्रवृत्तिर्यथोक्ता' तथा दोषा अपि इति तस्य हृदयम्।

प्रधर्तन्ते; मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात्, तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति प्रादुर्भावतिरोधानधर्मकाः–इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति ॥ २ ॥

दोषत्रैराश्यपरीक्षाप्रकरणम् [३-८]

'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (१. १. १८) इत्युक्तम्, तथा चेमे मानेर्ष्यासूया-विचिकित्सामत्सरादयः, ते कस्मान्नोपसङ्ख्यायन्ते ? इत्यत आह—

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां त्रयो राशयः, त्रयः पक्षाः । रागपक्षः—कामो मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभ इति; द्वेषपक्षः—क्रोध ईर्ष्या असूया द्रोहोऽमर्ष इति; मोहपक्षः—मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति; त्रैराश्यान्नोपसंख्यायन्ते इति ।

लक्षणस्य तर्ह्यभेदात्त्रित्वमनुपपन्नम् ? रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् नानुपपन्नम् । आसक्तिलक्षो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेषः, मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह इति । एतत्प्रत्यात्मवेदनीयं सर्वशरीरिणाम् । विजानात्ययं शरीरी रागमुत्पन्नम्–

से प्रवृत्त होते रहते हैं । (यों दोष प्रादुर्भाव-धर्म वाले हैं । उधर) तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, मिथ्याज्ञान-निवृत्ति से रागद्वेषसन्तति की उच्छेद हो जाता है, इस उच्छेद हेतु से अपवर्ग हो जाता है ! इस तरह दोष प्रादुर्भाव-विनाशवाले हैं । प्रसङ्ग-प्रसङ्ग (१. १. २, १. १. १८, ३. १. २५) पर जो कुछ दोषों के बारे में कहा जा चुका है वह सब इनकी परीक्षा ही समझी जानी चाहिये ॥ २ ॥

पीछे आप कह आये हैं कि 'दोष प्रवृत्ति के हेतु हैं' (१. १. १८) तो जब मान, ईर्ष्या, असूया, विचिकित्सा, मत्सर-आदि भी प्रवृत्ति के हेतु हैं; फिर इनकी गणना क्यों नहीं की गयी ? इस पर कहते हैं—

राग, द्वेष तथा मोह—इस भेद से उस दोष के तीन समूह हैं ॥ ३ ॥

उन दोषों तीन राशियाँ, तीन वर्ग हैं । १. रागपक्ष में, जैसे—काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ—इनका परिगणन होता है । २. द्वेषपक्ष में, जैसे—क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह तथा अमर्ष (—इनका परिगणन होता है) । ३. मोहपक्ष में, जैसे—मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान तथा प्रमाद (—इनका परिगणन होता है) । इस त्रिराशि के कारण ही उक्त सब का परिगणन नहीं किया गया ।

इस तरह तो लक्षण का भेद न होने से उक्त बहुविधत्व की तरह त्रित्व भी नहीं बनेगा ? क्यों नहीं बनेगा, जब कि राग द्वेष तथा मोह में अर्थभेद है । राग कहते हैं वस्तु में आसक्ति को । द्वेष कहते हैं किसी वस्तु में असहिष्णुतारूप अमर्ष को । तथा मोह मिथ्याज्ञान कहलाता है । यह प्राणी, जब इसे राग उत्पन्न होता है तो जानता है कि

अस्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति, विरागं च विजानाति—नास्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति। एवमितरयोरपीति। मानेर्ष्यासूयाप्रभृतयस्तु त्रैराश्यमनुपतिता इति नोपसंख्यायन्ते ॥ ३ ॥

न; एकप्रत्यनीकभावात् ? ॥ ४॥

नार्थान्तरं रागादयः, कस्मात् ? एकप्रत्यनीकभावात्। तत्त्वज्ञानम् = सम्यङ्मतिः, आर्यप्रज्ञा, सम्बोधः—इत्येकमिदं प्रत्यनीकं त्रयाणामिति ? ॥ ४ ॥

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन, एकयोनयश्च पाकजा इति ॥ ५ ॥

सति चार्थान्तरभावे—

तेषां मोहः पापीयान्, नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

मोहः पापः, पापतरो वा द्वावभिप्रेत्योक्तम्, कस्मात् ? नामूढस्येतरोत्पत्तेः। अमूढस्य रागद्वेषौ नोत्पद्येते, मूढस्य तु यथासङ्कल्पमुत्पत्तिः। विषयेषु रञ्ज-

---

उसके मन में रागधर्म उत्पन्न हो गया है। जब इसे वैराग्य होता है तब भी जानता है कि उसके मन में अब रागधर्म नहीं है। इसी तरह द्वेष तथा मोह के बारे में भी समझना चाहिये। मान, ईर्ष्या, तथा असूया-आदि इसी समूह में अन्तर्भूत हो जाते हैं—अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की गयी ॥ ३ ॥

उनका एक ही विरोधी होने से अर्थभेद नहीं है ? ॥ ४ ॥

रागादि अर्थान्तर नहीं हैं; क्योंकि उनका एक ही विरोधी है। तत्वज्ञान अर्थात् यथार्थमति, आर्यप्रज्ञा या सम्यग्बोध—यह एक इन तीनों का ही विरोधी है ॥ ४ ॥

व्यभिचारी होने से उक्त हेतु नहीं बनता ॥ ५ ॥

एकप्रत्यनीकत्व हेतु व्यभिचारी है; क्योंकि एकप्रत्यनीकत्व से किसी का नानात्व नष्ट नहीं हुआ करता; जैसे—पृथिवी में श्यामादि गुण एक ही अग्निसंयोग से नष्ट हो जाते हैं, तो क्या उनमें नानात्व न माना जाये! इसी तरह रूपादि गुण पाकरूपैककारणजन्य हैं, तो क्या उन सब में एकत्व मान लिया जाये! ॥ ५ ॥

यों अर्थान्तर सिद्ध करने के बाद कहते हैं—

उन तीनों में मोह अधिक अनर्थ की जड़ है; क्योंकि अमूढ को रागद्वेष नहीं हुआ करते ॥ ६ ॥

रागद्वेष की अपेक्षा से अतिशयबोधन के लिये मोह को पापतर कहा गया है; क्योंकि मोहरहित को रागद्वेष नहीं हुआ करते। मोहसम्पन्न को संकल्पानुसार रागद्वेष

नीयाः सङ्कल्पा रागहेतवः, कोपनीयाः सङ्कल्पा द्वेषहेतवः, उभये च सङ्कल्पा न मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणत्वान्मोहादन्ये, ताविमौ मोहयोनी रागद्वेषाविति। तत्त्वज्ञानाच्च मोहनिवृत्तौ रागद्वेषानुत्पत्तिरित्येकप्रत्यनीकाभावोपपत्तिः।

एवं च कृत्वा तत्त्वज्ञानाद् 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः' (१. १. २) इति व्याख्यातमिति ॥ ६ ॥

प्राप्तस्तर्हि—

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ? ॥ ७ ॥

अन्यद्धि निमित्तम्, अन्यच्च नैमित्तिकमिति दोषनिमित्तत्वाददोषो मोह इति ? ॥ ७ ॥

न; दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' (१. १. १८) इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोह इति ॥ ८ ॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

की उत्पत्ति हो जाती है। विषयों में रागविषयक सङ्कल्प रागहेतु हैं, कोपविषयक संकल्प द्वेष हेतु हैं। ये दोनों ही प्रकार के संकल्प मिथ्याज्ञानरूप होने से वस्तुतः मोह से अतिरिक्त नहीं हैं, अतः मोह के कारण ही ये रागद्वेष होते हैं। तत्त्वज्ञान से मोह निवृत्त होने पर रागद्वेष भी नहीं होते—यों एकविरोधिभाव भी वन जाता है।

इसी अर्थ का समर्थक पूर्वसूत्र—तत्त्वज्ञान से 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञानों में से उत्तरोत्तर के नष्ट हो जाने पर उससे पीछे वाले के न होने से अपवर्ग हो जाता है' (१. १. २) है, जिसकी विस्तृत व्याख्या पीछे यथास्थान की जा चुकी है ॥६॥

तव तो मोह का—

निमित्त-नैमित्तिकभाव होने के कारण दोषों से अर्थान्तरत्व ॥ ७ ॥

प्राप्त हुआ ?

'कारण कार्य से भिन्न होता है' यह सभी मानते हैं। इस तरह मोह यदि दोषों का निमित्त कारण है तो वह उनसे भिन्न होगा, तब मोह में दोषत्व कैसे रहेगा ? ॥ ७ ॥

मोह के दोषलक्षणों में जकड़ा रहने से ऐसा नहीं कह सकते ॥ ८ ॥

'दोष प्रवृत्ति के हेतु हैं' (१. १. १८) इस दोषलक्षण के मोह में भी घट जाने से यह भी दोषों में ही परिगणित हैं ॥ ८ ॥

निमित्त-नैमित्तिकोपपादन से तुल्यजातीयों का प्रतिषेध नहीं होता ॥ ९ ॥

द्रव्याणां गुणानां वाऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति ॥ ९ ॥

प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम् [१०–१३]

दोषानन्तरं प्रेत्यभावः ।

तस्यासिद्धिः; आत्मनो नित्यत्वात् । न खलु नित्यं किञ्चिज्जायते म्रियते वा इति जन्ममरणयोर्नित्यत्वादात्मनोऽनुपपत्तिः, उभयं च प्रेत्यभाव इति ?

तत्रायं सिद्धानुवादः—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

नित्योऽयमात्मा प्रैति—पूर्वशरीरं जहाति, म्रियते इति; प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति = जायते, शरीरान्तमुपादत्त इति । तच्चैतदुभयम् 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (१. १. १९) इत्यत्रोक्तम्—'पूर्वशरीरं हित्वा शरीरान्तरोपादानं प्रेत्यभावः' इति । तच्चैतन्नित्यत्वे सम्भवतीति ।

यस्य तु सत्त्वोत्पादः सत्त्वनिरोधः प्रेत्यभावः, तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः । उच्छेदहेतुवादे ऋष्युपदेशाश्चानर्थका इति ॥ १० ॥

तुल्यजातीय द्रव्यों तथा गुणों के पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक भाव में अनेक तरह का विकल्प देखा जाता है । अतः निमित्तनैमित्तिकभाव से मोह को दोष न मानना युक्त नहीं ॥ ९ ॥

दोष के बाद क्रमोपात्त प्रेत्यभाव की परीक्षा प्रारम्भ की जा रही है—

शङ्का—आत्मा के नित्य होने से प्रेत्यभाव नहीं बनता; क्योंकि जो नित्य है उसका न जन्म होता है न मरण । आत्मा के नित्य होने से उसमें जन्म-मरणरूप प्रेत्यभाव की उत्पत्ति नहीं बनती ?

इसका सिद्धान्तवर्णन यह है—

आत्मा के नित्य होने पर भी प्रेत्यभाव सिद्ध है ॥ १० ॥

यह नित्य आत्मा प्रयाण करता है अर्थात् पूर्व शरीर को छोड़ देता है (मर जाता है) । प्रयाण करके पूर्व शरीर को छोड़कर पुनः होता है, उत्पन्न होता है, शरीरान्तर को ग्रहण करता है । ये दोनों बातें—'पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभाव कहलाती हैं' (१.१.१९) इस सूत्र में कह आये हैं कि पूर्व शरीर को छोड़ कर शरीरान्तर का ग्रहण करना 'प्रेत्य-भाव' कहलाता है । यह बात आत्मा को नित्य मानने पर ही बन पाती है ।

जो यह मानता है कि सत्त्व (शरीर) का नितान्त उत्पाद तथा नितान्त नाश प्रेत्यभाव' है, उसके मत में कृतहान तथा अकृताभ्यागम दोष होने लगेंगे । इस उच्छेद-वाद में धर्मशास्त्रोक्त विधि-निषेधवाक्यों की क्या आवश्यकता रह जायगी ! जब उस सत्त्व का नितान्त नाश ही होना है और वह होना निश्चित है, तो वह सुकर्म तथा धर्माचरण के लिए क्यों प्रयास करेगा ! ॥ १० ॥

कथमुत्पत्तिरिति चेत् ?

व्यक्ताद् व्यक्तानाम्; प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

केन प्रकारेण किन्धर्मकात् कारणाद्व्यक्तं शरीराद्युत्पद्यत इति ? व्यक्ताद् भूतसमाख्यातात् पृथिव्यादितः परमसूक्ष्मान्नित्याद्व्यक्तं शरीरेन्द्रियविषयोपकरणाधारं प्रज्ञातं द्रव्यमुत्पद्यते। व्यक्तं च खल्विन्द्रियग्राह्यं तत्सामान्यात् कारणमपि व्यक्तम्। किं सामान्यम् ? रूपादिगुणयोगः। रूपादिगुणयुक्तेभ्यः पृथिव्यादिभ्यो नित्येभ्यो रूपादिगुणयुक्तं शरीराद्युत्पद्यते। प्रत्यक्षप्रामाण्यात्। दृष्टो हि रूपादिगुणयुक्तेभ्योमृत्प्रभृतिभ्यस्तथाभूतस्य द्रव्यस्योत्पादः, तेन चादृष्टस्यानुमानमिति। रूपादीनामन्वयदर्शनात् प्रकृतिविकारयोः, पृथिव्यादीनां नित्यानामतीन्द्रियाणां कारणभावोऽनुमीयत इति ॥ ११ ॥

न; घटाद् घटानिष्पत्तेः ? ॥ १२ ॥

इदमपि प्रत्यक्षम्—न खलु व्यक्ताद् घटाद्व्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते इति, व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति ? ॥ १२ ॥

तो वह उत्पत्ति कैसे होती है ?

व्यक्त से व्यक्त की (उत्पत्ति होती है);प्रत्यक्षप्रामाण्य होने से ॥ ११ ॥

किस प्रकार से किस धर्म वाले कारण से व्यक्त शरीरादि उत्पन्न होते हैं ?

'भूत' इस संज्ञा से प्रसिद्ध व्यक्त पृथिव्यादि नित्य सूक्ष्म परमाणु द्रव्यों से शरीर, इन्द्रिय तथा अन्य अवयवों को धारण करने वाला व्यक्त (स्थूल) द्रव्य उत्पन्न होता है। यह व्यक्त इन्द्रियग्राह्य है। यहाँ कारण तथा कार्य में साधारणता होने से पृथिव्यादि परमाणु कारण भी व्यक्त ही कहलाता है। यह साधारणता क्या है ? रूपादिगुण-संयुक्त नित्य पृथिव्यादि परमाणुओं से रूपादिगुणयुक्त शरीरादि उत्पन्न होते हैं। हमारी इस युक्ति में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। रूपादिगुणयुक्त मृत्तिका आदि से रूपादिगुणयुक्त घटादि द्रव्य की उत्पत्ति देखी जाती है। वहाँ जो अवयव प्रत्यक्ष नहीं है, उसका अनुमान कर लेते हैं। प्रकृति-विकार में रूपादि का सम्बन्ध देखा जाने से नित्य पृथिव्यादि अतीन्द्रिय परमाणुरूप कारण का अनुमान कर लिया जाता है ॥ ११

आपका मत ठीक नहीं; क्योंकि लोक में घट से घट की निष्पत्ति नहीं देखी जाती ? ॥ १२ ॥

यह बात तो प्रत्यक्षसिद्ध है कि व्यक्त घट से व्यक्त घट की उत्पत्ति नहीं हुआ करती, यों व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति न देखे जाने से व्यक्त इस सृष्टि का कारण नहीं हो सकता ? ॥ १२ ॥

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

न ब्रूमः—'सर्वं सर्वस्य कारणम्' इति, किन्तु 'यदुत्पद्यते व्यक्तं द्रव्यम्, तत्तथाभूतादेवोत्पद्यते' इति। व्यक्तं च तन्मृद् द्रव्यं कपालसंज्ञकं यतो घट उत्पद्यते। न चैतन्निह्नुवानः क्वचिदभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति। तदेतत् तत्त्वम् ॥ १३ ॥

अतः परं प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते—

शून्यतोपादाननिराकरणप्रकरणम् [१४–१८]

अभावाद्भावोपत्तिः, नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ? ॥ १४ ॥

असतः सदुत्पद्यते इत्ययं पक्षः, कस्मात् ? उपमृद्य प्रादुर्भावात्। उपमृद्य बीजमङ्कुर उत्पद्यते नानुपमृद्य, न चेद्बीजोपमर्दोऽङ्कुरकारणम्, अनुपमर्देऽपि बीजस्याङ्कुरोत्पत्तिः स्यादिति ? ॥ १४ ॥

अत्राभिधीयते—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

उपमृद्य प्रादुर्भावादित्ययुक्तः प्रयोगः; व्याघातात्। यदुपमृद्नाति न तदुपमृद्य

व्यक्त से घटनिष्पति न देखे जाने से हमारा मत खण्डित नहीं होता ॥ १३ ॥

हम नहीं कहते कि 'सब सबके कारण हैं', किन्तु 'जो व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है, वह वैसे ही व्यक्त कारण से उत्पन्न होता है। जैसे कपालसंज्ञक मृत्पदार्थ व्यक्त ही है, जिससे घटनिष्पत्ति हुई है। इस वात को छिपाकर आप हमसे अपनी वात नहीं मनवा सकते ॥ १३ ॥

आगे कुछ भिन्नमतावलम्वी दार्शनिकों के मत-मतान्तरों पर विचार किया जा रहा है [सर्वप्रथम शून्यवादी बौद्धों के मत पर विचार किया जा रहा है]—

अभाव से भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है; क्योंकि विना विनाश हुए उत्पत्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

'असत् से सत् उत्पन्न होता है' यह भी एक दार्शनिक दृष्टि है। इसमें वे हेतु देते हैं कि विना विनाश हुए उत्पत्ति नहीं हो पाती। इसमें दृष्टान्त है—वीज के विनष्ट होने से ही उसमें से अंकुर उत्पन्न होता है न कि बिना विनष्ट हुए। यदि वीजविनाश अङ्कुर का कारण न होता तो भाण्डागार (गोदामों) में पड़े वीजों से भी उत्पत्ति हो जानी चाहिये ? ॥ १४ ॥

इसका उत्तर यह है—

वचनविरोध होने से यह 'अभाव से भावोत्पत्ति' प्रयोग उचित नहीं ॥ १५ ॥

'विनष्ट होकर प्रादुर्भूत होता है'—यह वात परस्पर विरुद्ध होने से अयुक्त है। जो

प्रादुर्भवितुमर्हति; विद्यमानत्वात् । यच्च प्रादुर्भवति न तेनाप्रादुर्भूतेनाविद्यमानेनोपमर्द इति ॥ १५ ॥

न; अतीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ? ॥ १६ ॥

अतीते चानागते चाविद्यमाने कारकशब्दाः प्रयुज्यन्ते । पुत्रो जनिष्यते, जनिष्यमाणं पुत्रमभिनन्दति, पुत्रस्य जनिष्यमाणस्य नाम करोति; अभूत्कुम्भः, भिन्नं कुम्भमनुशोचति, भिन्नस्य कुम्भस्य कपालानि, अजाताः पुत्राः पितरं तापयन्ति—इति बहुलं भाक्ताः प्रयोगा दृश्यन्ते ।

का पुनरियं भक्तिः ? आनन्तर्यं भक्तिः, आनन्तर्यसामर्थ्यादुपमृद्य प्रादुर्भावार्थः—प्रादुर्भविष्यन्नङ्कुर उपमृद्नातीति भाक्तं कर्तृत्वमिति ॥ १६ ॥

न; विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

न विनष्टाद् बीजादङ्कुर उत्पद्यते इति तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति ॥ १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

उपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः । स खल्वभावाद्भावोत्पत्तेर्हेतुर्निर्दिश्यते, स च न प्रतिषिध्यते इति । व्याहतव्यूहानामवयवानां पूर्वव्यूहनिवृत्तौ

बीज का नाश करता है वह नष्ट होकर पुनः प्रादुर्भूत नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो विद्यमान है । तथा जो प्रादुर्भूत होता है वह अप्रादुर्भूत द्रव्य अविद्यमान होने से बीज को विनष्ट कैसे करेगा ! ॥ १५ ॥

नहीं; अतीतानागतकाल में भी कारक शब्द का प्रयोग देखा जाता है ? ॥ १६ ॥

भूत तथा भविष्यत् में, जो कि वर्तमान नहीं है, उनके बारे में भी कारकशब्दों का प्रयोग दिखायी देता है ! जैसे—'उसको पुत्र होगा', 'होने वाले पुत्र के लिए वह खुशियाँ मना रहा हैं' 'पैदा होने वाले पुत्र का नाम रख रहा है'; या 'घट विनष्ट हो गया' 'विनष्ट घट के विषय में सोच रहा हैं' 'ये उस विनष्ट घट के खण्ड हैं' 'पैदा न हुए पुत्र पितृगण को कष्ट देते हैं'—आदि बहुत से भाक्त प्रयोग लोक में देखे जाते हैं ।

यह भक्ति क्या है ? आनन्तर्य (अव्यवधान) को भक्ति कहते हैं । इस आनन्तर्य के सामर्थ्य से ही 'विनष्ट होकर प्रादुर्भूत'—यह बोला जाता है । 'प्रादुर्भूत होनेवाला अङ्कुर (बीज को) विनष्ट कर रहा है, ऐसा यह आरोपित कर्तृ प्रयोग है ? ॥ १६ ॥

नहीं; क्योंकि विनष्ट से उत्पत्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

विनष्ट बीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं हुआ करता, अतः अभाव से भाव की उत्पत्तिवाला सिद्धान्त उचित नहीं ॥ १७ ॥

(उक्त सिद्धान्त में) क्रमनिर्देशक का प्रतिषेध नहीं ॥ १८ ॥

विनाश-प्रादुर्भाव में जो पौर्वापर्यनियम है वही 'क्रम' कहलाता है । यह क्रम उक्त वादी ने 'अभाव से भाव की उत्पत्ति' सिद्धान्त में हेतु बताया, उस क्रम को हम स्वीकार करते हैं । परन्तु उस क्रम के सहारे अभाव से भावोत्पत्ति हम नहीं मानते । किन्तु उस हेतु के

व्यूहान्तराद् द्रव्यनिष्पत्तिः; नाभावात् । बीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात् प्रादुर्भूतक्रियाः पूर्वव्यूहं जहति व्यूहान्तरं चापद्यन्ते, व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते । दृश्यन्ते खलु अवयवास्तत्संयोगाश्चाङ्कुरोत्पत्तिहेतवः । न चानिवृत्ते पूर्वव्यूहे बीजावयवानां शक्यं व्यूहान्तरेण भवितुमित्युपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः, तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति । न चान्यद् बीजावयवेभ्योऽङ्कुरोत्पत्तिकारणमित्युपपद्यते बीजोपादाननियम इति ॥ १८ ॥

ईश्वरोपादानताप्रकरणम् [१९-२१]

अथापर आह[1]—

ईश्वरः कारणम्; पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति, तेनानुमीयते—'पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम्' इति, यदधीनं स ईश्वरः । तस्मादीश्वरः कारणमिति ॥ १९ ॥

सहारे हमारे मत में वही बात यों है—विकीर्णाकृतिवाले (व्याहत रचनावाले) अवयवों की पूर्व आकृति (रचना) के निवृत्त होने पर दूसरी आकृति बन जाने पर द्रव्य का प्रादुर्भाव होता है, न कि अभाव (उन अवयवों के विनाश) से । बीज के अवयव किसी विशेषनिमित्त से क्रियाशील होते हुए अपने पूर्व आकार को छोड़ देते हैं तथा दूसरे आका को प्राप्त कर लेते हैं । तत्र उस दूसरे आकार से अङ्कुर पैदा होता है । लोक में भी अवयव निमित्तविशेष के सम्पर्क से अङ्कुरोत्पत्ति के कारण होते हैं; जब तक अवयवों का पूर्वाकार निवृत्त नहीं होगा तब तक दूसरा आकार बनेगा नहीं, और वे अङ्कुरोत्पत्ति में समर्थ होंगे नहीं—अतः यह पौर्वापर्य क्रम मानना उचित ही है । इस रीति से, अभाव से भावोत्पत्तिवाला बौद्धसिद्धान्त उचित नहीं; क्योंकि अङ्कुरोत्पत्ति में बीजावयवों से अतिरिक्त कोई उपादान कारण है नहीं, अतः बीजोपादाननियम उपपन्न हो जाता है ॥ १८ ॥

कुछ दार्शनिक (वेदान्ती) कहते हैं—

पुरुष-कर्मों का बहुधा नैष्फल्य देखा जाने से ईश्वर ही इस सृष्टि का कारण है ॥१९॥

पुरुष जो कुछ समीहापूर्वक प्रयत्न करता है, हमेशा उस का किया हुआ प्रयत्न पूर्ण नहीं हुआ करता, इससे ज्ञात होता है कि पुरुष का कर्मफल पराधीन है । यह कर्मफल जिसके अधीन है, वह ईश्वर है । अतः ईश्वर ही इस सृष्टि का कारण है ॥ १९ ॥

---

१. अस्मिन् प्रकरणव्याख्याने वार्त्तिकतात्पर्यकारयोर्मतवैचित्र्यमस्ति, तच्च तत्रैव टीकयोर्द्रष्टव्यम् । अस्माभिस्तु भाष्यसरणिरेव स्वीकृता ।

न; पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ? ॥ २० ॥

ईश्वराधीना चेत् फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति ? ॥ २० ॥

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। यदा न सम्पादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः—'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः' इति।

गुणविशिष्टमात्मान्तरम् ईश्वरः, तस्यात्मकल्पात्कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः। प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वकृताभ्यागमस्य लोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्।

शङ्का—

पुरुषप्रयत्न के विना फलनिष्पत्ति न होने से उक्त कथन युक्त नहीं ? ॥ २० ॥

यदि ईश्वर ही सव कर्मफल देनेवाला हो तो पुरुषप्रयत्न के विना ही फल निष्पन्न हो जाने चाहिये, जवकि लोक में ऐसा देखा नहीं जाता ? ॥ २० ॥

उत्तर—

पुरुषकर्म में ईश्वर के सहायक होने से आपका उक्त हेतु नहीं बनता ॥ २१ ॥

पुरुष-प्रयत्न के लिये ईश्वर अनुग्रह (विनियोग) करता है। अर्थात् फल के लिये प्रयत्न करते हुए पुरुष के फलप्राप्ति में ईश्वर अनुग्रह करता है, जव प्रयत्न करने पर भी अनुकूल फल नहीं मिलता तो समझना चाहिये ईश्वर का अनुग्रह नहीं है। अतः फलप्राप्ति में ईश्वर के निमित्त होने से आपका यह हेतु युक्त नहीं कि 'पुरुष प्रयत्न के अभाव में फलनिष्पत्ति नहीं होती'; क्योंकि वहाँ भी ईश्वर कारण है।

ईश्वर कौन है ? परमात्मा जीवात्मा से अन्य तथा (सङ्ख्या-परिमाणादि) गुणों से युक्त 'ईश्वर' है। यह आत्मजातीय होने से आत्मा की ही कोटि में आता है, अन्य कोटि में नहीं। इस में अधर्म, मिथ्याज्ञान, तथा प्रमाद नहीं होते तथा यह धर्म-ज्ञान-समाधि सम्पत्ति सें युक्त होता है, अतः जीवात्मा से भिन्न है। ईश्वर में धर्मसमाधि के फलभूत अणिमादि आठों ऐश्वर्य रहते हैं। सङ्कल्प के अनुसार यह करने, न करने में समर्थ है। यह प्रत्येक आत्मा में रहने वाले धर्म अधर्म को, तथा पृथिव्यादि भूतों को प्रवर्त्तित करता रहता है। इस तरह पुरुष के स्वकृत सिद्धान्त का लोप करता हुआ यह ईश्वर जगन्निर्माण करना चाहता है। यह जगन्निर्माण भी पुरुष के स्वकृत कर्म-फल के लिये ही समझना चाहिये।

आप्तकल्पश्चायम् । यथा पिताऽपत्यानाम्, तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम् । न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति । न तावदस्य बुद्धि विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम् । आगमाच्च द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता, ईश्वर इति । बुद्धयादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम् । स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमानस्यास्य, यदुक्तम् प्रतिषेधजातमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे, तत्सर्वं प्रसज्यते इति ! ।। २१ ।।

आकस्मिकत्वनिराकरणप्रकरणम् [२२-२४]

अपर इदानीमाह—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः, कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ? ।। २२ ।।

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः, कस्मात् ? कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम्, पर्वतधातूनां चित्रता, ग्राव्णां श्लक्ष्णता, निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टम्, तथा शरीरादिसर्गोऽपीति ? ।। २२ ।।

यह ईश्वर आप्त पुरुष की तरह है । जैसे पिता अपने पुत्र के लिये (पुत्र चाहे या न चाहे) निःस्वार्थ अनुग्रह करता रहता है, उसी तरह ईश्वर भी इस जगत् के प्राणियों पर अनुग्रह करता रहता है !

इस ईश्वर को आत्म-सजातीय मानने के अतिरिक्त दूसरी कोई कोटि सम्भव नहीं है । इसके अनुमान में बुद्धिगुण के विना कोई अन्य धर्म लिङ्गभूत उपपन्न नहीं किया जा सकता । शास्त्र भी इसे प्रसंग-प्रसंग पर द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञ, ईश्वर—इन विशेषणों से अभिहित करता है । बुद्धिगुण के विना ये सब विशेषण सम्भव नहीं है । बुद्धि आदि आत्म-गुणों के विना कौन नीरूप ईश्वर का, जो कि प्रत्यक्ष-अनुमान तथा आगम प्रमाणों से अतीत है, उपपादन कर सकता है ! करुणावशात् स्वकृत सिद्धान्त का विलोप कर प्रवृत्त होने वाले पुरुष के सम्बन्ध में फल की अपेक्षा न करता हुआ यदि यह ईश्वर जगत्सृष्टि में प्रवृत्त होगा तो अकर्मनिमित्तक सृष्टिपक्ष में जो दोष हम पीछे (३. २. ७२ में) कह आये हैं वे सब इसमें भी आ जायेंगे ! अतः यही मानना चाहिये कि परमकारुणिक होता हुआ भी यह ईश्वर वस्तुस्वभाव के अनुसार विधान करता हुआ धर्माधर्म के सहारे से जगद्वैचित्र्य में निमित्तकारण है ।। २१ ।।

अब दूसरा दार्शनिक (चार्वाक) कहता है—

कण्टक की तीक्ष्णता आदि देखने से सभी भावों की उत्पत्ति अनैमित्तक ही है ।। २२ ।।

शरीरादि की भी उत्पत्ति अनैमित्तक ही है; क्योंकि लोक में कण्टकादि के तैक्ष्ण्य में कोई निमित्त नहीं दिखायी देता जो उसे किसी साधन से इतना तीक्ष्ण बना दे । जैसे कण्टकादि की तीक्ष्णता, पर्वतों में निकलने वाली धातुओं के नाना प्रकार, स्फटिक आदि शिलाओं की श्लक्ष्णता विना किसी निमित्त या उपादान कारण के सहारे देखी जाती है, उसी तरह शरीर की उत्पत्ति भी निर्निमित्तक मान लें ? ।। २२ ।।

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः[1] ॥ २३ ॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते, यतश्चोत्पद्यते तन्निमित्तम् । अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति ॥ २३ ॥

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः[1] ॥ २४ ॥

अन्यद्धि निमित्तम्, अन्यच्च निमित्तप्रत्याख्यानम्, न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयम्, यथा—अनुदकः कमण्डलुरिति नोदकप्रतिषेध उदकं भवतीति । स खल्वयं वादः 'अकर्मनिमित्तः शरीरादिसर्गः' (३. २. ७२) इत्येतस्मान्न भिद्यते, अभेदात् तत्प्रतिषेधेनैव प्रतिषिद्धो वेदितव्य इति ॥ २४ ॥

सर्वानित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् [२५-२८]

अन्ये तु मन्यन्ते—

सर्वमनित्यम्; उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ? ॥ २५ ॥

किमनित्यं नाम ? यस्य कदाचिद् भावस्तदनित्यम् । उत्पत्तिधर्मकमनुत्पन्नं नास्ति, विनाशधर्मकं चाविनष्टं नास्ति । किं पुनः सर्वम् ? भौतिकं च शरीरादि,

---

एकदेशी का उत्तर—

अनिमित्त से निमित्त उत्पन्न होने से वह अनिमित्त नहीं रहा करता ॥ २३ ॥

अनिमित्त से भावों की उत्पत्ति आप वतलाते हैं, परन्तु जिससे उत्पत्ति हो वह तो निमित्त हो गया, यों उस अनिमित्त के निमित्त वन जाने से अव वह अनिमित्त कहाँ रहा ! ॥ २३ ॥

सिद्धान्तपक्ष—

निमित्त तथा अनिमित्त में अर्थभेद होने से प्रतिषेध नहीं बनता ॥ २४ ॥

निमित्त दूसरा है, तथा निमित्त का प्रत्याख्यान आप दूसरा कर रहे हैं । निषेध ही निषेध्य नहीं होता । जैसे 'अनुदक कमण्डलु' में उदक का प्रतिषेध है तो क्या यह प्रतिषेध उदक हो जायेगा ! चार्वाक का यह आकस्मिकवाद भी पूर्व (३.२.७२ में) वर्णित अकर्मनिमित्तक भूतसृष्टिवाद जैसा ही है, अतः समान होने से उस वाद की प्रतिपेधक युक्तियाँ इस वाद के प्रतिषेध में भी समझ लेनी चाहियें ॥ २४ ॥

दूसरे दार्शनिक यह मानते हैं—

सभी प्रमेय उत्पत्तिविनाशधर्मा होने से अनित्य हैं ॥ २५ ॥

'अनित्य' किसे कहते हैं ? जिस की सत्ता कभी हो कभी न हो, वह 'अनित्य' होता है । जो वस्तु उत्पत्तिशील है, तो वह अनुत्पन्न नहीं है तथा जो वस्तु विनाशशील है वह अविनष्ट नहीं, अतः सव कुछ अनित्य है । यह 'सब' क्या है ? भौतिक

---

१. सूत्रद्वयमिदं वार्तिककृताऽन्यथापि व्याख्यातमिति ध्येयम् ।

अभौतिकं च बुद्धयादि; तदुभयमुत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते । तस्मात् तत्सर्वम-नित्यमिति ? ॥ २५ ॥

न; अनित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

यदि तावत् सर्वस्यानित्यता नित्या ? तन्नित्यत्वान्न सर्वमनित्यम् । अथा-नित्या ? तस्यामविद्यमानायां सर्वं नित्यमिति ॥ २६ ॥

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम् । कथम् ? यथा—अग्निर्दाह्यं विनाश्यानु-विनश्यति, एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानुविनश्यतीति ॥ २७ ॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानम्; यथोपलब्धि व्यवस्थानात् ॥ २८ ॥

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे, नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम् । कस्मात् ? यथोपलब्धि व्यवस्थानात् । यस्योत्पत्तिविनाशधर्मकत्वमुपलभ्यते प्रमाणतस्तदनित्यम्, यस्य नोपलभ्यते तद्विपरीतम् । न च परमसूक्ष्माणां भूता-

---

शरीरादि तथा अभौतिक बुद्धयादि । ये दोनों ही वर्ग उत्पत्तिविनाशधर्मक हैं अतः सब कुछ अनित्य हैं ? ॥ २५ ॥.

एकदेशिमत से परिहार—

अनित्यता में नित्यता होने से आपका मत उचित नहीं ॥ २६ ॥

यदि यह सब की अनित्यता नित्य है तो इस नित्यता से सब कुछ अनित्य नहीं रहा, अपितु नित्य हो जायगा । क्योंकि यदि वह अनित्य है तो उसके न होने पर सब नित्य हो जायेगा ॥ २६ ॥

सिद्धान्तिमत से उत्तर—

जैसे अग्नि दाह्य काष्ठादि को जलाकर स्वयं विनष्ट हो जाती है उसी तरह हव अनित्यता भी अनित्य है ॥ २७ ॥

उस अनित्यता में भी अनित्यत्व उपपन्न है । कैसे ? जैसे अग्नि जलाने योग्य काष्ठादि को जला कर स्वयं भी विनष्ट ही जाती है, इसी तरह यह सब प्रमेयों की अनित्यता सबको विनष्ट (अनित्य बता) कर स्वयं भी विनष्ट (अनित्य) हो जायेगी ॥ २७ ॥

उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था से नित्य का प्रत्याख्यान नहीं होता ॥ २८ ॥

यह वाद (प्रकरण) नित्य का प्रत्याख्यान करने के लिए उठाया है, परन्तु नित्य का प्रत्याख्यान नहीं वन पा रहा है; क्योंकि व्यवस्था उपलब्धि के अनुसार देखी जाती है । प्रमाण से जिसकी उत्पत्ति विनाशशील देखी जाती है, वह अनित्य होता है, तथा जो प्रमाण से उत्पत्ति एवं विनाशशील नहीं ज्ञात होता वह नित्य है । परमसूक्ष्म भूत, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन तथा आकाश और सूक्ष्मभूत के कतिपय गुणों की;

नामाकाशकालदिगात्मामनसां तद्गुणानां च केषाञ्चित्सामान्यविशेषसमवायानां चोत्पत्तिविनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उलभ्यते; तस्मान्नित्यान्येतानीति ॥ २८ ॥

सर्वनित्यत्वनिराकरणप्रकरणम् [२९-३३]

अयमन्य एकान्तः—

सर्वं नित्यम्; पञ्चभूतनित्यत्वात् ? ॥ २९ ॥

भूतमात्रमिदं सर्वम्, तानि च नित्यानि भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति ? ॥ २९ ॥

न; उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥

उत्पत्तिकारणं चोपलभ्यते विनाशकारणं च, तत् सर्वनित्यत्वे व्याहन्यते इति ॥ ३० ॥

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ? ॥ ३१ ॥

यस्योत्पत्तिविनाशकारणमुपलभ्यते इति मन्यसे, न तद् भूतलक्षणहीनमर्थान्तरं गृह्यते, भूतलक्षणावरोधाद् भूतमात्रमिदमित्ययुक्तोऽयं प्रतिषेध इति ? ॥३१॥

न; उत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणं चोपलभ्यते। न चैतदुभयं नित्यविषयम्,

---

इसी तरह सामान्य, विशेष तथा समवाय की विनाशशीलता नहीं देखी जाती—इसलिये ये सब नित्य हैं ॥ २८ ॥

कुछ दार्शनिकों का यह एक दूसरा पक्ष है—

पञ्चभूतों के नित्य होने से सब पदार्थ नित्य है ? ॥ २९ ॥

यह सब कुछ दृश्यमान जगत् पञ्चभूतात्मक है, वे सभी भूत नित्य हैं, भूतों का उच्छेद आप (नैयायिक) मानते नहीं, अतः भूतात्मक गोघटादि सभी द्रव्य नित्य हैं ? ॥ २९ ॥

इनके उत्पत्तिविनाशकारण उपलब्ध होने से सब भूत नित्य नहीं हैं ॥ ३० ॥

इन द्रव्यों की उत्पत्ति तथा विनाश के कारण प्रमाण से उपलब्ध हैं, यह बात सब भूतों के नित्य मानने पर, उपपन्न नहीं होगी ॥ ३० ॥

वे भूतलक्षणाक्रान्त हैं, अतः भूतों की नित्यता का प्रतिषेध नहीं बनेगा ? ॥ ३१ ॥

जब आप यह मानते हैं कि भूतों के उत्पत्ति-विनाशकारण उपलब्ध होते हैं तो वे पदार्थ भूतलक्षणों से हीन कोई अन्य चीज थोड़े होंगे ! अतः भूतलक्षणाक्रान्त होने से यह समग्र जगत् भूतोत्पन्न है, तथा भूत नित्य हैं, अतः इन द्रव्यों का नित्यत्वप्रतिषेध अयुक्त है ? ॥ ३१ ॥

उन गोघटादि द्रव्यों की उत्पत्ति या उत्पत्तिकारण उपलब्ध होने से वे नित्य नहीं हैं ॥ ३२ ॥

जो जो गोघटादि द्रव्य उत्पन्न होते हैं, वे सब अपने अपने कारण गुण वाले उपलब्ध

न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिः शक्या प्रत्याख्यातुम्, न चाविषया काचिदुपलब्धिः। उपलब्धिसामर्थ्यात् कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यते—इत्यनुमीयते। स खलूपलब्धेर्विषय इति। एवं च तल्लक्षणावरोधोपपत्तिरिति।

उत्पत्तिविनाशकारणप्रयुक्तस्य ज्ञातुः प्रयत्नो दृष्ट इति। प्रसिद्धश्चावयवी तद्धर्मा। उत्पत्तिविनाशधर्मा चावयवी सिद्ध इति।

शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां चाव्याप्तिः। पञ्चभूतनित्यत्वात् तल्लक्षणावरोधाच्चेत्यनेन शब्दकर्मबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च न व्याप्ताः। तस्मादनेकान्तः।

स्वप्नविषयाभिमानवत् मिथ्योपलब्धिरिति चेत्? भूतोपलब्धौ तुल्यम्। यथा स्वप्ने विषयाभिमानः, एवमुत्पत्तिकारणाभिमान इति। एवं चैतद् भूतोपलब्धौ तुल्यम्—पृथिव्याद्युपलब्धिरपि स्वप्नविषयाभिमानवत् प्रसज्यते।

पृथिव्याद्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति चेत्? तदितरत्र समानम्।

होते हैं और यह उत्पत्तिकारण तथा कार्यों की उपलब्धि नित्य की नहीं होती। उधर उन गोघटादि की उत्पत्ति तथा उस उत्पत्ति का कारण किसी भी प्रमाण से प्रत्याख्यात नहीं हो सकता; न तो किसी की उपलब्धि निर्विषयक हुआ करती है, अत. उपलब्धि-सामर्थ्य से 'कारण से समानगुण कार्य उत्पन्न होता है'—ऐसा अनुमान होता है। वही (गोघटादि) उत्पन्न कार्य उपलब्धि का विषय है। इस प्रकार भूतों के कार्य (गोघटादि) में भूतों का नित्यत्वलक्षण अवरुद्ध हो जाता है।

उत्पत्ति तथा विनाश के कारणों को लेकर ही लोक में पुरुषों के प्रयत्न देखे जाते हैं, यदि सभी द्रव्य नित्य हों तो इन प्रेक्षावान् पुरुषों के प्रयत्न निष्फल ही होंगे। अवयवी अवयवधर्म (उत्पत्तिविनाश) वाला होता है। अवयवी उत्पत्ति-विनाशशील है—यह सभी जानते हैं।

अथ च, 'पञ्चभूतों के नित्य होने के कारण भूतोत्पन्न द्रव्यों के भूतलक्षणाक्रान्त होने से सब कुछ नित्य है'—ऐसा लक्षण मानोगे तो शब्द, कर्म, बुद्धि आदि में अव्याप्ति होने लगेगी, क्योंकि ये पञ्चभूतात्मक नहीं हैं वे पञ्चभूतोत्पन्न हैं परन्तु वे तल्लक्षणाक्रान्त भी नहीं हैं। इस रीति से इन दार्शनिकों का सर्वनित्यत्ववाद भी अनेकान्त (अव्यापक) है।

यदि यह कहें कि उक्त उत्पत्तिशिनाशकारणोपलब्धि स्वप्नविषय की तरह मिथ्या है? तो यह मिथ्यात्व भूतोपलब्धि में भी समान है। जैसे स्वप्न में विषय मिथ्या उपलब्ध होता है, उसी तरह उत्पत्तिकारण भी मिथ्या है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि यह बात भूतोपलब्धि में भी तुल्य ही है, अर्थात् तब पृथिव्यादि-भूताद्युपलब्धि भी स्वप्नविषयवत् मिथ्या ही होगी।

पृथिव्यादि भूतों की उपलब्धि को मिथ्या मानोगे तो समग्र जगद्व्यवहार भी विलुप्त

उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धिविषयस्याप्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति, सोऽयं नित्यानामतीन्द्रियत्वादविषयत्वाच्चोत्पत्तिविनाशयोः 'स्वप्नविषयाभिमानवत्'—इत्यहेतुरिति ॥ ३२ ॥

अवस्थितस्योपादानस्य धर्ममात्रं निवर्तते धर्ममात्रमुपजायते, स खलूत्पत्तिविनाशयोर्विषयः । यच्चोपजायते तत्प्रागप्युपजननादस्ति, यच्च निवर्तते तन्निवृत्तमप्यस्तीति, एवं च सर्वस्य नित्यत्वमिति ?

न; व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

अयमुपजनः, इयं निवृत्तिः—इति व्यवस्था नोपपद्यते; उपजातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात् । अयं धर्म उपजातः, अयं निवृत्तः—इति सद्भावाविशेषादव्यवस्था । इदानीमुपजननिवृत्ती, नेदानीम्—इति कालव्यवस्था नोपपद्यते; सर्वदा विद्यमानत्वात् । अस्य धर्मस्योपजननिवृत्ती, नास्य—इति व्यवस्थानुपपत्तिः; उभयोरविशेषात् । अनागतोऽतीतः—इति च कालव्यवस्थानुपपत्तिः; वर्तमानस्य सद्भावलक्षणत्वात् ।

अविद्यमानस्यात्मलाभ उपजनः, विद्यमानस्यात्महानं निवृत्तिः—इत्येतस्मिन्

होने लगेगा ? यह बात उत्पत्तिविनाशकारणों की उपलब्धि के विषय में भी तुल्य ही है । अर्थात् उत्पत्तिविनाशकारण तथा उसकी उपलब्धि को मिथ्या मानोगे तब भी तो समग्र व्यवहार (पुरुषप्रयत्नादि) विलुप्त होने लगेगा । अतः यह स्वप्नविषयक अभिमान अहेतुक ही है अर्थात् वह इन्द्रियगोचर नहीं होता; क्योंकि नित्य भूत अतीन्द्रिय तथा उत्पत्तिविनाशाविषयक होते हैं ॥ ३२ ॥

कुछ दूसरे दार्शनिक (स्वायम्भुव) कहते हैं कि उपादान (सुवर्णादि) धर्मी का केवल (एक) धर्म निवृत्त होता है, तथा एक धर्म उत्पन्न होता है, अर्थात् यह धर्म ही उत्पत्ति तथा विनाश का विषय है ! अतः जो उत्पन्न होता है वह उत्पन्न होने से पूर्व भी (धर्म्यभिन्न रूप में) रहता है तथा जो विनष्ट होता है वह विनाश के बाद भी (धर्म्यभिन्न रूप में) रहता है। इस नय से सब कुछ का नित्यत्व उत्पन्न हो जायेगा ?

व्यवस्था के अनुपपन्न होने से वैसा नित्यत्व नहीं बन पाता ॥ ३३ ॥

इस मत के अनुसार यदि उपजात तथा विनष्ट भी विद्यमान ही रहेंगे तो 'यह जन्म है, यह नाश है'—ऐसी लोकानुभवसिद्ध व्यवस्था नहीं बन पायेगी । 'यह धर्म उत्पन्न हुआ तथा यह धर्म विनष्ट हुआ' यह स्वरूपव्यवस्था भी सदसद्भाव में कोई भेद न होने से नहीं बन पायेगी । और 'इस समय उत्पत्ति-विनाश हो रहे हैं, इस समय नहीं'—यह कालव्यवस्था भी सदसद्भाव में कोई अन्तर न होने से नहीं हो पायेगी । तथा 'इसके धर्म उत्पन्न-विनष्ट हुए, इस के नहीं' यों सदसद्भाव में कोई वैशिष्ट्य न होने से सम्बन्धव्यवस्था भी नहीं बन पायेगी । उत्पत्ति-विनाश की भूतभविष्यत् व्यवस्था भी सद्भाव के ही वर्तमान रहने से न बन पायेगी ।

हमारे मत में तो अविद्यमान का आत्मलाभ 'उत्पत्ति' तथा विद्यमान का नाश 'निवृत्ति'

सति नैते दोषाः। तस्माद्यदुक्तम्–'प्रागप्युपजनादस्ति निवृत्तं चास्ति', तदयुक्तमिति ॥ ३३ ॥

सर्वपृथक्त्वनिराकरणप्रकरणम् [३४-३६]

अयमन्य एकान्तः—

सर्वं पृथग्; भावलक्षणपृथक्त्वात् ? ॥ ३४ ॥

सर्वं नाना, न कश्चिदेको भावो विद्यते। कस्मात् ? भावलक्षणपृथक्त्वात्। भावस्य लक्षणम् = अभिधानम्, येन लक्ष्यते भावः स समाख्याशब्दः; तस्य पृथग्विषयत्वात्। सर्वो भावसमाख्याशब्दः समूहवाची, 'कुम्भः' इति संज्ञाशब्दो गन्धरसरूपस्पर्शसमूहे बुध्नपार्श्वग्रीवादिसमूहे च वर्त्तते, निर्देशमात्रं चेदमिति ? ॥ ३४ ॥

न; अनेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

अनेकविधलक्षणैरिति मध्यमपदलोपी समासः। गन्धादिभिश्च गुणैर्बुध्नादिभिश्चावयवैः सम्बद्ध एको भावो निष्पद्यते, गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यम्, अवयवातिरिक्तश्चावयवीति। विभक्तन्यायं चैतदुभयमिति ॥ ३५ ॥

अथापि—

कहलाता है; ऐसा मानने पर उपर्युक्त सभी व्यवस्थायें वन सकती हैं। अतः यह 'उत्पत्ति से पूर्व तथा विनाश के वाद भी धर्मी वही है'—कहना अयुक्त ही है ॥ ३३ ॥

कुछ दार्शनिक (बौद्ध) यह कहते हैं—

प्रत्येक पदार्थ पृथक् हैं; क्योंकि भाव के लक्षण (गन्ध-रस-रूपादि) पृथक् पृथक् हैं ? ॥ ३४ ॥

सव पदार्थ नाना हैं, कोई भी भाव नाम की एक वस्तु नहीं है, क्यों ? भावलक्षणों के पार्थक्य से। भाव का अर्थ है संज्ञा। यह भाव जिससे वोधित किया जाये वह संज्ञा समूह (अवयवी) को ही वतलाती है। जैसे 'कुम्भ' यह संज्ञाशव्द गन्ध-रस-रूप-स्पर्श के समूह को तथा अधस्तल-पार्श्वभाग-ग्रीवादि अवयवसमूह को लक्षित करता है। यह एक उदाहरण दे दिया गया। (तात्पर्य यह है कि अनेकवाची कोई पद नहीं है, अपि तु सव तत्तद्व्यक्तिवाचक है ?) ॥ ३४ ॥

अनेक प्रकार के लक्षणों के रहते एक भाव निष्पन्न नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

'अनेकलक्षणैः' पद का मध्यमपदलोपी समास से 'अनेकविध लक्षणों से'—यह अर्थ है। गन्धादि गुण तथा अधस्तलादि अवयवों से एक घट-रूप अवयवी पृथक् निष्पन्न होता है ! अतः द्रव्य गुणों से भिन्न, तथा अवयवी अवयवों से भिन्न होता है—ये दोनों वातें हम पीछे (२. १. ३३ में) अनेक हेतुओं द्वारा स्पष्टतः सिद्ध कर चुके हैं ॥ ३५ ॥

अपि च—

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

न कश्चिदेको भाव इत्युक्तः प्रतिषेधः। कस्मात्? लक्षणव्यवस्थानादेव। यदिह लक्षणं भावस्य संज्ञाशब्दभूतं तदेकस्मिन् व्यवस्थितम्-'यं कुम्भमद्राक्षं तं स्पृशामि, यमेवास्प्राक्षं तं पश्यामि' इति। नाणुसमूहो गृह्यते इति, अणुसमूहे चागृह्यमाणे यद् गृह्यते तदेकमेवेति।

अथाप्येतदनूक्तम्-नास्त्येको भावो यस्मात् समुदायः? एकानुपपत्तेर्नास्त्येव समूहः। नास्त्येको भावो यस्मात् समूहे भावशब्दप्रयोगः? एकस्य चानुपपत्तेः समूहो नोपपद्यते-एकसमुच्चयो हि समूह इति। व्याहतत्वादनुपपन्नम्-'नास्त्येको भावः' इति। यस्य प्रतिषेधः प्रतिज्ञायते 'समूहे भावशब्दप्रयोगात्' इति हेतुं ब्रुवता, स एवाभ्यनुज्ञायते-'एकसमुच्चयो हि समूहः' इति। 'समूहे भावशब्द-प्रयोगात्' इति च समूहमाश्रित्य प्रत्येकं समूहिप्रतिषेधः-'नास्त्येको भावः' इति। सोऽयमुभयतो व्याघाताद् यत्किञ्चन वाद इति ॥ ३६ ॥

एक अवयवी का प्रतिषेध लक्षणव्यवस्था से भी नहीं बनता ॥ ३६ ॥

पृथक् रूप में स्थित पदार्थ का 'कोई एक अवयवी नहीं है'—यह प्रतिषेध अयुक्त है; क्योंकि लक्षण (संज्ञा) की व्यवस्था देखी जाती है। यहाँ जो भाव का संज्ञाशब्दभूत लक्षण है, वह एक-एक में व्यवस्थित है, जैसे—'जिस घट को मैंने देखा था उसे मैं अब छू पा रहा हूँ; या 'जिस घट का मैंने स्पर्श किया था उसे ही अब देख पा रहा हूँ'—इन वाक्यों में अवयवों (अणुसमूह) की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग न कर एक अवयवी का प्रयोग सर्वजनानुभवसिद्ध है; क्योंकि अणुसमूह गृहीत होता ही नहीं। तथा जो गृहीत होता है, वह एक ही अवयवी है।

यदि पूर्वपक्षी अपनी बात को इस तरह रखे कि—कोई एक अवयवी नहीं है, अपितु वह अवयवी वस्तुतः अवयवों का समुदायमात्र है? उनका यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि समुदाय भी अनेकसमुदायी, जो कि अपने आप में प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं, से ही बनेगा; अन्यथा यदि एक न मानोगे तो उन एक-एक भिन्नों से बनने वाला समुदाय कैसे बनेगा! यदि पूर्वपक्षी यह कहें—कोई एक अवयवी नहीं है; क्योंकि वह अवयविसंज्ञा समूह को ही बतला रही है? यह बात भी पहले वाली जैसी है; क्योंकि यदि एक की उपपत्ति न होगी तो उससे बनने वाले समूह की उपपत्ति कैसे होगी! दूसरे, 'एक अव-यवी नहीं है'—इसमें वदतोव्याघात दोष भी है। समूह में संज्ञाशब्द के प्रयोग का हेतु देकर जिसका प्रतिषेध किया जा रहा है उसी को 'भिन्न प्रत्येक अवयवों का ही वह समूह है'—ऐसा कहकर स्वीकार भी कर रहे हैं। उधर, 'समूह में संज्ञाशब्द का प्रयोग होने से' हेतु देकर समूह के सहारे समूहगत प्रत्येक समूही का प्रतिषेध कर के इस प्रतिज्ञा का भी भङ्ग कर रहे हैं कि 'एक भाव नहीं होता'। यों, उक्त व्याघातद्वय से यह वाद निःसार ही है ॥ ३६ ॥

सर्वशून्यतानिराकरणप्रकरणम् [३७-४०]

अयमपर एकान्तः—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ?॥ ३७ ॥

यावद्भावजातं तत् सर्वमभावः। कस्मात् ? भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः। असन् गौरश्वात्मनाऽनश्वो गौः, असन्नश्वो गवात्मनाऽगौरश्व इत्यसत्प्रत्ययस्य प्रतिषेधस्य च भावशब्देन सामानाधिकरण्यात् सर्वमभाव इति ? ॥ ३७ ॥

प्रतिज्ञावाक्ये पदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातादयुक्तम्।

अनेकस्याशेषता सर्वशब्दस्यार्थः, भावप्रतिषेधश्चाभावशब्दस्यार्थः। पूर्वं सोपाख्यम्, उत्तरं निरुपाख्यम्। तत्र समुपाख्यायमानं कथं निरुपाख्यमभावः स्यादिति। न जात्वभावो निरुपाख्योऽनेकतयाऽशेषतया शक्यः प्रतिज्ञातुमिति ! सर्वमेतदभाव इति चेत् ? यदिदं सर्वमिति मन्यसे तदभाव इति ? एवं चेत् अनिवृत्तो व्याघातः, अनेकमशेषं चेति नाभावप्रत्ययेन शक्यं भवितुम्। अस्ति चायं प्रत्ययः सर्वमिति तस्मान्नाभाव इति। प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातः। सर्वम-

---

[अब बौद्धाभिमत सर्वशून्यतावाद का शङ्कासमाधानपूर्वक निराकरण कर रहे हैं—]

कुछ अन्य दार्शनिकों का यह मत है—

यह सब कुछ सत्पदार्थ अभावरूप है; क्योंकि भावों में इतरेतरापेक्षया अभाव ही सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

जो कुछ भी दृश्यमान सत्पदार्थ है वह सब अभाव है; क्योंकि उन भावों में दूसरे की अभावसिद्धि देखी जाती है। जैसे—गौ अश्वरूप से नहीं है, अतः उसे 'अनश्व' कह सकते हैं; उसी तरह गोरूप से अश्व नहीं है तो उसे 'अगौ' कह सकते हैं—इस तरह असद् ज्ञान तथा प्रतिषेध का भावशब्द से सामानाधिकरण्य होने के कारण हम यह क्यों न मान लें—'ये सब संज्ञाशब्द असद्विषय हैं, असत्प्रत्यय तथा प्रतिषेध का सामानाधिकरण्य होने के कारण; अनुत्पन्न प्रध्वस्त घट की तरह' ? ॥ ३७ ॥

प्रतिज्ञावाक्य में 'सर्व'-'अभाव' इन पदों और प्रतिज्ञा तथा हेतु दोनों के विरुद्ध होने से उक्त मत असमीचीन ही है।

यहाँ 'सर्व' शब्द का अर्थ है अनेक की अशेषता, तथा 'अभाव' का अर्थ है भावप्रतिषेध। इनमें पहला (सर्वशब्द) सोपाख्य (कुछ न कुछ स्वभाव वाला) है, तथा दूसरा (अभाव शब्द) निरुपाख्य (निःस्वभाव) है। तो कुछ न कुछ स्वभाव वाला निःस्वभाव कैसे होगा ? आप निःस्वभाव को अनेकत्व तथा अशेषत्व से किसी भी तरह प्रतिज्ञात नहीं कर सकते ! यदि यह कहें कि यह 'सब कुछ' अभाव ही है ? तो जिसको आप 'सब' मानते हैं वही अभाव है ? तब भी उपर्युक्त विरोध पूर्ववत् बना रह गया; क्योंकि 'अनेक' तथा 'अशेष' अभावप्रत्यय से कैसे प्रतिज्ञात हो सकते हैं ! प्रतिज्ञा तथा हेतुओं

भाव इति भावप्रतिषेधः प्रतिज्ञा, भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति हेतुः, भावेष्वितरेतराभावमनुज्ञायाश्रित्य चेतरेतराभावसिद्धया सर्वमभाव इत्युच्यते। यदि सर्वमभावः? भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति नोपपद्यते। अथ भावेष्वितरेतराभावसिद्धिः? सर्वमभाव इति नोपपद्यते।

सूत्रेण चाभिसम्बन्धः—

न; स्वभावसिद्धेर्भावानाम्॥ ३८॥

न सर्वमभावः। कस्मात्? स्वेन भावेन सद्भावाद् भावानाम्। स्वेन धर्मेण भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते। कश्च स्वो धर्मो भावानाम्? द्रव्यगुणकर्मणां सदादिसामान्यम्, द्रव्याणां क्रियावदित्येवमादिर्विशेषः, 'स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः' इति च प्रत्येकं चानन्तो भेदः। सामान्यविशेषसमवायानां च विशिष्टा धर्मा गृह्यन्ते। सोऽयमभावस्य निरुपाख्यत्वात् सम्प्रत्यायकोऽर्थभेदो न स्यात्? अस्ति त्वयम्, तस्मान्न सर्वमभाव इति।

अथ वा—न स्वभावसिद्धेर्भावानामिति। स्वरूपसिद्धेरिति—गौरिति प्रयुज्यमाने शब्दे जातिविशिष्टं द्रव्यं गृह्यते, नाभावमात्रम्। यदि च सर्वमभावः,

---

में भी परस्पर विरोध है। 'सब कुछ अभाव है'—यह भावनिषेधक प्रतिज्ञावाक्य है, 'भावों में इतरेतराभाव सिद्धि होने से'—यह हेतुवाक्य है, भावों में इतरेतराभाव को स्वीकार करके, तथा उसका आश्रय लेकर इतरेतराभावसिद्धि द्वारा 'सब कुछ अभाव है'—ऐसा कहते हैं। यदि सब कुछ अभाव है तो भाव कहाँ रह गये कि उनमें 'इतरेतराभावसिद्धि' उपपन्न की जा सके। यदि भाव में इतरेतराभावसिद्धि कर रहे हैं तो 'सब कुछ अभाव है' यह प्रतिज्ञा नहीं बनेगी।

भाष्यकार सूत्र के साथ भाष्योक्त दूषण का सम्बन्ध जोड़ते हैं—

भावों की स्वभावसिद्धि होने से (सब भाव अभाव नहीं है)॥ ३८॥

सब कुछ अभाव नहीं है; क्योंकि भावों की अपने-अपने भाव से सत्ता है। 'भाव अपने धर्म से वर्तमान हैं' यह सिद्धान्ती का प्रतिज्ञावाक्य है। इन भावों का स्वधर्म क्या है? द्रव्य, गुण, कर्म का सत्त्वाभिधेयत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य धर्म हैं; क्रियावत्त्व, गुणाश्रयत्व आदि विशेष धर्म हैं। इसी तरह 'पृथ्वी के स्पर्शपर्यन्त गुण हैं' आदि विशेष धर्म नाना प्रकार के हैं। सामान्य, विशेष तथा समवाय के विशेष धर्म ही गृहीत होते हैं। इस प्रकार अभाव के निरुपाख्य (निर्धर्मक) होने से उसका सम्प्रत्यायक (सर्वजनप्रत्यक्षसिद्ध) अर्थभेद नहीं होगा, जबकि ऐसा होता है; अतः 'सब कुछ अभाव है' ऐसा नहीं है।

अथवा सूत्र का व्याख्यान यों समझें—भावों की स्वभाव (स्वरूप) सिद्धि होने से सब कुछ अभाव नहीं है; 'गौ' इस शब्द का प्रयोग होने पर जातिविशिष्ट द्रव्य गृहीत होता है, केवल अभाव नहीं। यदि सब कुछ अभाव होता तो 'गौ' इस पद से अभाव ही

गौरित्यभावः प्रतीयेत, गोशब्देन चाभाव उच्येत। कस्मान्न गोशब्देन चाभाव उच्यते ? यस्मात्तु गोशब्दप्रयोगे द्रव्यविशेषः प्रतीयते नाभावः, तस्मादयुक्तमिति।

अथ वा—न स्वभावसिद्धेरिति। असन् गौरश्वात्मनेति असन्गौर्गवात्मनेति कस्मान्नोच्यते ? अवचनाद्, गवात्मना गौरस्तीति स्वभावसिद्धिः, अनश्वोऽश्व इति वा, गौरगौरिति वा कस्मान्नोच्यते ? अवचनात्, स्वेन रूपेण विद्यमानता द्रव्यस्येति विज्ञायते।

अव्यतिरेकप्रतिषेधे च[1], संयोगादिसम्बन्धो व्यतिरेकः, अत्राव्यतिरेकोऽभेदाख्यसम्बन्धः, तत्प्रतिषेधे च भावेनासत्प्रत्ययसामानाधिकरण्यम्, यथा—न सन्ति कुण्डे बदराणीति। असन् गौरश्वात्मना, अनश्वो गौरिति च गवाश्वयोरव्यतिरेकः प्रतिषिध्यते, गवाश्वयोरेकत्वं नास्तीति। तस्मिन् प्रतिषिध्यमाने भावेन गवा सामानाधिकरण्यमसत्प्रत्ययस्यासन् गौरश्वात्मनेति, यथा—न सन्ति कुण्डे बदराणीति कुण्डे बदरसंयोगे प्रतिषिध्यमाने सद्भिरसत्प्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यमिति[2] ॥ ३८ ॥

प्रतीत होता तथा गोशब्द से अभाव अर्थ ही कहा जाता ! तो फिर क्यों नहीं गोशब्द से अभाव ही कह देते ? क्योंकि गोशब्द का प्रयोग करने पर द्रव्यविशेष का ज्ञान होता है न कि अभाव का। अतः आप का मत अयुक्त है।

अथवा सूत्र का व्याख्यान यों करें—भावों की स्वरूपसिद्धि होने से वे अभाव नहीं हैं। यदि सब कुछ निःस्वभाव ही है तो जहाँ आप अश्वरूप से गौ का अभाव बतलाते हैं वहाँ गोरूप से गौ का अभाव क्यों नहीं बतलाते ! नहीं बतलाते, अतः सिद्ध होता है कि गोरूप से वह गौ अवश्य है; यों आपके कथन से ही स्वभावसिद्धि हो गयी। दूसरे, जो अश्व नहीं है उसे 'अश्व' या जो गौ है उसे 'गौ नहीं है' ऐसा क्यों नहीं कहते ! नहीं कहते, अतः सिद्ध है कि द्रव्य की स्वरूप से विद्यमानता आप भी समझ रहे हैं।

संयोगादिभिन्नत्व ही व्यतिरेक है, तद्भिन्नत्व अव्यतिरेक है, उसका प्रतिषेध करते समय भाव के साथ सामानाधिकरण्य असत्प्रत्यय में ज्ञात होता है। जैसे—कुण्ड में बदरफल नहीं हैं। यहाँ बदरद्रव्य का अभावज्ञान के साथ सामानाधिकरण्य है। अश्वात्मा से गौ का अभाव तथा गवात्मा के गौ के अभाव से उनका अभेद (एकत्व) प्रतिषिद्ध किया जाता है कि गौ तथा अश्व एक द्रव्य नहीं हैं, उसके प्रतिषिद्ध किये जाते समय भाव (सत् गोद्रव्य) से असत् (अश्वाभाव) ज्ञान का सामानाधिकरण्य हो जाता है; जैसे—'कुण्ड में बदर नहीं हैं' यहाँ कुण्ड में बदरसंयोग प्रतिषिद्ध किये जाते समय बदरात्मक सत् के साथ असज्ज्ञान का सामानाधिकरण्य हो जाता है ॥ ३८ ॥

---

१. 'च भावानाम्' इति पाठा० ।

२. सर्वमेतत् स्पष्टीकृतं वाचस्पतिमिश्रैरिति तात्पर्यटीकातोऽनुसन्धेयम् ।

न स्वभावसिद्धिः; आपेक्षिकत्वात् ? ॥ ३९ ॥

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम् । ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घम्, दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वम्; न स्वेनात्मनावस्थितं किञ्चित् । कस्मात् ? अपेक्षासामर्थ्यात् । तस्मान्न स्वभावसिद्धिर्भावानामिति ॥ ३९ ॥

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घम्, ह्रस्वमनापेक्षिकम्; किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते ? अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वम्, दीर्घमनापेक्षिकम्; किमिदानीमपेक्ष्य दीर्घमिति गृह्यते ? एवमितरेतराश्रययोरेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति दीर्घापेक्षाव्यवस्थाऽनुपपन्ना । स्वभावसिद्धावसत्यां समयोः परिमण्डलयोर्वा द्रव्ययोरापेक्षिके दीर्घत्वह्रस्वत्वे कस्मान्न भवतः ? अपेक्षायामनपेक्षायां च द्रव्ययोरभेदः । यावती द्रव्ये अपेक्षमाणे तावती एवानपेक्षमाणे, नान्यतरत्र भेदः । आपेक्षिकत्वे तु सत्यन्यतरत्र विशेषोपजनः स्यादिति ।

किमपेक्षासामर्थ्यमिति चेत् ? द्वयोर्ग्रहणेऽतिशयग्रहणोपपत्तिः । द्वे द्रव्ये पश्यन्नेकत्र विद्यमानमतिशयं गृह्णाति तद् दीर्घमिति व्यवस्यति, यच्च हीनं

शून्यवादी फिर आक्षेप करते हैं—

सभी भावों के आपेक्षिकत्व होने से स्वभावसिद्धि नहीं बनती ॥ ३९ ॥

'आपेक्षिक' अर्थात् अपेक्षया कृत । दीर्घ में दीर्घत्व ह्रस्वापेक्षया है, तथा ह्रस्व में ह्रस्वत्व दीर्घापेक्षया । वस्तुतः दोनों में स्वयं दीर्घह्रस्व-भाव नहीं हैं; क्योंकि दोनों ही एक दूसरे की अपेक्षासामर्थ्य रखते हैं । अतः यह मानना चाहिए कि सभी भावों की सत्ता आपेक्षिकी है, वास्तव में वे अभाव ही हैं ? ॥ ३९ ॥

व्याघात दोष से आपेक्षिकत्व हेतु नहीं बनता ? ॥ ४० ॥

यदि ह्रस्वापेक्षया दीर्घ है तो ह्रस्व अनापेक्षिक हो गया, यह ह्रस्व अब किसकी अपेक्षा से 'ह्रस्व' कहलायेगा ! एवमेव दीर्घापेक्षया ह्रस्व है तो दीर्घ अनापेक्षिक हो गया, यह दीर्घ अब किसकी अपेक्षा से 'दीर्घ' कहलायेगा ! इस तरह, अन्योन्याश्रय दोष से एक का अभाव होने पर दूसरे के न होने से दोनों का ही अभाव होने लगेगा—यों आपकी यह अपेक्षाव्यवस्था अनुपपन्न ही रहेगी ।

अथ च, स्वभावसिद्धि न मानोगे तो बताइये कि समान आकार वाले दो द्रव्यों में आपेक्षिक ह्रस्वत्व-दीर्घत्व क्यों नहीं बनते ? अपितु अपेक्षा होने या न होने से भी द्रव्यों में अभेद होना चाहिए । जितनी मात्रा में दोनों द्रव्य अपेक्षा रखते हैं उतनी ही मात्रा में दोनों अपेक्षा नहीं रखते । उन्हें आपेक्षिक मानने पर उनमें से भी किसी एक की विशेषता माननी ही होगी, जब कि वस्तुतः होती नहीं ।

आपके मत में यह अपेक्षासामर्थ्य क्या है ? दो के ग्रहण में किसी एक में अतिशय

गृह्णाति तद् ह्रस्वमिति व्यवस्यतीति । एतच्चापेक्षासामर्थ्यं मिति ॥ ४० ॥

संख्यैकान्तवादप्रकरणम् [४१–४३]

अथेमे संख्यैकान्ताः—

सर्वमेकम्–सदविशेषात् । सर्वं द्वेधा–नित्यानित्यभेदात् । सर्वं त्रेधा–ज्ञाता, ज्ञानम्, ज्ञेयमिति । सर्वं चतुर्द्धा–प्रमाता, प्रमाणम्, प्रमेयम्, प्रमितिरिति । एवं यथासम्भवमन्येऽपीति । तत्र परीक्षा—

संख्यैकान्तासिद्धिः; कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥

यदि साध्यसाधनयोर्नानात्वम् ? एकान्तो न सिद्ध्यति; व्यतिरेकात् । अथ साध्यसाधनयोरभेदः ? एवमप्येकान्तो न सिध्यति; साधनाभावात्, न हि तमन्तरेण कस्यचित्सिद्धिरिति ॥ ४१ ॥

ग्रहण (ज्ञान) होता है, जैसे दो द्रव्यों को देखता हुआ किसी एक में अतिशय ग्रहण करता है तो उसे 'दीर्घ' तथा जिसमें कुछ न्यूनता पाता है उसे 'ह्रस्व' कह देता है—यही अपेक्षासामर्थ्य है ॥ ४० ॥

अब सङ्ख्यैकान्तवाद पर विचार करने के लिये उनमें से कुछ का परिगणन किया जा रहा है । [कुछ दार्शनिक एक ही तत्त्व मानते है, कुछ दो; कुछ तीन, कुछ चार और कुछ पाँच ही तत्त्व हैं—ऐसा मानते हैं । यों इन वादों में संख्या नियमित की गयी है । ये सभी वाद इस न्यायशास्त्र के विरुद्ध है, अतः इनमें से कुछ का परिगणन कर निरस्त किया जा रहा है ।]

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं—एक ही तत्त्व है; क्योंकि सब कुछ उसी सत् से अनुगत है । दूसरे 'सब कुछ दो में विभक्त हैं' ऐसा माननेवाले द्वैतवादी दार्शनिक कहते हैं—नित्य-अनित्य भेद से दो ही तत्त्व हैं; क्योंकि इन के अतिरिक्त कोई ऐसा वर्ग नहीं, जिसमें सभी द्रव्य वर्गीकृत हो सकें । त्रित्ववादी दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—ये तीन ही तत्त्व हैं । (तात्पर्यकार यहाँ 'ज्ञान' पद को ज्ञानकारणपरक मानते हैं ।) तत्त्वचतुष्टयवादी दार्शनिक कहते हैं–प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति—ये चार ही तत्त्व हैं । इस तरह अन्य दार्शनिकों के भी मत संगृहीत कर लेने चाहिये । (जैसे—कुछ अन्य द्वैतवादी 'प्रकृति तथा पुरुष दो ही तत्त्व हैं'—ऐसा मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक—'रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान–ये पाँच स्कन्ध ही तत्त्व हैं'–ऐसा मानते हैं ।)

अब इन पर सामान्यरूप से विचार किया जा रहा है—

कारणोपपत्ति होने न होने से संख्यैकान्त की सिद्धि नहीं बन सकती ॥ ४१ ॥

यदि साध्य (संख्यैकान्ततारूप ज्ञेय) तथा साधन (प्रमाण) का नानात्व (भेद) मानते हो तो संख्या का एकान्त (नियम) सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि वे दो हैं ! यदि साध्य तथा साधन में अभेद मानते हो तो भी एकान्त सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि तब उस एकान्त की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । प्रमाण 'हेतु' के विना किसी की सिद्धि प्रेक्षावान् मानते नहीं ॥ ४१ ॥

न; कारणावयवभावात् ? ॥ ४२ ॥

न संख्यैकान्तानामसिद्धिः; कस्मात्? कारणस्यावयवभावात्। अवयवः कश्चित् साधनभूत इत्यव्यतिरेकः। एवं द्वैतादीनामपीति ॥ ४२ ॥

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः। कस्मात्? सर्वमेकमित्यनपवर्गेण प्रतिज्ञाय कस्यचिदेकत्वमुच्यते, तत्र व्यपवृक्तोऽवयवः साधनभूतो नोपपद्यते। एवं द्वैतादिष्वपीति।

ते खल्विमे संख्यैकान्ताः यदि विशेषकारितस्यार्थभेदविस्तारस्य प्रत्याख्यानेन वर्त्तन्ते? प्रत्यक्षानुमानागमविरोधान्मिथ्यावादा भवन्ति। अथाभ्यनुज्ञानेन वर्त्तन्ते? समानधर्मकारितोऽर्थसङ्ग्रहो विशेषकारितश्चार्थभेद इति एवमेकान्तत्वं जहतीति।

ते खल्वेते तत्त्वज्ञानप्रविवेकार्थमेकान्ताः परीक्षिता इति ॥ ४३ ॥

फलपरीक्षाप्रकरणम् [४४–५४]

प्रेत्यभावान्तरं फलम्। तस्मिन्—

कारण के अवयवभाव से संख्यैकान्तसिद्धि बन जायेगी ? ॥ ४२ ॥

संख्यैकान्तों की असिद्धि नहीं है; क्योंकि वहाँ कारण का अवयवभाव अर्थात् कार्यावयवरूपत्व है। साध्य का अवयव किसी का साधन होगा ही, अतः साध्यसाधन का अभेद बन जायेगा। इसी रीति से द्वैतादि संख्यैकान्तों में भी समाधान कर लेना चाहिये ? ॥ ४२ ॥

निरवयव होने से उक्त हेतु नहीं बनेगा ॥ ४३ ॥

'कारण के अवयवभाव से'—यह हेतु नहीं बन सकता; क्योंकि 'सब कुछ एक है' यों सभी की अव्यावृत्तरूप प्रतिज्ञा कर के किसी का एकत्व कहा जा रहा है। इस प्रतिज्ञा-वाक्य में अव्यावृत्त अवयव प्रमाणरूप में उपस्थित नहीं हो सकता; क्योंकि आपने 'सब कुछ एक है' कह कर किसी को छोड़ा ही नहीं, जो पृथक् रह कर उक्त प्रतिज्ञा-साधन-वाक्य में प्रमाण रूप से उपस्थित हो सके। इसी तरह द्वैतादि के विषय में भी प्रतिषेध समझ लें।

ये संख्यैकान्तवाद यदि विशेष धर्म द्वारा कराये गये अर्थविस्तार को न स्वीकार कर स्थापित किये जाते हैं तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों का विरोध होने से 'मिथ्या वाद' ही कहलायेंगे। यदि स्वीकार करके स्थापित किये जाते हैं तो प्रतिज्ञाहानि होगी; क्योंकि अर्थसंग्रह समानधर्म द्वारा कराया जाता है, तथा अर्थभेद विशेषधर्म द्वारा; यों भेद के अनन्त होने से वे धर्म-एकान्त को छोड़ बैठते हैं।

इन एकान्तवादों की परीक्षा तत्त्वज्ञान में प्रविवेक के लिये की गयी है। (यह परीक्षा अनुपद परीक्षित 'प्रेत्यभाव' में भी सहायक होगी ॥ ४३ ॥

उद्देशसूत्र (१.१.९) में कथित क्रमानुसार अब प्रेत्यभाव के बाद फल पर विचार किया जा रहा है। उसमें

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

पचति, दोग्धीति सद्यः फलमोदनपयसी । कर्षति, वपतीति कालान्तरे फलं शस्याधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति, एतस्याः फले संशयः[1] ॥ ४४ ॥

न सद्यः; कालान्तरोपभोग्यत्वात्[2] ॥ ४५ ॥

स्वर्गः फलं श्रूयते, तच्च भिन्नेऽस्मिन्देहभेदादुत्पद्यते इति न सद्यः ग्रामादिकामानामारम्भफलमिति ॥ ४५ ॥

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ? ॥ ४६ ॥

ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः फलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुमर्हति, न खलु वै विनष्टात् कारणात्किञ्चिदुत्पद्यते इति ॥ ४६ ॥

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् ॥ ४७ ॥

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते, तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवी-

---

तत्काल तथा कालान्तर में फलनिष्पत्ति से सशय होता है ॥ ४४ ॥

'पकाता हैं' 'दुहता हैं' इन क्रियाओं के भोजन तथा दूध सद्यः फल हैं । 'जोतता हैं' 'बोता हैं' इन क्रियाओं का धान्यप्राप्तिरूप फल कालान्तर में मिलता है । एक यह भी क्रिया है—'स्वर्गेच्छु पुरुष अग्निहोत्र करे', इस क्रिया में संशय होता है कि यह सद्यःफलप्रद है या कालान्तर में फलप्रद है ॥ ४४ ॥

स्वर्ग के कालान्तरोपभोग्य होने से उक्त क्रिया सद्यःफलप्रद नहीं है ॥ ४५ ॥

उस अग्निहोत्र क्रिया का आप्त पुरुषों द्वारा स्वर्गफल सुना जाता है । वह फल इस शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर में वन सकता है, अतः यह क्रिया सद्यःफलप्रद नहीं है, जैसे—ग्रामाद्युपार्जनरूप फल राजा की सेवा के तत्काल वाद इस शरीर में ही मिल जाता है ॥ ४५ ॥

हेतु के विनष्ट हो जाने से कालान्तर में भी उक्त फलनिष्पत्ति नहीं होगी ? ॥४६॥

कर्मसमाप्ति के बाद कर्म के विनष्ट हो जाने पर तत्कार्यभूत फल कारण के विना उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि कारण के विना कुछ भी नहीं हुआ करता ? ॥ ४६ ॥

वृक्षफल की तरह स्वर्गादिनिष्पत्ति से पूर्व वह क्रिया फल का साधन तो होगी ही ॥ ४७ ॥

जैसे फल चाहनेवाला पुरुष वृक्ष की जड़ में जलसिञ्चन-आदि क्रिया करता

---

१. अत्रोदयनाचार्येण भाष्योक्तावस्वरसः प्रदर्शित इति परिशुद्धौ द्रष्टव्यः ।

२. न्यायसूचीनिबन्धेऽस्मात्पूर्वं सूत्रं वार्तिकस्वारस्येन स्वीकृतम् ।

धातुरब्धातुना सङ्गृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्तयति, स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादि फलं निर्वर्तयति, एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत्। न च विनष्टात् फलनिष्पत्तिः। तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते, स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयतीति। उक्तञ्चैतत् 'पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः' (३. २. ६०) इति ॥ ४७॥

तदिदं प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पद्यमानम्—

नासन्न सन्न सदसत्; सदसतोर्वैधर्म्यात् ? ॥ ४८॥

प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासत्; उपादाननियमात्। कस्यचिदुत्पत्तये किञ्चिदुपादेयम्, न सर्वं सर्वस्येत्यसद्भावे नियमो नोपपद्यते इति। न सत्, प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्योत्पत्तिरनुपपन्नेति। सदसत् न; सदसतोर्वैधर्म्यात्। सदित्यर्थाभ्यनुज्ञा, असदिति अर्थप्रतिषेधः; एतयोर्व्याघातो वैधर्म्यम्। व्याघातादव्यतिरेकानुपपत्तिरिति ॥ ४८॥

रहता है, उन क्रियाओं के नष्ट होने पर भी पृथ्वीधातु अब्धातु से संगृहीत होकर अपने आन्तरिक तेज से पकाये गये रस द्रव्य को बनाती है, वह द्रव्यभूत वृक्षानुगत रस पाकसम्पन्न होता हुआ आकारविशेष में सन्निविष्ट होता हुआ पर्णादि फल को उत्पन्न करता है, इस तरह वे जलसिञ्चन-आदि क्रियायें सार्थक हो गयीं, उन क्रियाओं के विनष्ट होने से यह फलनिष्पत्ति नहीं हुई। इसी प्रकार कर्म के निष्पन्न होने पर, उसकी निष्पत्ति तथा तत्फलोत्पत्ति के बीच में अवान्तर कारणान्तर सहकृत फलनिष्पत्तिसाधनभूत तत्कर्मगत धर्माधर्मरूप जो संस्कार उत्पन्न होता है और वह कालान्तर में फलनिष्पत्ति करा देता है। यह बात हम पीछे भी कह आये हैं—'पूर्वकृतफलानुबन्ध से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है' (३.२.६०) ॥ ४७॥

अब विचार किया जा रहा है कि यह निष्पन्न होनेवाला निष्पन्न होने से पूर्व क्या है ? सत् है, या असत् है, या सदसत् है, या दोनों ही नहीं है ?

यह निष्पन्न होने वाला निष्पत्ति से पूर्व न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, क्योंकि सत् तथा असत् दोनों एक दूसरे के विपक्षी हैं ॥ ४८ ॥

यह निष्पत्तिधर्मा निष्पत्ति से पूर्व असत् नहीं हैं; क्योंकि इसमें यह उपादाननियम है—किसी (घटादि) की उत्पत्ति के लिए कोई एक (मृदादि) ही उपादेय हो सकता है, न कि सब के लिये सब उपादेय हो सकते हैं। जब कि असद्भाव मानने पर ऐसा कोई नियम मानना आवश्यक नहीं। इसे सत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि विद्यमान की उत्पत्ति क्या होगी ! सदसत् भी नहीं है; क्योंकि सदसत् परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होते हैं। जैसे—'सत्' यह उस द्रव्य (घटादि) की स्वीकृति है, 'असत्' यह उस द्रव्य का प्रतिषेध हैं; इन दोनों का विरोधी वैधर्म्य है; यों विरोध होने से इनका ऐकाधिकरण्य नहीं बनेगा ?

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धा। कस्मात् ?

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥

यत्पुनरुक्तम्–प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमादिति ?

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥

इदमस्योत्पत्तये समर्थं न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्यं बुद्धया सिद्धम्; उत्पत्तिनियमदर्शनात्। तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः। सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति ॥ ५० ॥

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ? ॥ ५१ ॥

मूलसेकादि परिकर्म फलं चोभयं वृक्षाश्रयम्, कर्म चेह शरीरे, फलं चामुत्रेत्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति ? ॥ ५१ ॥

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितम्, धर्मस्यात्मगुणत्वात्। तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति ॥ ५२ ॥

'उत्पत्ति से पूर्व, यह उत्पत्तिधर्मा असत् ही हैं'—यही पक्ष ठीक है।

क्योंकि उसका उत्पाद-विनाश देखा जाता है ॥ ४९ ॥

यह जो कहा था कि—उपादाननियम होने से उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् नहीं है ?

वह असत् बुद्धिविषयक है ॥ ५० ॥

'यही इसकी उत्पत्ति में समर्थ है, अन्य सब नहीं'—इस अनुमान से यह उत्पत्ति से पूर्व नियत कारणवाला है ऐसा कार्य बुद्धि से सिद्ध होता है। इस तरह बुद्धिसिद्धि होने से उपादाननियम की बात सिद्ध हो जाती हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सत् मानने पर उस की उत्पत्ति ही क्या होगी ! ॥ ५० ॥

'वृक्षफलोत्पति की तरह' यह दृष्टान्त परलोकभाविफल का असाधक हैं; (क्योंकि उभयलोकानुगत सुखदुःखादिरूप फल का) आश्रय कोई नहीं है ? ॥ ५१ ॥

दृष्टान्त में, मूलमें जलसिञ्चन तथा फलोत्पत्ति—दोनों का एक ही वृक्ष आश्रय है, जबकि यहाँ कर्म इस शरीर में तथा फल दूसरे शरीर में। तब बताइये—वृक्षफलोत्पत्ति वाला दृष्टान्त यहाँ कैसे घटेगा ? ॥ ५१ ॥

प्रीति के आत्माश्रय होने से आश्रयविरोध नहीं है ॥ ५२ ॥

'प्रीति' कहते हैं सुख को, स्वर्ग भी सुखविशेष ही है। यह 'प्रीति' आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष की जाने से आत्माश्रय है, धर्मसंज्ञक कर्म भी आत्माश्रय ही है; क्योंकि वह धर्म आत्मगुण है। यों आश्रय का अस्तित्व न रहने की साधक युक्ति खण्डित हो गयी ॥ ५२ ॥

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ? ॥ ५३ ॥

पुत्रादि फलं निर्दिश्यते, न प्रीतिः—'ग्रामकामो यजेत', 'पुत्रकामो यजेतेति'। तत्र यदुक्तम्–'प्रीतिः फलम्' इति, एतदयुक्तमिति ? ॥ ५३ ॥

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥

पुत्रादिसम्वन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यते इति पुत्रादिषु फलवदुपचारः। यथान्ने प्राणशव्दः—'अन्नं वै प्राणाः' इति ॥ ५४ ॥

दुःखपरीक्षाप्रकरणम् [५५-५८]

फलानन्तरं दुःखमुद्दिष्टम्, उक्तं च–'बाधनालक्षणं दुःखम्' (१.१.२१) इति। तत्किमिदं प्रत्यात्मवेदनीयस्य सर्वजन्तुप्रत्यक्षस्य सुखस्य प्रत्याख्यानम् ? आहोस्विदन्यः कल्प इति ?

अन्य इत्याह। कथम् ? न वै सर्वलोकसाक्षिकं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। अयं तु जन्ममरणप्रवन्धानुभवनिमित्ताद् दुःखान्निर्विण्णस्य दुखं जिहासतो दुःखसंज्ञाभावनोपदेशो दुःखहानार्थं इति। कया युक्त्या ? सर्वे खलु सत्त्वनिकायाः सर्वाण्युत्पत्तिस्थानानि सर्वः पुनर्भवो बाधनानुषक्तो दुःखसाहचर्याद्

समानाश्रय नहीं बनेगा. क्योंकि (उस ग्रामकामक अग्निहोत्र का) पुत्र-स्त्री-पशु-सुवर्ण-अन्न आदि फल भी निर्दिष्ट किया गया है, न कि प्रीति ही ? ॥ ५३ ॥

'ग्राम की इच्छा वाला यज्ञ करें', 'पुत्र की इच्छा वाला यज्ञ करें' इत्यादि श्रुतियों से पुत्रादिप्राप्तिफल भी उपवर्णित है। अतः आपने उसका प्रीति ही फल वतलाया—वह अयुक्त है ? ॥ ५३ ॥

उसके सम्बन्ध से फलनिष्पत्ति होने के कारण पुत्रादि में फल को तरह उपचार कर लिया जाता है ॥ ५४ ॥

वस्तुतः पुत्रादिसम्वन्ध से प्रीतिधर्म फल उत्पन्न होता है, अतः पुत्रादि में फल का आरोप कर लिया है। जैसे अन्न के प्राणरक्षक होने से श्रुति में अन्न को ही प्राण कह दिया गया है—'अन्न ही प्राण है' ॥ ५४ ॥

उद्देशसूत्र में फल के वाद 'दुःख' का नामनिर्देश किया है, तथा आगे चलकर इसका लक्षण किया है—'वाधना (पीड़ा) को दुःख कहते हैं' (१.१.२१) तो क्या यह दुःख सभी प्राणियों को प्रत्यक्ष होने वाले सर्वजनानुभवसिद्ध 'सुख' का प्रतिषेध है, या कोई दूसरा है ? प्रतिषेध से दूसरा है। कैसे ? सर्वजनानुभवसिद्ध सुख का यह प्रतिषेध नहीं कहा जा सकता; अर्थात् सुख नहीं हटाया जा सकता। वह तो जन्ममरण-प्रवाहानुभवनिमित्तक दुःख से से दुःखी पुरुष, जो कि उससे छुटकारा पाना चाहता है, को उक्त दुःख में दुःखसंज्ञा की भावना करने के लिये यह उपदेश प्रयुक्त है कि इस भावना से तुम्हारा दुःख निवृत्त हो जायेगा तथा सुख मिलेगा। इसमें युक्ति क्या है? 'सभी प्राणिसमूह, सभी उत्पत्तिस्थान, सभी जन्म दुःख में लिपटे हुए हैं, दुःख के साहचर्य से ये

'बाधनालक्षणं दुःखम्' (१.१.२१) इत्युक्तम्, ऋषिभिर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते। अत्र च हेतुरुपादीयते—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

जन्म = जायते इति, शरीरेन्द्रियबुद्धयः, शरीरादीनां च संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः। विविधा च बाधना–हीना, मध्यमा, उत्कृष्टा चेति। उत्कृष्टा नारकिणाम्, तिरश्चां तु मध्यमा, मनुष्याणां तु हीना, देवानां हीनतरा वीत-रागाणां च। एवं सर्वमुत्पत्तिस्थानं विवधबाधनानुषक्तं पश्यतः सुखे तत्साधनेषु च शरीरेन्द्रियबुद्धिषु दुःखसंज्ञा व्यवतिष्ठते। दुःखसंज्ञाव्यवस्थानात् सर्वलोकेष्वन-भिरतिसंज्ञा भवति। अनभिरतिसंज्ञामुपासीनस्य सर्वलोकविषया तृष्णा विच्छि-द्यते, तृष्णाप्रहाणात् सर्वदुःखाद्विमुच्यते इति। यथा विषयोगात् पयो विषमिति बुध्यमानो नोपादत्ते, अनुपाददानो मरणदुःखं नाप्नोति ॥ ५५ ॥

दुःखोद्देशस्तु न सुखस्य प्रत्याख्यानम्, कस्मात्?

न; सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम्। कस्मात्? सुखस्याप्यन्तराल-

---

सभी को पीड़ा देते हैं, अतः दुःख हैं'—यों यह ऋषियों द्वारा दुःखसंज्ञाभावना के रूप में उपदिष्ट किया है। यहाँ हेतु देते हैं—

विविध बाधायुक्त होने से शरीरादि की उत्पत्ति दुःख है ॥ ५५ ॥

जन्म अर्थात् जो उत्पन्न हो, जैसे—शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि। संस्थानविशिष्ट शरीरादि का प्रादुर्भाव 'उत्पत्ति' कहलाता है। हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद से दुःख अनेक प्रकार का है। इनमें उत्कृष्ट दुःख नरकवासकाल में मिलता है, मध्यम दुःख पशु योनि में तथा हीन (अल्प) दुःख मनुष्य योनि में मिलता है। देवयोनि में तथा वीतराग ज्ञानियों में यह दुःखमात्रा अल्पतर होती है। इस प्रकार सभी उत्पत्तिस्थान (योनियों) को दुःखानुषक्त समझते हुए जिज्ञासु की सुख के साधन तथा ज्ञायमान शरीर, इन्द्रिय तथा बुद्धि में दुःखबुद्धि वन जाती है। इनमें दुःखबुद्धि वन जाने से समग्र चराचर जगत् को दुःख रूप समझ कर जिज्ञासु उससे विरक्त हो जाता है। इस विराग-भावना का अभ्यास करने से उसकी सार्वत्रिकी तृष्णा विच्छिन्न हो जाती है। तृष्णानाश से वह सभी दुःखों से छुटकारा पा जाता है। वह समझता है कि जैसे विपसम्पृक्त दुग्ध विषवत् कार्य करता है उसी तरह यह दुःखसम्पृक्त सुख भी दुःख ही है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये प्रयास नहीं करता; उक्त प्रयास न करने से वह मरणदुःख नहीं पाता ॥ ५५ ॥

उद्देशसूत्र (१.१.९) में दुःख की गणना सुखप्रत्याख्यान के रूप में नहीं की गयी है—

बीच-बीच में सुख की भी उत्पत्ति होने से यह सुख का प्रत्याख्यान नहीं है ॥५६॥

यह दुःखपरिगणन सुख का निषेध नहीं हैं; क्योंकि इस दुःखप्रवाह में बीच-बीच में

निष्पत्तेः। निष्पद्यते खलु बाधनान्तरालेषु सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणाम्, तदशक्यं प्रत्याख्यातुमिति ॥ ५६ ॥

अथापि—

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

सुखस्य दुःखोद्देशेनेति प्रकरणात्, पर्येषणम् = प्रार्थना विषयार्जनतृष्णा, पर्येषणस्य दोषो यदयं वेदयमानः प्रार्थयते, तच्चास्य प्रार्थितं न सम्पद्यते, सम्पद्य वा विपद्यते, न्यूनं वा सम्पद्यते, बहुप्रत्यनीकं वा सम्पद्यते—इत्येतस्मात् पर्येषण-दोषान्नानाविधो मानसः सन्तापो भवति। एवं वेदयतः पर्येषणदोषाद् बाधनाया अनिवृत्तिः। बाधनाऽनिवृत्तेर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते। अनेन कारणेन दुःखं जन्म, न तु सुखस्याभावादिति।

अथाप्येतदनूक्तम्—

'कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते'॥

"अपि चेदुदनेमि समन्ताद् भूमिमिमां लभते[1] सगवाश्वां न स तेन धनेन

सुख की उत्पत्ति होती रहती है। दुःखों के वीच में सुख भी प्रत्येक प्राणी को अनुभूत होता रहता है। इस प्रत्यक्षगम्य सुखानुभव का कोई कैसे प्रत्याख्यान कर सकता है!

एक बात और—

सुखानुभव करते हुए को तृष्णानुवर्तन होने के कारण दुःखनिवृत्ति न होने से प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ ५७ ॥

दुःखों का कीर्तन प्रकरण रहने से यहाँ पर्येषण सुखसम्वन्धी समझना चाहिये। पर्येषण से तात्पर्य है प्रार्थना, अर्थात् विषय को पाने की तृष्णा। इस तृष्णा में दोष यह है कि जव पुरुष किसी सुख का अनुभव करके उसे (पुनः) चाहता है, चाहने पर कभी वह सुख उसे मिल जाता है, कभी नहीं मिलता, या कभी मिलकर पुनः नष्ट हो जाता है, या यथेच्छ नहीं मिलता, या उसे वहुत से विघ्न आगे-पीछे घेर लेते हैं। इस तृष्णादोष से उस पुरुष को नाना प्रकार का मानसिक क्लेश होता है। इस रीति से, सुखानुभव करते हुए भी वह सुख तृष्णा से लिपटा रहता है। यतः दुःख एकान्ततः निवृत्त नहीं होता, अतः वाधा के रहने से दुःख पृथक् पदार्थ माना गया है, सुखाभाव नहीं।

जैसा कि वृद्धजनों ने कहा भी है—

विषय को जव यह चाहने लगता है तो इसकी यह चाह (तृष्णा) धीरे-धीरे वढ़ती जाती है, अतः यह एक चाह के पूरा होते ही दूसरी चाह को लेकर परेशान हो उठता है। उदाहरण के रूप में इस वात को ले सकते हैं—'गौ, अश्व-आदि साधनों सहित

---

१. 'भूमिमालभते'—इति पाठ०।

धनैषी तृप्यति किन्तु सुखं धनकामे" इति ! ॥ ५७ ॥

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥

दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते । अयं खलु सुखसंवेदने व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थं मन्यते—न सुखादन्यन्निःश्रेयसमस्ति, सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणीयो भवति । मिथ्यासंकल्पात्सुखे तत्साधनेषु च विषयेषु संरज्यते, संरक्तः सुखाय घटते, घटमानस्यास्य जन्मजराव्याधिप्रायणानिष्टसंयोगेष्टवियोगप्रार्थितानुपपत्तिनिमित्तमनेकविधं यावद् दुःखमुत्पद्यते, तं दुःखविकल्पं सुखमित्यभिमन्यते । सुखाङ्गभूतं दुःखम्, न दुःखमनासाद्य शक्यं सुखमवाप्तुम् । तादर्थ्यात्सुखमेवेदमिति सुखसंज्ञोपहतप्रज्ञो जायस्व म्रियस्व सन्धावेति संसारं नातिवर्तते । तदस्याः सुखसंज्ञायाः प्रतिपक्षो दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते—दुःखानुषङ्गाद् दुःखं जन्मेति, न सुखस्याभावात् ।

यद्येवम्, कस्माद् दुःखं जन्मेति नोच्यते सोऽयमेवं वाच्ये यदेवमाह—दुःखमेव जन्मेति, तेन सुखाभावं ज्ञापयतीति ? जन्मविनिग्रहार्थीयो[1] वै खल्वयमेवशब्दः,

---

समुद्रपर्यन्त समग्र पृथिवी को पा ले तो भी यह धनलोलुप सन्तुष्ट नहीं हो सकता; अतः ऐसी धनकामना में क्या सुख है !' ॥ ५७ ॥

दुःख के विविध कल्पों में सुखाभिमान होने से ॥ ५८ ॥

दुःखसंज्ञाभावना का उपदेश किया जाता है । साधारणतया पुरुष विषयों में बार-बार सुखानुभव करता हुआ सुख को परम पुरुषार्थ मानता है कि सुख के अतिरिक्त कोई कल्याण नहीं है । अतः सुख प्राप्त होने पर सन्तुष्ट होता हुआ कृतकृत्य हो जाता है । इस प्रकार मिथ्या सङ्कल्प से सुख तथा तत्साधनभूत विषयों में संरक्त हो जाता है, संरक्त हो सुखाप्ति के लिए चेष्टा करता है । चेष्टा करते हुए इसको जन्म, वार्द्धक्य, व्याधि, मृत्यु, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा काम्यानुपलब्धि आदि के कारण अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन्हीं को वह सुख मान बैठता है । सुख का अङ्ग है दुःख, दुःख विना पाये सुख नहीं मिल सकता—इस तदर्थता से उस दुःख में 'यह सुख ही है'—ऐसी मिथ्या संज्ञाभावना करके अविवेक से 'जीऊँ, मरूँ, भटकता फिरूँ' इस वासना के कारण वह संसार (जन्म-मरणरूपी प्रवाह) को कभी अतिक्रान्त नहीं कर पाता । अतः आचार्यजन इस सुखसंज्ञा की प्रतिपक्षभूत दुःखसंज्ञा की भावना का उपदेश करते हैं । यों, दुःखानुषङ्ग होने से जन्म को दुःख माना गया है, न कि सुख के अभाव से ।

यदि ऐसी बात है, तो 'दुःख जन्म है'—इतना ही कह दें, आपके कहने का मतलव 'दुःख ही जन्म है'—ऐसा है तो आप सुख का सर्वथा प्रत्याख्यान करना चाह रहे हैं ? यह ठीक नहीं, क्योंकि इस 'एव' शब्द का जन्मनिवृत्ति बतलाना ही प्रयोजन है; कैसे ?

---

१. 'विनिग्रहः = विनिवृत्तिः, स एव अर्थः प्रवर्त्तते इति जन्मविनिग्रहार्थीयः । यथा च—मत्वर्थीय इति । एतदुक्तं भवति—जन्म दुःखमेवेति भावयितव्यम्, नात्र मनागपि सुखबुद्धिः कर्तव्या; अनेकानर्थपरम्परायामपवर्गप्रत्यूहप्रसङ्गात्—इति श्रीवाचस्पतिमिश्राः ।

कथम् ? न दुःखं जन्म स्वरूपतः, किन्तु दुःखोपचाराद् । एवं सुखमपीति एतद-नेनैव निर्वर्त्त्यते, न तु दुःखमेव जन्मेति ॥ ५८ ॥

अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् [५९–६८]

दुःखोपदेशानन्तरमपवर्गः, स प्रत्याख्यायते—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ? ॥ ५९ ॥

ऋणानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः । "जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः" इति ऋणानि, तेषामनुबन्धः[1] स्वकर्मभिः सम्बन्धः । कर्मसम्बन्धवचनात् "जरामयं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति; जरया ह एष तस्मात् सत्राद्विमुच्यते, मृत्युना ह "वा इति । ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः ?

क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः । क्लेशानुबन्ध एवायं म्रियते, क्लेशानुबद्धश्च जायते । नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते ?

स्वयं जन्म दुःख नहीं, किन्तु उसमें दुःख की भावना (आरोप) की जाती है अर्थात् दुःख का जन्म में उपचार है । इसी तरह सुख के विषय में भी समझ लें । जन्म से सुख होता है न कि दुःख ही जन्म है । यहाँ जन्मनिवृत्ति ही इस उपदेश से समझायी जा रही है, सुख का अभाव नहीं सिद्ध किया जा रहा है ॥ ५८ ॥

उद्देशसूत्रानुसार अब क्रमप्राप्त 'अपवर्ग' पर विचार किया जाये । अपवर्ग, जिसका कि हम पीछे (१. १. २०) लक्षण कर आये हैं, का कुछ लोग प्रत्याख्यान करते हैं । (वे कहते हैं—)

ऋणानुबन्ध, क्लेशानुबन्ध तथा प्रवृत्त्यनुबन्ध हेतुओं से अपवर्ग नहीं है ? ॥ ५९ ॥

ऋणानुबन्ध से 'अपवर्ग नहीं है'—ऐसा मानना चाहिए । जैसा कि शतपथब्राह्मण में कहा है—'उत्पन्न होता हुआ यह ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् रहता है, उसमें वह ऋषियों के ऋण (वेदाध्ययनाध्यापन) से ब्रह्मचर्य द्वारा छूटता है, देव-ऋण से यज्ञ द्वारा तथा पितृ-ऋण से सन्तानोत्पत्ति द्वारा छूट पाता है ।' यों ऋण बता दिये गये । इन ऋणों का अनुबन्ध अर्थात् स्वकर्तव्यों से सम्बन्ध । इस प्रकार हमारा सम्बन्ध इनसे सदा बना है । निष्कर्ष यह है कि इन ऋणों का अपाकरण कर्तव्य कोटि में आता है । इस कर्म-सम्बन्धवचन से—'यह अग्निहोत्र तथा दर्श, पूर्णमास आदि यज्ञ वार्धक्य तक करने आवश्यक हैं, इन यज्ञों से बुढ़ापा या मृत्यु आने पर ही छुटकारा मिल सकता है' यह श्रुति-वाक्य से प्रमाणित होता है । उक्त ऋणापाकरण में ही समग्र जीवन व्यतीत हो जायेगा तो उसे अपवर्गानुष्ठान का समय ही न मिलेगा, अतः मान लें कि अपवर्ग नहीं है ?

क्लेशानुबन्ध से भी अपवर्ग नहीं है । यह प्राणी क्लेशानुबद्ध ही पैदा होता है, क्लेशों से संघर्ष करता-करता मर जाता है । उसका यह क्लेशानुबन्ध कभी विच्छिन्न होता नहीं दिखायी देता ?

---

१. 'अनुबन्धः = सर्वदाकरणीयता' इति वार्त्तिककृतः ।

प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः। जन्मप्रभृत्ययं यावत्प्रायणं वाग्बुद्धिशरीरारम्भेणाविमुक्तो गृह्यते, तत्र यदुक्तम्–'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इति (१.१.२) तदनुपपन्नमिति ? ॥ ५९ ॥

अत्राभिधीयते—

१. यत्तावदृणानुबन्धादिति, ऋणैरिव ऋणैरिति—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

'ऋणैः' इति नायं प्रधानशब्दः। यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात् प्रधानमृणशब्दः ! न चैतदिहोपपद्यते; प्रधानशब्दानुपपत्तेः। गुणशब्देनायमनुवादः–ऋणैरिव ऋणैरिति। प्रयुक्तोपमं चैतद्, यथाऽग्निर्माणवक इति। अन्यत्र दृष्टश्चायमृणशब्द इह प्रयुज्यते, यथाग्निशब्दो माणवके। कथं गुणशब्देनानुवादः ? निन्दाप्रशंसोपपत्तेः। कर्मलोपे ऋणीव ऋणादानान्निन्द्यते, कर्मानुष्ठाने च ऋणीव ऋणदानात्प्रशस्यते; स एवोपमार्थ इति।

प्रवृत्त्यनुबन्ध से भी अपवर्ग नहीं है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त यह प्राणी वाचिक, बौद्धिक तथा शारीरिक क्रियाओं में लगा रहता है, उनसे इसे कभी छुटकारा नहीं मिल पाता। अतः आपका यह पूर्व कथन (१. १. २) कि—'दुःख जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञानों के उत्तरोत्तर के अपाय द्वारा उसके बाद वाले के नाश से अपवर्ग हो जाता है' ? सर्वथा अयुक्त है ॥ ५९ ॥

यहाँ सिद्धान्ती (नैयायिक) कहता है—इस 'ऋणानुबन्ध' शब्द में 'ऋणों की तरह ऋणों से' ऐसा औपचारिक अर्थ करना चाहिए। क्योंकि

जहाँ शब्द का मुख्यार्थ अनुपपन्न हो वहाँ गुण शब्द से, निन्दा-प्रशंसोपपादन होने से अनुवाद कर लिया जाता है ॥ ६० ॥

'ऋणों से' यह प्रधान (मुख्यार्थबोधक) शब्द नहीं है। जहाँ एक उधार ली हुई चीज को देता है तथा दूसरा लेता है—वहीं 'ऋण' शब्द का मुख्यार्थ रूप में प्रयोग होता है। यहाँ ऐसी बात है नहीं, अतः इस शब्द का प्रधान अर्थ गृहीत नहीं होता। इसलिये ऋणशब्द लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किया है कि 'ऋणों की तरह के ऋणों से'। जैसे तेजस्वी आदमी को लोक में कह देते हैं—'यह माणवक तो अग्निरूप है'। इसी तरह अन्यत्र देखा गया ऋण शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है, जैसे अग्नि शब्द माणवक में। गुणशब्द से अनुवाद कैसे है ? उसके निन्दा-प्रशंसात्मक होने से। जैसे ऋणी ऋण न चुका पाने के कारण निन्दापात्र होता है उसी तरह यह पुरुष भी उक्त तीनों में से कोई एक या सब कर्मों के विलोप से निन्दापात्र बनता है। और जैसे ऋणी ऋण चुका देने से प्रशंसित होता है उसी तरह यह पुरुष कर्मानुष्ठान से प्रशंसा प्राप्त करता है।

जायमान इति गुणशब्दः; विपर्ययेऽनधिकारात्। 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इति च शब्दः—गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमान इति। यदायं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते; मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा तु मातृतो जायते कुमारः, न तदा कर्मभिरधिक्रियते; अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्। अर्थिनः कर्मभिरधिकारः; कर्मविधौ कामसंयोगस्मृतेः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्येवमादि। शक्तस्य च प्रवृत्तिसम्भवात्—शक्तस्य कर्मभिरधिकारः; प्रवृत्तिसम्भवात्। शक्तः खलु विहिते कर्मणि प्रवर्त्तते, नेतर इति। उभयाभावस्तु प्रधानशब्दार्थे। मातृतो जायमाने कुमारे उभयम्—अर्थिता, शक्तिश्च न भवतीति।

न भिद्यते च लौकिकाद् वाक्याद्वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारकमेवं ब्रूयात्—अधीष्व, यजस्व, ब्रह्मचर्यं चरेति, कुत एष ऋषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति ! न खलु वै नर्त्तकोऽन्धेषु प्रवर्त्तते, न गायको बधिरेष्विति। उपदिष्टार्था-

---

इसी तरह 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इस श्रुति में 'जायमान' भी गुणशब्द है; क्योंकि इस शब्द के प्रधान अर्थ 'जातमात्र' को यागाद्यनुष्ठान का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। मन्त्र में 'जायमान' शब्द का अर्थ है गृहस्थ होता हुआ, गृहस्थ बनता हुआ। अर्थात् जब यह ब्राह्मण गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता है तब उसको यज्ञादि कर्मों में अधिकार प्राप्त होता है। माता से उत्पन्न होते ही ब्राह्मण-शिशु को उन कर्मों में अधिकार प्राप्त नहीं है। जब यह शिशु माता से उत्पन्न होता है तभी से इसका अधिकार इसलिए नहीं होता कि उस यज्ञ कर्म में अर्थी तथा तत्कर्मानुष्ठानसमर्थ ही अधिकारी होता है। अर्थी को अधिकारी मानने का कारण यह है कि यज्ञों द्वारा अपने लिए कुछ चाहने वाला ही यज्ञ करे—ऐसा विधिरूप श्रुतिवाक्य में कामसंयुक्त वचन है, जैसे—'स्वर्गकाम अग्निहोत्र हवन करे'। सामर्थ्यवान् पुरुष ही उन कर्मों का अधिकारी है, क्योंकि समर्थ ही पूर्ण यज्ञों को कर पाता है। समर्थ ही विहित कर्म में प्रवृत्त हो सकता है, असमर्थ नहीं। 'जातमात्र' इस प्रधान शब्द के अर्थ में 'अर्थित्व' तथा 'शक्तत्व' दोनों का ही अभाव है। अर्थात् माता से उत्पन्न होते हुए शिशु में न अर्थित्व (किसी पुत्रादि वस्तु की चाह) रहती है, न शक्ति (यज्ञ करने की सामर्थ्य) ही।

बुद्धिमान् पुरुष द्वारा प्रणीत लौकिक वाक्य से वैदिक वाक्य भी भिन्न (निरर्थक) नहीं है। जैसे लोक में उत्पन्न होते हुए बालक को कोई बुद्धिमान् यह उपदेश नहीं दे सकता कि, 'पढ़ो, यज्ञ करो, ब्रह्मचर्य पालन करो', तो ये हित-मित-सत्यवादी ऋषि उपदेशानर्ह शिशु को ऐसा उपदेश कैसे कर सकते हैं ! क्या नर्तक अन्धों को अपना नाच दिखायेगा, या कोई गायक बहरों को अपना गाना सुनायेगा ! उपदेश उसी को किया जाता

विज्ञाता नोपदेशविषयः। यश्चोपदिष्टमर्थं विजानाति तं प्रत्युपदेशः क्रियते, न चैतदस्ति जायमानकुमारक इति। गार्हस्थ्यलिङ्गं च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति। यच्च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति तत्पत्नीसम्बन्धादिना गार्हस्थ्यलिङ्गेनोपपन्नम्। तस्माद् गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयते इति।

अर्थित्वस्य चाविपरिणामे जरामर्यवादोपपत्तिः। यावच्चास्य फलेनार्थित्वं न विपरिणमते न निवर्तते, तावदनेन कर्मानुष्ठेयमित्युपपद्यते जरामर्यवादस्तं प्रतीति। 'जरया ह वा' इत्यायुषस्तुरीयस्य चतुर्थस्य प्रव्रज्यायुक्तस्य वचनम्—'जरया ह वा एष एतस्माद्विमुच्यते' इति। आयुषस्तुरीयं चतुर्थं प्रव्रज्यायुक्तं 'जरा' इत्युच्यते। तत्रहि प्रव्रज्या विधीयते, अत्यन्तजरासंयोगे 'जरया ह वा' इत्यनर्थकम्।

'अशक्तो विमुच्यते' इत्येतदपि नोपपद्यते; स्वयमशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह— 'अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः, क्षीरहोता वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीतः' इति।

अथापि विहितं वानूद्येत? कामाद्वार्थः परिकल्प्येत? विहितानुवचनं न्याय्यमिति। ऋणवानिवास्वतन्त्रो गृहस्थः कर्मसु प्रवर्तते इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम्। फलस्य हि साधनानि प्रयत्नविषयः, न फलम्। तानि सम्पन्नानि फलाय

है जो उपदेश के अर्थ को समझे। उत्पन्न होता हुआ शिशु उस यज्ञाद्युपदेश को क्या समझेगा! अपि च—यह कर्म का प्रकाशक मन्त्रब्राह्मण गृहस्थचिह्नयुक्त जिस कर्म का अभिवदन कर रहा है, वह मन्त्रब्राह्मणोक्त कर्म गृहस्थ के चिह्न पत्नीसम्बन्ध आदि से युक्त है, अतः यही मानना पड़ेगा कि उक्त मन्त्रब्राह्मण में 'जायमान' का अर्थ 'गृहस्थ' ही अभिप्रेत है।

अर्थित्व की अनिवृत्ति होने पर जरामर्यवाद (वार्धक्य सीमा) भी उपपन्न हो जायगा। 'जब तक इस की फल से संयुक्त होने की कामना निवृत्त नहीं होती तब तक यह कर्म करना चाहिये' इस में जरामर्यवाद की मर्यादा रखी गयी है। यह उचित ही है। 'जरा' से तात्पर्य है आयु का प्रव्रज्यायुक्त चतुर्थ भाग। अर्थात् आयु के प्रव्रज्यायुक्त चतुर्थ भाग में वह इस कर्म से छुटकारा पा जाता है। क्योंकि आयु के चतुर्थ भाग को ही 'जरा' कहना उचित है; अन्यथा मरणासन्न अत्यन्त वार्धक्य आने पर प्रव्रज्या लेना निरर्थक ही है।

अशक्त पुरुष हवनकर्म से मुक्त है—यह बात उचित नहीं बैठती; क्यों? वही मन्त्रब्राह्मण अशक्त की बाह्यशक्ति को लेकर उपदेश करता है। जैसे—या तो इस (अशक्त) का शिष्य उसके बदले में हवन करे; क्योंकि वह विद्या देकर खरीदा जा चुका है, फलतः अन्तेवासी के किये कर्म का फल गुरु को ही मिलेगा। या (अशक्त) का क्षीरहोता हवन करे; क्योंकि यह क्षीरहोता धन से परिक्रीत है।

प्रश्न है—गृहस्थादि अर्थ विहित का अनुवाद है, या किसी कामना से यह अर्थपरिकल्पन है? विहित का अनुवाद मानना ही उचित है। ऋणी की तरह इच्छाधीन गृहस्थ ही अस्वतन्त्र है, अतः यहाँ उसी को अधिकारी माना गया है। इसलिये गृहस्थ कर्मों में प्रवृत्त होता है—यह वाक्य, सामर्थ्य क्लृप्त होने से उपपन्न हो गया। प्रयत्न के विषय

कल्पन्ते। विहितं च जायमानम्, विधीयते च जायमानम्। तेन यः सम्बद्धयते सोऽयं जायमान इति।

प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेद् ? न; प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षविधानाभावादिति। प्रत्यक्षतो विधीयते गार्हस्थ्यं ब्राह्मणेन, यदि चाश्रमान्तरमभविष्यत् तदपि व्यधास्यत् प्रत्यक्षतः, प्रत्यक्षविधानाभावान्नास्त्याश्रमान्तरमिति ? न; प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षतो विधानाभावात्। न प्रतिषेधोऽपि वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते, 'न सन्त्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रमः' इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽश्रवणादयुक्तमेतदिति।

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत्। यथा शास्त्रान्तराणि स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकानि, नार्थान्तराभावात्; एवमिदं ब्राह्मणं गृहस्थशास्त्रं स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकम्, नाश्रमान्तराणामभावादिति।

ऋग्ब्राह्मणं चापवर्गाभिधाय्यभिधीयते। ऋचश्च ब्राह्मणानि चापवर्गाभिवादीनि भवन्ति।

ऋचश्च तावत्—

'कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः।
अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥

फलसाधन हैं न कि फल; वे सम्पन्न होते हुए फल को कल्पित करते हैं। यहाँ 'जायमान' विहित है; इससे जो यहाँ सम्बद्ध होता है वही (गृहस्थ) जायमान है।

इस ब्राह्मण में जरा का संकेत है, प्रव्रज्या का प्रत्यक्षविधान तो है नहीं ? ऐसा न कहें; क्योंकि उस प्रव्रज्यानिषेध का भी तो प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। पूर्वपक्षी शंका करता है कि उक्त ब्राह्मण में गार्हस्थ्यविधान तो प्रत्यक्ष है, यदि आश्रमान्तर उसके लिये विहित होता तो उसका भी प्रत्यक्ष विधान होता, अतः ज्ञात होता है गार्हस्थ्यातिरिक्त आश्रमान्तर नहीं है ? सिद्धान्ती उत्तर देता है—उक्त ब्राह्मण में प्रव्रज्याप्रतिषेध का भी तो प्रत्यक्षविधान नहीं है, अतः यह हम कैसे मान लें कि आश्रमान्तर होता ही नहीं ! एक बात और, इस ब्राह्मणवाक्य की बात छोड़ भी दें, तो भी अन्यत्र हमें यह नहीं मिलता कि एक गृहस्थाश्रम ही है, अन्य आश्रम नहीं हैं। अतः आपका कहना अयुक्त ही है।

बल्कि यह समझिये कि यह ब्राह्मणवाक्य अपने अधिकार का विधान करता है। जैसे विद्यान्तर का विधान अन्य शास्त्र में नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वे शास्त्र अपने-अपने अधिकार में प्रत्यक्ष विधायक हैं, अर्थान्तर न होने से; उसी तरह यह ब्राह्मण भी गृहस्थशास्त्र का प्रत्यक्ष विधायक है आश्रमान्तर का यहाँ विधान न होने से।

उधर ऋग्वेद का ब्राह्मण भी अपवर्ग का बोधक है। कुछ ऋचाएँ तथा उनके ब्राह्मण अपवर्ग के बोधक हैं। पहले ऋचाओं को लें। जैसे वाजसनेयिसंहिता (३१.१८) में कहा है—कुछ ऋषि पुत्रपौत्रादि युक्त धन को चाहते हुए कर्मों से बन्ध कर मृत्यु को

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति' ॥
'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ॥

अथ ब्राह्मणानि—

'त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति, प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीति तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् । सर्वे एवैते पुण्यलोका भवन्ति । ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ।

'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति' इति ।

'अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति, यथाक्रतुर्भवति तथा तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते' ।

इति कर्मभिः संसरणमुक्त्वा प्रकृतमन्यदुपदिशन्ति—

'इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्त-

प्राप्त हुए; तथा दूसरे बुद्धिमान् धर्मज्ञ ऋषि उन कर्मों से दूर रहकर अमृतत्व (अपवर्ग) पा गये ।

उन्हें न कर्म से, न पुत्रपौत्रादिक से, न धन से यह अमृतत्व मिल पाया अपितु केवल त्याग से मिल पाया । यह अमृतत्व अविद्या से दूर गुह्यतम होते हुये भी देदीप्यमान तेजःपुंज है, जिसे जितेन्द्रिय पुरुष ही पा सकते हैं ।

तैत्तिरीयारण्यक (३. १२. ७) में लिखा है—'मैं इस आदित्यवर्ण (तेजोमय) तम (अविद्या) से दूर महान् पुरुष (आत्मा) को जानता हूँ । इसी को जानकर मनुष्य मृत्यु (जन्म-मरण) को पार कर सकता है । मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।'

अब ब्राह्मण के कुछ उदाहरण सुनिये—

छान्दोग्योपनिषद् (२. २३. १) का ब्राह्मणवाक्य है—'ये तीन धर्मस्कन्ध हैं । यज्ञ, अध्ययन तथा दान यह प्रथमस्कन्ध (गृहस्थ), तथा तप द्वितीयस्कन्ध (वानप्रस्थ) है । तीसरा है—आचार्य कुल में रहकर ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक आचार्य की आज्ञा में अपना समय बिताना (ब्रह्मचर्य) । ये सभी पुण्यफलप्रद हैं । परन्तु ब्रह्मज्ञानी (संन्यासी) अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है, अतः वह श्रेष्ठ है' ।

बृहदारण्यक के ब्राह्मण (४. ४. २२) में लिखा है—'इसी संन्यासियों के लोक को चाहते हुए बुद्धिमान् लोग प्रव्रज्या लेते हैं ।'

दूसरे स्थान (४. ४. ५) पर यही कहता है—'ज्ञानी लोग कहते हैं यह प्राणी वासनामय है, जैसी वासना करेगा वैसे इसके संकल्प होंगे, संकल्पों के अनुसार यह कर्म करेगा; जैसा कर्म करेगा वैसा फल मिलेगा ।'

इस तरह संसार को कर्ममय बताकर प्रसङ्गोपात्त दूसरी बात का भी उपदेश देते हैं—'यह तो हुई वासना की बात; परन्तु जिसको वासना नहीं है वह अकाम पुरुष

कामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति।

तत्र यदुक्तम्—'ऋणानुबन्धादपवर्गाभावः' इत्येतदयुक्तमिति। 'ये चत्वारः पथयो देवयानाः' इति च चातुराश्रम्यश्रुतेरैकाश्रम्यानुपपत्तिः॥ ६०॥

फलार्थिनश्चेदं ब्राह्मणम्–'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च' इति। कथम्?

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः॥ ६१॥

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इति श्रूयते, तेन विजानीमः—प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयते इति।

एवं च ब्राह्मणानि–"सोऽन्यद् व्रतमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रैयीमिति होवाच—प्रव्रजिष्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्या सहान्तं करवाणीति। अथाप्युक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति"॥ ६१॥

वासनारहित हो आत्मज्ञान चाहता हुआ पूर्णसङ्कल्प हो जाता है, उसके प्राण फिर इधर-उधर नहीं भटकते। वह शाश्वत हो जाता है, ब्रह्मरूप हो ब्रह्म में लीन हो जाता है।'

इतनी ऋचाओं तथा ब्राह्मणों का प्रमाण मिलने के वाद भी आपका 'ऋणानुवन्ध से अपवर्ग नहीं होता'— यह कहना अयुक्तियुक्त ही है।

अपि च—तैत्तिरीयसंहिता (५. ७. २. ३) में तो 'ये चार आश्रम देवलोक में जाने के मार्ग हैं'—यह कह कर स्पष्ट ही चार आश्रम स्वीकार कर लिए गये हैं॥ ६०॥

उक्त 'वार्धक्यपर्यन्त यह अग्निहोत्र तथा दर्श, पूर्णमास यज्ञ हैं'—यह शतपथब्राह्मण-वाक्य फलार्थी को लेकर कहा गया है, न कि यह प्रव्रज्या की मर्यादा का बोधक है। कैसे?

(आगे चल कर) अग्नियों का आत्मा में समारोपण बताने से प्रवज्या का प्रतिषेध नहीं बनता॥ ६१॥

'प्राजापत्य इष्टि का निरूपण करके उसमें अपना सर्वस्व दानकर उन अग्नियों को आत्मा में रखकर ब्राह्मण प्रव्रज्या ग्रहण कर लें'—ऐसा श्रुतिवाक्य है। इससे हम अनुमान करते हैं कि यह वाक्य पुत्रैषणा, धनैषणा, तथा लोकैषणाओं को त्यागकर गार्हस्थ्य से व्युत्थितचित्त पुरुष की फल-कामनायें निवृत्त हो जाने पर उनमें अग्नि का समारोपण विहित करता है।

गार्हस्थ्य से व्युत्थितचित्त की प्रव्रज्या विहित है, तभी यह (बृहदारण्यक का) ब्राह्मणवाक्य भी उपपन्न हो पाता है—"वे याज्ञवल्क्य दूसरा व्रत करना चाहते हुए मैत्रेयी से बोले—'या प्रव्रज्या लेकर मैं इस स्थान (जन्ममरणरूपी संसार) से कात्यायनी के साथ अपना छुटकारा कर लूंगा। मैत्रेयि! तुम यह अच्छी तरह समझ चुकी हो कि वही पद (अपवर्ग) अमृतत्वयुक्त है'—ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य प्रव्रजित हो गये"॥ ६१॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥

जरामर्ये च कर्मण्यविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्यते, तत्रैषणाव्युत्थानं न श्रूयेत—'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ! ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति'। एषणाभ्यश्च व्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्ते इति । नाविशेषेण कर्तुः प्रयोजकं फलं भवतीति ।

चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः । तदप्रमाणमिति चेद् ? न; प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात् । प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते—'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्नितिहासपुराण पञ्चमं वेदानां वेद इति'। तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति । अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहारलोपाल्लोको-

---

'उक्त वाक्य फलार्थी के लिए ही विहित है तथा चतुर्थ आश्रम भी है'—इसमें एक और युक्ति देते हैं—

पात्रचयान्तानुपपत्ति से भी फलाभाव सिद्ध होता है ॥ ६२ ॥

यदि पुरुष प्रव्रज्या न लेकर गृहस्थाचरण करता हुआ ही मर जाता है तो उसके अग्निहोत्र के पात्र भी उसी के साथ जला दिये जाते हैं—यह विधि यदि साधारणतः सब पुरुषों में कल्पित की जायेगी तो सभी में उक्त पात्रचयदाह कल्पित करना पड़ेगा । तब पीछे कही एषणात्रय से व्युत्थानवाली बात कैसे बनेगी ! जैसे कि बृहदारण्यक में कहा है—"पहले के विद्वान् बुद्धिमान् ब्राह्मण पुत्र की कामना नहीं करते थे, उनका कहना था कि इन पुत्रपौत्रादिकों का हम क्या करेंगे जिनसे न यह लोक सुधरता है न परलोक ! वे ब्राह्मण तीनों ही एषणाओं से अपने चित्त को हटाकर प्रव्रज्या ले भिक्षाचरण करते थे।" यों इन प्रमाणों से जब ऐषणाओं से व्युत्थान होने पर परिव्राट् को पात्रचयनान्त कर्म उपपन्न ही नहीं होते तो उनका परिव्राट् के साथ दाह कैसे बनेगा ! कर्ता को सामान्यतया लेने के लिए प्रयोजक फल नहीं हो सकता ।

इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र में भी चार आश्रमों का ही विधान होने से एकाश्रम की बात कहीं उपपन्न नहीं होती। वे तो सब अप्रमाण हैं ? यह नहीं कह सकते; क्योंकि प्रमाण (श्रुति) से उन (इतिहासादि) का प्रामाण्य सिद्ध होता है । ब्राह्मण-प्रमाण से इतिहास-प्रामाण्य यों सिद्ध होता है—'उन अथर्वा, आङ्गिरस आदि ऋषियों ने इस इतिहास-पुराण का आख्यान किया है अतः यों मानना चाहिए कि इतिहास पुराण भी वेदों में एक (पञ्चम) वेद है।' अतः इतिहास पुराणादि को अप्रामाणिक कहना अयुक्त है । धर्मशास्त्र को अप्रामाणिक मानने पर प्राणियों के व्यवहार का कोई आधार न होने से समग्र लोकों का उच्छेद-प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । दूसरे, जो ऋषि उन श्रुतियों के

च्छेदप्रसङ्गः । द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ।

विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यम् । अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः, अन्यच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति । यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहास-पुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थानं धर्मशास्त्रस्य विषयः । तत्रैकेन न सर्वं व्यव-स्थाप्यते इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियादिवदिति ॥ ६२ ॥

२. यत्पुनरेतत् 'क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदात्' इति ?

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥

यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते, तथापवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्तीति ॥ ६३ ॥

३. यदपि 'प्रवृत्त्यनुबन्धात्' इति ?

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥

प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय । प्रतिसन्धिस्तु पूर्वजन्म-

---

द्रष्टा या प्रवक्ता हैं वे ही इन इतिहास-पुराणों के भी द्रष्टा प्रवक्ता हैं, अतः इस समा-नता से भी इतिहास-पुराणादि में प्रामाण्य ही मानना चाहिए । वास्तविकता भी यही है कि जो ऋषि मन्त्र ब्राह्मणों के द्रष्टा या प्रवक्ता हैं वे ही लोग इतिहास, पुराण तथा धर्म शास्त्रों के द्रष्टा, प्रवक्ता हैं ।

एक बात और, दोनों का पृथक्-पृथक् विषय होने से भी दोनों में प्रामाण्य है । मन्त्र ब्राह्मणों का दूसरा विषय है, इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्रों का दूसरा विषय है । जैसे यज्ञ मन्त्रब्राह्मण का विषय है, इतिहास पुराण का लोकवृत्त तथा धर्मशास्त्र का लोकव्यवहार व्यवस्थित रखना विषय है ! इनमें से एक ही ने सब यज्ञेतिवृत्तादि की व्यवस्थाएं नहीं की हैं, अतः इनके पृथग्विषय होने से इन्द्रियों की तरह इनकी प्रामाणिकता भी स्वीकार करना चाहिये ॥ ६२ ॥

२. यह जो कहा था कि क्लेशानुबन्ध के अविच्छेद से अपवर्गाभाव है ?

सुषुप्त को स्वप्नावस्था न रहने पर क्लेशाभाव दिखायी देने से अपवर्ग में क्लेशानु-बन्ध-विच्छेद सम्भव है ॥ ६३ ॥

जैसे सोते हुए पुरुष को घोर निद्रावस्था में राग तथा सुख-दुःखानुबन्ध विच्छिन्न होता है, उसी तरह अपवर्ग में भी यह अनुबन्धविच्छेद सम्भव है । यह मुक्त ब्रह्मज्ञानी अवस्था है ॥ ६३ ॥

३. यह जो कहा था कि प्रवृत्त्यनुबन्ध से अपवर्गाभाव है ?

क्षीणक्लेश ज्ञानी की प्रवृत्ति पुनर्जन्म के लिये प्रतिसन्धान नहीं कर पाती ॥ ६४ ॥

राग-द्वेष-मोह के क्षीण हो जाने पर प्राणी के दैनिक कर्म प्रतिसन्धान करने योग्य नहीं होते । एक जन्म निवृत्त होने पर पुनर्जन्म होना 'प्रतिसन्धि' कहलाता है ।

निवृत्तौ पुनर्जन्म, तच्च तृष्णाकारितम्[1], तस्यां प्रहीणायां पूर्वजन्माभावे जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः । कर्मवैफल्यप्रसङ्ग इति चेद् ? न; कर्मविपाकप्रतिसंवेदनस्याप्रत्याख्यानात् । पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न भवतीत्युच्यते, न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते । सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्त इति ॥ ६४ ॥

न; क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ? ॥ ६५ ॥

नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः, कस्मात् ? क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् । अनादिरियं क्लेशसन्ततिः, न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति ? ॥ ६५ ॥

अत्र कश्चित् परिहारमाह—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

यथाऽनादिः प्रागुत्पत्तेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते, एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनित्येति ॥ ६६ ॥

अपर आह—

अणुश्यामतानित्यत्ववद् वा ॥ ६७ ॥

यह पुनर्जन्म विषयजन्य तृष्णा के कारण होता है । तृष्णा के क्षीण होने पर पूर्व-जन्म के नाश के बाद दूसरा जन्म नहीं होगा, यह अप्रतिसन्धान ही 'अपवर्ग' है ।

तब तो कर्मवैफल्य होने लगेगा ? हम कर्मविपाकप्रतिसंवेदन का खण्डन नहीं कर रहे हैं, किन्तु हम इतना ही कहते हैं कि पूर्व जन्म निवृत्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता । सभी पूर्व कर्म अन्तिम जन्म में विपाक को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

क्लेशप्रवाह के स्वाभाविक होने से क्लेशानुबन्ध विच्छिन्न नहीं होता ? ॥ ६५ ॥

क्लेशानुवन्धविच्छेद उपपन्न नहीं होता; क्योंकि यह सांसारिक क्लेशप्रवाह स्वाभाविक है ! यह क्लेशप्रवाह अनादि है, इसका उच्छेद सम्भव नहीं ? ॥ ६५ ॥

यहां कोई एकदेशी समाधान करता है—

उत्पत्ति से पूर्व अभावानित्यत्व की तरह स्वाभाविक में भी अनित्यत्व बन सकता है ॥ ६६ ॥

जैसे क्षीरादि में उत्पत्ति से पूर्व का दध्यभाव (प्रागभाव) उत्पन्न दधिभाव से निवृत्त हो जाता है, इसी तरह स्वाभाविक क्लेशप्रवाह की अनित्यता सिद्ध होने से क्लेशविच्छेद सम्भव है ॥ ६६ ॥

दूसरा एकदेशी कहता है—

अणुश्यामता के अनित्यत्व की तरह क्लेशसन्तति का अनित्यत्व बन सकता है ॥ ६७ ॥

---

१. अदृष्ट०—पाठा० ।

यथानादिरणुश्यामता अथ चाग्निसंयोगादनित्या, तथा क्लेशसन्ततिरपीति। सतः खलु धर्मो नित्यत्वमनित्यत्वं च। तत्त्वं भावेऽभावे भाक्तमिति। 'अनादिरणुश्यामता' इति हेत्वभावादयुक्तम्। अनुत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति नात्र हेतुरस्तीति ॥ ६७ ॥

अयं तु समाधिः—

न; सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥

कर्मनिमित्तत्वादितरेतरनिसित्तत्वाच्चेति समुच्चयः। मिथ्यासङ्कल्पेभ्यो रञ्जनीयकोपनीयमोहनीयेभ्यो रागद्वेषमोहा उत्पद्यन्ते, कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वर्तकं नैयमिकान् रागद्वेषमोहान्निर्वर्त्तयति; नियमदर्शनात्। दृश्यते हि कश्चित् सत्त्वनिकायो रागवहुलः, कश्चिद् द्वेषबहुलः, कश्चिन्मोहवहुल इति। इतरेतरनिमित्ता च रागादीनामुत्पत्तिः। मूढो रज्यति, मूढः कुप्यति, रक्तो मुह्यति, कुपितो मुह्यति। सर्वमिथ्यासङ्कल्पानां तत्त्वज्ञानादनुत्पत्तिः। कारणानुत्पत्तौ च कार्यानुत्पत्तेरिति—रागादीनामत्यन्तमनुत्पत्तिरिति।

जैसे यद्यपि अणु का श्यामरूप अनादि है, परन्तु वही अग्निसंयोग होने पर निवृत्त हो जाता है, उसी तरह क्लेशसन्तति अनादि होते हुए भी निवृत्त हो सकती है।

अव सिद्धान्ती पहले दोनों एकदेशिमतों का खण्डन करता है—

१. नित्यत्वानित्यत्वादि धर्म भावरूप पदार्थ में ही सम्भव हो सकते हैं, अभाव में नहीं। यदि कहीं ये अभाव में उपलब्ध होते हों तो वे उपचारात् ही समझने चाहिये। अतः अभाव का दृष्टान्त देना उचित नहीं।

२. 'अणुश्यामता अनादि है' इसमें हेतु न होने से यह अयुक्त है। और उसको अनित्य कहना भी नहीं वनेगा; क्योंकि जो कुछ भी अनुत्पत्तिधर्मा हो वह अनित्य हो हो—यह किसी हेतु से सिद्ध नहीं किया जा सकता ! ।। ६७ ॥

सिद्धान्ती का समाधान यह है—

रागादि के सङ्कल्पनिमित्तक होने से (क्लेशसन्तति स्वाभाविक) नहीं ॥ ६८ ॥

कर्मनिमित्त होने से तथा इतरेतरनिमित्त होने से भी वह स्वाभाविक नहीं। १. रञ्जनीय, कोपनीय तथा मोहनीय मिथ्या सङ्कल्पों से राग द्वेष तथा मोह उत्पन्न होते हैं। तथा पुरुष में वैसी व्यवस्था देखी जाने से सत्त्वनिकाय (प्राणिशरीर) को उत्पन्न करने वाला कर्म भी नियमतः राग द्वेष मोह को उत्पन्न करता है—यह नियम ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, इस संसार में कोई प्राणी रागातिशयी, कोई द्वेषातिशयी तथा कोई मोहातिशयी होता है। २. रागादि की उत्पत्ति परस्परनिमित्तक भी है, जैसे—मोहसम्पन्न को राग होता है, वही कुपित भी होता है; रागातिशयी मुग्ध भी होता है, और कुपित भी।

सभी मिथ्यासङ्कल्प तत्त्वज्ञान होने पर उत्पन्न नहीं हो पाते। यों कारणानुत्पत्ति से कार्यानुत्पत्ति हो जाने पर रागादि की अत्यन्तानुपपत्ति सम्भव है।

'अनादिश्च क्लेशसन्ततिः' इत्यप्युक्तम्, सर्वे इमे खल्वाध्यात्मिका भावा अनादिना प्रबन्धेन प्रवर्त्तन्ते शरीरादयः। न जात्वत्र कश्चिदनुत्पन्नपूर्वः प्रथमत उत्पद्यतेऽन्यत्र तत्त्वज्ञानात्। न चैवं सत्यनुत्पत्तिधर्मकं किञ्चिद्व्ययधर्मकं प्रतिज्ञायते इति। कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वर्तकं तत्त्वज्ञानकृतान्मिथ्यासङ्कल्पविघातान्न रागाद्युत्पत्तिनिमित्तं भवति, सुखदुःखसंवित्तिफलं तु भवतीति ॥ ६८ ॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

●

[द्वितीयमाह्निकम्]

तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् [१-३]

किं नु खलु भोः! यावन्तो विषयास्तावत्सु प्रत्येकं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते? अथ क्वचिदुत्पद्यत इति? कश्चात्र विशेषः? न तावदेकैकत्र यावद्विषयमुत्पद्यते; ज्ञेयानामानन्त्यात्। नापि क्वचिदुत्पद्यते, यत्र नोत्पद्यते तत्रानिवृत्तो मोह इति मोहशेषप्रसङ्गः। न चान्यविषयेण तत्त्वज्ञानेनान्यविषयो मोहः शक्यः प्रतिषेद्धुमिति? मिथ्याज्ञानं वै खलु मोहो न तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रम्। तच्च मिथ्याज्ञानं

'क्लेशसन्तति अनादि है'—यह भी आपने कहा। इतना ही नहीं, सभी आध्यात्मिक शरीरादि भाव अनादिप्रवाह से प्रवर्तमान हैं। ऐसा इनमें आज कोई पहली वार उत्पन्न नहीं हुआ जो पहले कभी उत्पन्न न हुआ हो, केवल तत्त्वज्ञान को छोड़ कर। इसका यह अर्थ नहीं कि अनुत्पत्तिधर्मक भाव भी निवृत्त होता है। अपि तु प्राणिशरीरोत्पादक कर्म तत्त्वज्ञानकृत मिथ्यासङ्कल्पनाश से रागादि की उत्पत्ति में कारण नहीं बनता। हाँ, तत्त्वज्ञान होने पर भी सुखदुःखसंवेदन फल तो होता ही रहता है ॥ ६८ ॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन) में चतुर्थाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त

●

क्यों जी, हम पूछते हैं कि जितने विषय हैं उनमें से व्यक्तिशः प्रत्येक का तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है या किसी एक व्यक्ति का तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है? इसमें अन्तर क्या आयेगा? विषय के अनुसार एक-एक का ज्ञान सम्भव नहीं; क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, कहाँ तक पार पाइयेगा। किसी एक व्यक्ति के तत्वज्ञानोत्पाद से कोई लाभ नहीं; क्योंकि जहाँ वह उत्पन्न नहीं हुआ वहाँ मोह रह ही जायेगा तो मोह फिर भी शेष रह गया। यह कैसे हो सकता है कि अन्यविषयक तत्त्वज्ञान से अन्यविषयक मोह निवृत्त हो जाये! मिथ्याज्ञान को मोह कहते हैं, न कि तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्तिमात्र को। मिथ्याज्ञान जिस

यत्र विषये प्रवर्त्तमानं संसारबीजं भवति स विषयस्तत्त्वतो ज्ञेय इति। किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम् ? अनात्मन्यात्मग्रहः, 'अहमस्मि' इति मोहोऽहङ्कार इति। अनात्मानं खलु 'अहमस्मि' इति पश्यतो दृष्टिरहङ्कार इति।

किं पुनस्तदर्थजातं यद्विषयोऽहङ्कारः ? शरीरेन्द्रियमनोवेदनाबुद्धयः। कथं तद्विषयोऽहङ्कारः संसारबीजं भवति ? अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यवसितः तदुच्छेदेनात्मोच्छेदं मन्यमानोऽनुच्छेदतृष्णापरिप्लुतः पुनः पुनस्त-दुपादत्ते, तदुपाददानो जन्ममरणाय यतते, तेनावियोगान्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यते, इति। यस्तु दुःखं दुखायतनं दुखानुषक्तं सुखं च सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति स दुःखं परिजानाति, परिज्ञातं च दुःखं प्रहीणं भवत्यनुपादानात्, सविषान्नवत्। एवं दोषान् कर्म च दुःखहेतुरिति पश्यति। न चाप्रहीणेषु दोषेषु दुःखप्रबन्धोच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति। प्रहीणेषु च दोषेषु न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धाना-येत्युक्तम्।

प्रेत्यभावफलदुःखानि च ज्ञेयानि व्यवस्थापयति, कर्म च दोषांश्च प्रहेयान्। अपवर्गोऽधिगन्तव्यः, स्तयाधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम्। एवं चतसृभिर्विधाभिः प्रमेयं

विषय में प्रवृत्त होता हुआ संसारोत्पत्ति का कारण बनता है तत्त्व से वही विषय जानना चाहिये। वह मिथ्याज्ञान क्या है ? अनात्मपदार्थों में आत्माभिमान अर्थात् शरीर की दृष्टि से 'मैं हूँ' यह अहङ्कार मोह है। अनात्मपदार्थों को 'मैं हूँ'—ऐसा समझने वाले की मिथ्यादृष्टि ही अहङ्कार है। वह विषयसमूह कौन-सा है जिसको लेकर अहङ्कार होता है ? शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि। तद्विषयक अहङ्कार संसारोत्पत्ति का कारण कैसे हो जाता है ? यह मिथ्याभिनिवेशी अरीरादिसमूह में 'मैं हूँ' यह अभिनिवेश करके उनके नाश में अपना नाश मानता हुआ उन को टिकाये रखने की चाह से भरा हुआ पुनः पुन उनको ग्रहण करता है, उनको ग्रहण करता हुआ जन्म-मरण के लिए प्रयत्न करता है, यों उनसे सम्बन्ध विच्छिन्न न होने से आत्यन्तिक दुःख से छुटकारा नहीं पाता। परन्तु तत्त्वजिज्ञासु दुःख, दुःखाधिष्ठान दुःख से लिपटे सुख को भी 'यह सब दुःख है' ऐसा मानता हुआ दुःख को ठीक से समझ लेता है, पहचान लेता है, पहचाने दुःख को विष-सम्पृक्त अन्न की तरह ग्रहण न करने से उसका दुःख क्षीण हो जाता है। इसतरह वह कर्म तथा दोषों को दुःखहेतु समझता है। दोषों को छोड़े विना दुःखप्रवाह का उच्छेद हो नहीं सकता, अतः उन दोषों को वह छोड़ देता है। दोषों के प्रहीण होने पर उस तत्त्वज्ञ की प्रवृत्ति प्रतिसन्धानयोग्य नहीं रह जाती—यह हम पहले कह चुके।

१. प्रेत्यभाव, फल तथा दुःख ज्ञेय हैं। २. कर्म तथा दोष प्रहेय हैं। ३. अपवर्ग अधिगन्तव्य (प्राप्तव्य) है। ४. उसके पाने का एकमात्र उपाय है तत्त्वज्ञान।

इस तरह चार प्रकारों में विभक्त इन सम्पूर्ण प्रमेयों पर विचार करने वाले को

विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः सम्यग्दर्शनं यथाभूतावबोधस्तत्त्वज्ञान-मुत्पद्यते। एवं च—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥

शरीरादि दुःखान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तम्; तद्विषयत्वान्मिथ्याज्ञानस्य। तदिदं तत्त्वज्ञानं तद्विषयमुत्पन्नमहङ्कारं निवर्त्तयति; समानविषये तयोर्विरोधात्। एवं तत्त्वज्ञानाद् 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (१.१.२) इति। स चायं शास्त्रार्थसङ्ग्रहोऽनूद्यते, नापूर्वो विधीयते इति॥१॥

प्रसंख्यानानुपूर्वी तु खलु—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयः [1]सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥

कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते, ते मिथ्यासङ्कल्प्यमाना रागद्वेषमोहान् प्रवर्त्तयन्ति, तान् पूर्वं प्रसञ्चक्षीत। ताँश्च प्रसञ्चक्षाणस्य रूपादिविषयो मिथ्यासङ्कल्पो निवर्तते। तन्निवृत्तावध्यात्मं शरीरादि प्रसञ्चक्षीत। तत्प्रसंख्यानादध्यात्मविषयोऽहङ्कारो निवर्तते। सोऽयमध्यात्मं बहिश्च विविक्तचित्तो विहरन्मुक्त इत्युच्यते ॥ २ ॥

बार-बार मनन भावना करने वाले को सम्यग्दर्शन, याथातथ्य ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जाता है। और इस तरह—

दोषनिमित्त शरीरादि के तत्त्वज्ञान से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है ॥ १ ॥

शरीर से लेकर दुःख तक प्रमेय दोष का हेतु है, क्योंकि मिथ्याज्ञान तद्विषयक होता है। तद्विषयक तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता हुआ अहङ्कार को निवृत्त करता है; क्योंकि समानविषय में उन दोनों तत्त्व एवं मिथ्या ज्ञानों का विरोध है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से 'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञानों के उत्तरोत्तर अपाय से उससे पूर्व-पूर्व के न होने से अपवर्ग हो जाता है' (१. १. २)। यहाँ यह शास्त्रार्थसंग्रह तत्रोक्त तत्त्वज्ञान का उत्पत्ति प्रकार दिखाने के लिए उक्त सूत्र का अनुवाद ही है कोई अपूर्व विषय नहीं उठाया गया है ॥ १ ॥

(इस समाधिज) तत्त्वज्ञान का क्रम यह है—

सङ्कल्पकृत रूपादि विषय दोषों के कारण होते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रियों के अर्थ रूपादि कामविषय हैं। वे मिथ्या संकल्पित किये जाते हुए राग द्वेष मोह को प्रवर्त्तित करते हैं। जिज्ञासु पहले उनका तत्त्वज्ञान करें। उनका तत्त्वज्ञान होने पर तत्त्ववेत्ता का रूपादिविषयक मिथ्यासंकल्प निवृत्त हो जाता है। उनके निवृत्त होने पर वह अध्यात्म शरीरेन्द्रियादि का तत्त्व जानने का प्रयास करे। उसके तत्त्वज्ञान से अध्यात्मविषयक अहङ्कार निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार रूपादि विषय तथा शरीरादि को तत्त्वतः जानकर यह ज्ञानी रागद्वेषादि से विमुक्तचित्त होकर लोकयात्रा करता हुआ भी 'मुक्त' कहलाता है ॥ २ ॥

---

१. 'सङ्कल्पः = समीचीनोऽयमिति मानसम्' इति वार्त्तिककृतः।

अतः परं काचित्संज्ञा हेया, काचिद्भावयितव्येत्युपदिश्यते, नार्थनिराकरणम्, अर्थोपादानं वा । कथमिति ?

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

तेषां दोषाणां निमित्तं त्ववयव्यभिमानः । सा च खलु स्त्रीसंज्ञा सपरिष्कारा पुरुषस्य, पुरुषसंज्ञा च स्त्रियाः । परिष्कारश्च निमित्तसंज्ञा, अनुव्यञ्जनसंज्ञा च । निमित्तसंज्ञा—रसनाश्रोत्रम्, दन्तोष्ठम्, चक्षुर्नासिकम् । अनुव्यञ्जनसंज्ञा—इत्थं दन्तौ इत्थमोष्ठाविति । सेयं संज्ञा कामं वर्धयति, तदनुषक्तांश्च दोषान् विवर्जनीयान् । वर्जनं त्वस्या भेदेनावयवसंज्ञा केशलोममांसशोणितास्थिस्नायुशिराकफपित्तोच्चारादिसंज्ञा, तामशुभसंज्ञेत्याचक्षते । तामस्य भावयतः कामरागः प्रहीयते । सत्येव च द्विविधे विषये काचित्संज्ञा भावनीया, काचित्परिवर्जनीयेत्युपदिश्यते, यथा विषसम्पृक्तेऽन्नेऽन्नसंज्ञोपादानाय, विषसंज्ञा प्रहाणायेति ॥ ३ ॥

अव इससे आगे 'कौन सी वात छोड़नी चाहिए, किस का ग्रहण करना चाहिए'— इसी का उपदेश किया जा रहा है । न कि उसका सर्वांशतः ग्रहण या त्याग अपेक्षित है। कैसे ?—

अवयवी (कामिनी-शरीरादि) का अभिमान ही दोषों का कारण है ॥ ३ ॥

उन दोषों का कारण है अवयव्यभिमान । जैसे पुरुष को स्त्रीविषय में 'सुन्दर स्त्री' यह भावना राग का कारण होती है, तथा स्त्री की पुरुष के विषय में 'सुन्दर पुरुष' यह भावना राग का कारण होती है । संज्ञा के दो भेद होते हैं—१. निमित्त, २. अनुव्यञ्जन । जैसे—उसके कान, दांत, आँख नाक को लेकर सम्मुग्ध की तरह भावना निमित्त हैं; तथा 'इसके ऐसे सुन्दर दांत है, ऐसे सुन्दर ओठ हैं'—इत्यादि भावना अनुव्यञ्जन हैं। यह कामुक-भावना वासना को वढ़ाती है तथा तदनुषक्त विवर्जनीय दोषों को भी बढ़ावा देती है। इस भावना का परिहार अवयवभावना से होता है । अर्थात् स्त्री-विषयक आसक्ति को हटाने के लिए उस स्त्री के अवयवों के वारे में जिज्ञासु तत्त्वतः सोचे कि यह समग्र शरीर तो केश, रोम, मांस, रक्त, अस्थि, स्नायु, शिरा, कफ-पित्त, मल-मूत्र से भरा पड़ा है, इसमें कौन सी अच्छी चीज है, जिसके लिए मेरी इतनी अधिक आसक्ति हो ! इन अवयवों पर इस रूप से विचार को 'अशुभसंज्ञा' भी कह देते हैं । इस प्रकार उक्त साधक का कामज राग क्षीण हो जाता है । इस तरह विषय के शुभ-अशुभ रूप से दो भेद दिखाते हुए उक्त कामिनी-शरीरादि में कोई संज्ञा (निमत्त संज्ञा, तथा अनुव्यञ्जन संज्ञा) छोड़ने के लिए तथा किसी संज्ञा (अवयव संज्ञा या अशुभ संज्ञा) का ग्रहण (भावना) करने के लिए उपदेश देते हैं । जैसे विषसम्पृक्त अन्न में 'अन्न' संज्ञा ग्रहण के लिए होती है, तथा 'विष' संज्ञा त्याग के लिए होती है ॥ ३ ॥

प्रासङ्गिकम् अवयविप्रकरणम् [४-१७]

अथेदानीमर्थं निराकरिष्यताऽवयव्युपपाद्यते—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ? ॥ ४ ॥

सदसतोरुपलम्भाद्विद्या द्विविधा, सदसतोरनुपलम्भादविद्यापि द्विविधा। उपलभ्यमानेऽवयविनि विद्याद्वैविध्यात् संशयः, अनुपलभ्यमाने चाविद्याद्वैविध्यात् संशयः। सोऽयमवयवी यद्युपलभ्यते, अथापि नोपलभ्यते—न कथञ्चन संशयान्मुच्यते इति ? ॥ ४ ॥

तदसंशयः; पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननुपपन्नः संशयः। कस्मात् ? पूर्वोक्तहेतूनामप्रतिषेधादस्ति द्रव्यान्तरारम्भ इति ॥ ५ ॥

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ? ॥ ६ ॥

संशयानुपपत्तिर्नास्त्यवयवीति ? ॥ ६ ॥

तद्विभजते—

पूर्वोक्त निमित्त-अनुव्यञ्जन संज्ञाओं का अवयवी ही विषय है, उन संज्ञाओं में से कतिपय के परिवर्जन के लिये 'अशुभ संज्ञा' का उपदेश किया गया। अब विज्ञानवादी बौद्ध के मत में जब अर्थमात्र नहीं है तो अवयवी तथा तदाश्रित उक्त संज्ञाएँ कहाँ होंगी ! अतः वह अर्थ का खण्डन करना चाहता हुआ पहले अवयवी का निराकरण कर रहा है—

विद्या, अविद्या के द्वैविध्य से संशय होता है ? ॥ ४ ॥

सत्, असत् की उपलब्धि से विद्या दो प्रकार की है। सत्, असत् की अनुपलब्धि से अविद्या भी दो प्रकार की है। अवयवी के उपलब्ध होने पर विद्याद्वैविध्य से संशय होता है ! तथा उसके अनुपलब्ध रहने पर अविद्याद्वैविध्य से भी संशय होगा। इस तरह यह अवयवी भले ही उपलब्ध होता हो या न उपलब्ध होता हो—किसी भी तरह संशय से मुक्त नहीं होता ॥ ४ ॥

पूर्व हेतु की प्रसिद्धि से संशय उपपन्न नहीं है ॥ ५ ॥

उस अवयवी में संशय नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त हेतुओं से अवयवी के बारे में सिद्धि की जा चुकी है कि अवयवी द्रव्यान्तर से आरब्ध होता है। ऐसा सिद्ध हो जाने के बाद उसमें संशय क्यों होगा ! ॥ ५ ॥

(हमारा भी यही कहना है कि) सत्तानुपपत्ति से भी उसमें संशय नहीं है ? ॥ ६ ॥

विज्ञानवादी (बौद्ध) प्रतिबन्दी उत्तर देता है—हमारा भी यही कहना है कि वहाँ संशय नहीं होता; क्योंकि अवयवी की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती ? ॥ ६ ॥

इसी का वह (विज्ञानवादी) उपपादन करता है—

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ? ॥ ७ ॥

एकैकोऽवयवो न तावत् कृत्स्नेऽवयविनि वर्त्तते; तयोः परिमाणभेदात्, अवयवान्तरसम्बन्धाभावप्रसङ्गाच्च। नाप्यवयव्येकदेशेन, न ह्यस्यान्ये अवयवा एकदेशभूताः सन्तीति ? ॥ ७ ॥

अथावयवेष्वेवावयवी वर्त्तते ?

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ? ॥ ८ ॥

न तावत् प्रत्यवयवं वर्त्तते, तयोः परिमाणभेदाद्, द्रव्यस्य चैकद्रव्यत्वप्रसङ्गात्। नाप्येकदेशेन, सर्वेषु अन्यावयवाभावात्। तदेवं न युक्तः संशयः—नास्त्यवयवीति ? ॥ ८ ॥

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

अवयव्यभाव इति वर्त्तते। न चायं पृथगवयवेभ्यो वर्त्तते; अग्रहणात्, नित्यत्वप्रसंगाच्च। तस्मान्नास्त्यवयवीति ? ॥ ९ ॥

अवयवों के सम्पूर्ण या एकदेश में अवयवों के न रहने से उसकी सिद्धि नहीं होती ? ॥ ७ ॥

एक एक अवयव समग्र अवयवी में नहीं रहता; क्योंकि उन दोनों में परिमाणभेद हैं (अवयव अणुपरिमाण तथा अवयवी महापरिमाण हैं), तथा वैसी स्थिति में अवयवान्तर का उससे सम्बन्ध भी न बन पायेगा। और न अवयव उसके एकदेश में ही रहता है; क्योंकि अवयवों को छोड़ कर इसका कोई अन्य एकदेश नहीं है। यदि सब अवयव ही अवयवी हैं इस स्थिति में जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी होने लगेंगे; जबकि आप अवयवी को एक मानते हैं ? ॥ ७ ॥

तो अवयवों में अवयवी रहता है—ऐसा मान लें ?

उन अवयवों में अवयवी के वर्तमानत्व की अनुपपत्ति से अवयवी का अभाव ही है ? ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त परिमाणभेद होने से अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता; तथा एकावयववृत्ति होने से एक द्रव्य में एकसमवेत द्रव्यत्वप्रसक्ति होने लगेगी। अवयवी अपने एकदेश से प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता; क्योंकि सभी अवयवों में अन्य अवयव का अभाव ही है। अतः इसमें आप सन्देह क्यों कर रहे हैं कि अवयवी नहीं है ? ॥ ८ ॥

अवयव से पृथक् उसकी सत्ता न होने के कारण भी ? ॥ ९ ॥

अवयवी का अभाव ही है। अवयवी अवयवों से पृथक् नहीं हैं, क्योंकि वैसा गृहीत नहीं होता। अथ च, उसे पृथक् मानने पर उसके निराधार होने से उसमें नित्यत्व प्राप्त होगा। अतः अवयवी नहीं है—यही मान लें ? ॥ ९ ॥

न चावयव्यवयवाः ? ॥ १० ॥

न चावयवानां धर्मोऽवयवी। कस्मात्? धर्ममात्रस्य धर्मिभिरवयवैः पूर्ववत् सम्बन्धानुपपत्तेः। पृथक् चावयवेभ्यो धर्मिभ्यो धर्मस्याग्रहणादिति समानम् ॥ १० ॥

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

किं प्रत्यवयवं कृत्स्नोऽवयवी वर्त्तते, अथैकदेशेन ? इति नोपपद्यते प्रश्नः। कस्मात् ? एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः। 'कृत्स्नम्' इत्यनेकस्याशेषाभिधानम्, 'एकदेशः' इति नानात्वे कस्यचिदभिधानम्—ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविन्युपपद्येते; भेदाभावादिति ॥ ११ ॥

'अन्यावयवाभावान्नैकदेशेन वर्त्तते' इत्यहेतुः

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

अवयवान्तरभावादिति। यद्यप्येकदेशोऽवयवान्तरभूतः स्यात्, तथाप्यवयवेऽवयवान्तरं वर्त्तेत नावयवीति। अन्योऽवयवीति अन्यावयवभावेऽप्यवृत्तेर-

---

'अवयवों का धर्ममात्र ही अवयवी है'—यह मत भी युक्त नहीं ? ॥ १० ॥

'अवयवों का धर्म' भी अवयवी नहीं है; क्योंकि धर्ममात्र अवयवी का धर्मी अवयवों से किसी भी तरह पूर्ववत् कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। और धर्मी अवयवों से धर्म का पृथक् ग्रहण नहीं हुआ करता, अन्यथा वह नित्य होने लगेगा ? ॥ १० ॥

सिद्धान्ती उत्तर देता है—

एक अवयवी में भेद न होने के कारण 'भेद' शब्द प्रयोग अयुक्त होने से आपका प्रश्न नहीं बनता ॥ ११ ॥

'क्या प्रत्येक अवयव में अवयवी रहता है, या एकदेश में ?' यह प्रश्न उचित नहीं; क्योंकि एक में भेद न होने से भेद (पार्थक्य) वाचक शब्द का प्रयोग अनुचित है। क्योंकि 'कृत्स्न' (समग्र)—यह अनेक होते हुए अशेष का बोधन करता है, 'एकदेश' यह भी अनेक में एक का बोधन करता है। अर्थात् ये 'कृत्स्न' तथा 'एकदेश' शब्द भिन्न वस्तु के बोधक हैं, अतः एक अवयवी में उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि उनमें भेद नहीं है ॥ ११ ॥

'परिमाण भेद होने के कारण अवयवी में अवयव न रहने से अवयवान्तर भी न होने से अवयवी एकदेश में नहीं रहता'—यह भी अहेतु है।

अवयवान्तर होने पर भी उसमें अवयवी के न रहने से वह अहेतु है ॥ १२ ॥

अवयवान्तर होने से। यद्यपि अवयवी एकदेशेन अवयवान्तर में रह सकता है तो भी अवयव में अवयवान्तर ही रहेगा, अवयवी नहीं। 'अवयवी अन्य है, अवयव अन्य, अतः वह अवयवों से गृहीत नहीं होता, यों अन्यावयव न होने से वह एकदेश से गृहीत नहीं

वयविनो नैकदेशेन वृत्तिरन्यावयवाभावादित्यहेतुः। वृत्तिः कथमिति चेत् ? एकस्यानेकत्राश्रयाश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्तिः। आश्रयाश्रितभावः कथमिति चेत् ? यस्य यतोऽन्यत्रात्मलाभानुपपत्तिः स आश्रयः। न कारणद्रव्येभ्योऽन्यत्र कार्यद्रव्यमात्मानं लभते, विपर्ययस्तु कारणद्रव्येष्विति। नित्येषु कथमिति चेत् ? अनित्येषु दर्शनात् सिद्धम्। नित्येषु द्रव्येषु कथमाश्रयाश्रयिभाव इति चेत् ? अनित्येषु द्रव्यगुणेषु दर्शनादाश्रयाश्रितभावस्य, नित्येषु सिद्धिरिति। तस्मादवयव्यभिमानः प्रतिषिद्धयते निःश्रेयसकामस्य, नावयवी; यथा—रूपादिषु मिथ्यासङ्कल्पः, न रूपादय इति॥ १२॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः (२.१.३५) इति प्रत्यवस्थितोऽप्येदाह—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ?॥ १३॥

यथैकैकः केशस्तैमिरिकेण नोपलभ्यते, केशसमूहस्तूपलभ्यते, तथैकैकोऽणुर्नोपलभ्यते, अणुसञ्चयस्तूपलभ्यते। तदिदमणुसमूहविषयं ग्रहणमिति ?॥ १३॥

होता' यह अहेतु ही है! अवयवों में यह अवयवी की वृत्ति कैसे है ? एक (अवयवी) की अनेक (अवयवों) में आश्रयाश्रित सम्बन्ध (समवायसम्बन्ध) से प्राप्तिवृत्ति। आश्रयाश्रित सम्बन्ध क्या है ? जिसकी जिससे अन्यत्र सत्ता न मिल पाये वह 'आश्रय' है। कारणद्रव्यों से अन्यत्र कार्यद्रव्य की सत्ता नहीं मिलती, अतः कारण कार्यद्रव्य का आश्रय है। इसके विपरीत, कारणद्रव्य (मृत्तिकादि) कार्यद्रव्य के अतिरिक्त कुम्भकार के घर में भी मिल सकता है, अतः वह कार्यद्रव्य का आश्रित नहीं। नित्य पदार्थों में यह व्यवस्था कैसे बैठाओगे ? अनित्य (द्रव्यगुणों) में यह आश्रयाश्रितभाव देखा जाने से नित्यों में भी उसका अनुमान कर लेंगे। अतः मुमुक्षु के लिये अवयव्यभिमान निषिद्ध बताया है, अवयवी नहीं; जैसे रूपादि में मिथ्यासङ्कल्प निषिद्ध किया है. न कि रूपादि॥ १२॥

'अवयवी को न मानोगे तो समग्र द्रव्य का ग्रहण न होगा'—(२.१.३५) इस प्रकरण में हम इस शून्यवादी की युक्तियाँ निरस्त कर चुके हैं, अब फिर बात आ पड़ी तो घुमा फिरा कर वह वही युक्तियाँ दे रहा है—

तिमिररोगग्रस्त रोगी को केशसमूह की उपलब्धि के समान ही यह उपलब्धि है ? १३॥

जैसे तिमरोग (आन्ध्य = मोतियाबिन्द) ग्रस्त को एक-एक केश नहीं दिखायी देता, परन्तु केशसमूह (केशों का गुच्छा) को वह देख लेता है, उसी तरह अवयव (अणु) न दिखायी दे पाने पर भी अवयवसमूह (अणुसमूह = द्रव्य) दिखायी दे जाता है—यह मान लेने से काम चल सकता है तो अवयवी (द्रव्यान्तर) मानने से क्या लाभ ?॥ १३॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

यथाविषयमिन्द्रियाणां पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणानां पटुमन्दभावो भवति। चक्षुः खलु प्रकृष्यमाणं नाविषयं गन्धं गृह्णाति, निकृष्यमाणं च न स्वविषयात् प्रच्यवते। सोऽयं तैमिरिकः कश्चिच्चक्षुर्विषयं केशं न गृह्णाति, कश्चिद् गृह्णाति केशसमूहम्; उभयं ह्यतैमिरिकेण चक्षुषा गृह्यते। परमाणवस्त्वतीन्द्रिया इन्द्रियाविषयभूता न केनचिदिन्द्रियेण गृह्यन्ते, समुदितास्तु गृह्यन्ते—इत्यविषये प्रवृत्तिरिन्द्रियस्य प्रसज्येत। न जात्वर्थान्तरमणुभ्यो गृह्यते इति। ते खल्विमे परमाणवः सन्निहिता गृह्यमाणा अतीन्द्रियत्वं जहति, वियुक्ताश्चागृह्यमाणा इन्द्रियविषयत्वं न लभन्ते इति। सोऽयं द्रव्यान्तरानुत्पत्तावतिमहान् व्याघातः। इत्युपपद्यते द्रव्यान्तरं यद् ग्रहणस्य विषय इति।

सञ्चयमात्रं विषय इति चेद्? न; सञ्चयस्य संयोगभावात् तस्य चातीन्द्रियस्याग्रहणादयुक्तम्। सञ्चयः खल्वनेकस्य संयोगः, स च गृह्यमाणाश्रयो गृह्यते

स्वविषय (रूपरसादि) के अनतिक्रम से इन्द्रियों के तीव्र मन्द भाव से विषयज्ञान में तीव्रता-मन्दता आ जाती है, अपने से अविषयों में उनकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती ॥१४॥

स्व-स्व विषय के अनुसार, इन्द्रियों की पटुता-मन्दता से विषयज्ञान में पटुता-मन्दता आ जाती हैं। चक्षु पर कितना भी दवाव डाला जाये वह अपने अविषय गन्ध का ग्रहण नहीं कर पाती। या उस पर कितना भी नियन्त्रण रखा जाये वह स्वविषय (रूप) से प्रच्युत भी नहीं होती। यहाँ कोई तिमिररोगी चक्षुर्विषय केश को नहीं देख पाता, कोई केशसमूह को देख लेता है; परन्तु स्वस्थनेत्र पुरुष केश तथा केशसमूह—दोनों को देख सकता है। परन्तु परमाणु तो अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय के अविषय हैं वे किसी भी चक्षु से देखे नहीं जा सकते, हाँ वे समुदित हों तो देखे जा सकते हैं। तात्पर्य यह निकला कि इन्द्रिय की प्रवृत्ति अविषय में नहीं होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि वहाँ परमाणु से अतिरिक्त गृहीत नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि परमाणु जब इकट्ठे होते हैं तो अपने अतीन्द्रियत्व को छोड़ देते हैं, पर जब अलग अलग होते हैं तो इन्द्रिय-विषय नहीं बनते। तो जो परमाणु अतीन्द्रिय है वही इन्द्रियविषय भी बन जाता है, यह बात द्रव्यान्तरानुत्पत्ति में विरुद्ध पड़ रही है। अतः आपके कथन से ही सिद्ध हो जाता है कि जो इन्द्रिय-विषय है वह द्रव्यान्तर (अवयवी) है।

परमाणुओं का सञ्चय ही इन्द्रिय का विषय बन जाता है, वह सञ्चय द्रव्यान्तर नहीं है? ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि सञ्चय संयोगसम्बन्ध से अतिरिक्त नहीं है और वह अतीन्द्रिय है–उसका ग्रहण कैसे होगा! तात्पर्य यह है कि 'सञ्चय' कहते हैं अनेक के

नातीन्द्रियाश्रयः। भवति हि–'इदमनेन संयुक्तम्' इति, तस्मादयुक्तमेतदिति। गृह्यमाणस्य चेन्द्रियेण विषयस्याऽऽवरणाद्यनुपलब्धिकारणमुपलभ्यते। तस्मान्नेन्द्रियदौर्बल्यादनुपलब्धिरणूनाम्, यथा–नेन्द्रियदौर्बल्याच्चक्षुषाऽनुपलब्धिर्गन्धादीनामिति ॥ १४ ॥

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥

यः खल्ववयविनोऽवयवेषु वृत्तिप्रतिषेधादभावः, सोऽयमवयवस्यावयवेषु प्रसज्यमानः सर्वप्रलयाय वा कल्पेत, निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्त्तेत, उभयथा चोपलब्धिविषयस्याभावः, तदभावादुपलब्ध्यभावः। उपलब्ध्याश्रयश्चायं वृत्तिप्रतिषेधः। स आश्रयं व्याघ्नन्नात्मघाताय कल्पत इति ॥ १५ ॥

अथापि—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात् पर-

---

संयोग को, वह संयोग इन्द्रियगोचर द्रव्यों का हो तो गृहीत हो सकता है, परन्तु अतीन्द्रियों का नहीं गृहीत होता! जैसे कि लोक में कहा जाता है 'यह इससे संयुक्त है', यहाँ संयोग और संयुज्यमान दोनों इन्द्रियविषय हैं। आवरणादिक भी इन्द्रिय से गृह्यमाण विषय की अनुपलब्धि के ही कारण कहलाते हैं; अतीन्द्रिय की अनुपलब्धि के नहीं। अतः परमाणुओं की अनुपलब्धि इन्द्रियदौर्बल्य के कारण नहीं, अपितु उनकी अतीन्द्रियता के कारण है। जैसे चक्षु से गन्ध की अनुपलब्धि उसके दौर्बल्य के कारण नहीं, अपितु उसके अविषय के कारण हैं ॥ १४ ॥

(पृथक् अवयवी न मानने से) अवयवों के भी अवयवी प्रसक्त होंगे, यों सर्वप्रलय (अभाव) हो जायेगा ॥ १५ ॥

यह जो आप अवयवों में न रहने से अवयवी का प्रतिषेध करते हैं, यह प्रतिषेध फिर अवयवों के अवयव में भी होने लगेगा, तब आश्रयव्याघात से वह सब कुछ रहेगा ही नहीं, अर्थात् यह प्रतिषेध उसे प्रलय (अभाव) की तरफ ढकेल देगा। यदि निरवयव होने से उक्त प्रतिषेध परमाणु से निवृत्त होगा तो भी दोनों ही पक्ष में उपलब्धि-विषय कोई रहेगा नहीं, उसके न रहने से उपलब्धि कहाँ से होंगी! जो उपलब्धि का आश्रय (अवयवी) है, उसको आप मान नहीं रहे हैं। इस तरह आश्रय का विरोध करके आप अपने ही पक्ष से अपने पक्ष का खण्डन कर रहे हैं! ॥ १५ ॥

[तुष्यतुदुर्जनन्याय से हमने कह दिया था कि प्रलय (सर्वाभाव) हो जायेगा, वस्तुतः सर्वाभाव है नहीं; क्योंकि परमाणु अविनाशी है। वही प्रसङ्ग उठा रहे हैं—]

अणु के रहने से प्रलय नहीं होगा ॥ १६ ॥

अवयवविभाग मानने पर, वृत्ति का प्रतिषेध होने से प्रलय (अभाव) प्रसक्त होगा।

माणोर्निवर्त्तते न सर्वप्रलयाय कल्पते। निरवयवत्वं खलु परमाणोर्विभागैरल्पतर-प्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात्। लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति। स चायमल्पतरप्रसङ्गो यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्त्तते, यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे इति ॥१६॥

परं वा त्रुटेः[1] ॥ १७ ॥

अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसंख्येयत्वात् त्रुटित्वनिवृत्तिरिति ॥१७

औपोद्घातिकं निरवयवप्रकरणम् [१८-२५]

अथेदानीमानुपलम्भिकः सर्वं नास्तीति मन्यमान आह—

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥

तस्याणोर्निरवयवस्य नित्यस्यानुपपत्तिः। कस्मात्? आकाशव्यतिभेदात्। अन्तर्बहिश्चाणुराकाशेन समाविष्टो व्यतिभिन्नो व्यतिभेदात् सावयवः; सावयवत्वादनित्य इति? ॥ १८ ॥

निरवयव होने से परमाणु में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता, अतः सर्वप्रलय की कल्पना नहीं हो सकती। निरवय से तात्पर्य है कि छोटे-से छोटा विभाग करने पर उससे छोटा कोई विभाग न हो पाये। परमाणु की यही स्थिति है, इसका कोई विभाग नहीं हो पाता। जैसे ढेले को जब हम खण्डशः विभक्त करते हैं तो उसका अल्प से अल्प या बड़े से बड़ा विभाग हो सकता है, यह विभाग परमाणु में प्रसक्त नहीं होता। अर्थात् यह विभागवाली वात जहाँ जाकर रुक जाती है जिससे कोई अल्पतर विभाग न हो, यों जो स्वयं सबसे छोटा हो। जिससे कोई अल्पतर नहीं है उसे ही हम परमाणु कहते हैं, वह निरवयव है ॥ १६ ॥

त्रसरेणु से परे अन्तिम (सबसे लघु विभाग) है ॥ १७ ॥

अवयवविभाग की कोई सीमा न मानोगे तो अवयवपरम्परा में द्रव्यों के असंख्य होने से त्रसरेणु का 'त्रसरेणु' यह नाम व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि उसमें भी अनन्त विभागों की कल्पना होती चलेगी, उसकी विरति कहाँ होगी! ॥ १७ ॥

अब शून्यवादी 'सब कुछ नहीं है' मानता हुआ कहता है—

अणु आकाश से अन्तर्भिद्यमान होने के कारण वह निरवयव नहीं है, अतएव नित्य नहीं माना जा सकता? ॥ १८ ॥

वह अणु नित्य, निरवयव नहीं हो सकता; क्योंकि वह भी आकाश से संयुक्त होने के कारण अन्तर्भिद्यमान है। अणु भीतर और बाहर देशभेद से आकाश से व्याप्त है, इस आकाशव्याप्ति से उसमें भी अवयव उपपन्न हो सकता है। यदि वह सावयव सिद्ध हो गया तो उसमें नित्यता कैसी? ॥ १८ ॥

---

१. त्रुटिः = त्रसरेणुरिति तात्पर्यकृतः। द्व्यणुक एवेत्यन्ये। जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरजः स्मृतम्।

आकाशासर्वगतत्वं वा ? ॥ १९ ॥

अथैतन्नेष्यते—परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमिति असर्वगतत्वं प्रसज्यते इति ?

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥

अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते। बहिरिति च व्यवधायकमव्यवहितं कारणमेवोच्यते। तदेतत् कार्यद्रव्यस्य सम्भवति; नाणोरकार्यत्वात्। अकार्ये हि परमाणावन्तर्बहिरित्यस्याभावः। यत्र चास्य भावोऽणुकार्यं तन्न परमाणुः, यतो हि नाल्पतरमस्ति स परमाणुरिति ॥ २० ॥

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

यत्र क्वचिदुत्पन्नाः शब्दा विभवन्त्याकाशे तदाश्रया भवन्ति, मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे, नासंयुक्तमाकाशेन किञ्चिन्मूर्त्तं द्रव्यमुपलभ्यते, तस्मान्नासर्वगतमिति ॥ २१ ॥

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ २२ ॥

या फिर 'आकाश सर्वगत है' यह अपना सिद्धान्त छोड़ना पड़ेगा ? ॥ १९ ॥

यदि परमाणु में आकाश नहीं मानते हो तो आप (नैयायिक) का 'आकाश सर्वगत है' यह सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा ? ॥ १९ ॥

अवयवाभिधायक 'अन्तर्' तथा 'बहिर्' शब्द कार्यद्रव्य (अवयवी) के कारण-विशेष को ही बतलाते हैं, अतः अकार्य होने से (अनवयवी) परमाणु के वे दोनों सम्भव नहीं हो सकते ॥ २० ॥

'अन्तर्' अर्थात् पिहित प्रदेश जो घट के अन्दर उसके बाह्य अवयवों से ढका हुआ हो, इसी तरह 'वहिर्' वह कहलाता है जो घट के अन्दर के अवयवों को ढका रखे। 'अन्तर्' यह कारणान्तर से कारण का बोधन कर रहा है तथा वहिर्' यह स्वयं कारण है। ये दोनों शब्द कार्यद्रव्य के बोध में सम्भव हो सकते हैं, परन्तु परमाणु के नहीं, क्योंकि वह अकार्य है। अकार्य (निरवयव) परमाणु में 'अन्तर्' 'वहिर्' क्या बनेंगे ! जिसके ये होते हैं वह अणु-कार्य है, उसे परमाणु नहीं कहते। जैसा कि हम अभी पीछे कह आये हैं कि परमाणु उसे कहते हैं जिसका कोई अन्य लघुतर विभाग न किया जा सके ॥ २० ॥

हमारा आकाश का सर्वगतत्व शब्दसंयोग के सार्वत्रिक होने से उपपन्न हो जाता है ॥ २१ ॥

जहाँ कहीं उत्पन्न शब्द वर्तमान होते हैं वहाँ वे आकाश में रहते ही हैं क्योंकि वे आकाशाश्रित हैं। तथा मन, परमाणु और कार्य-द्रव्यों के संयोग आकाश में आश्रय पाते हैं। ऐसा कोई मूर्त द्रव्य नहीं जो आकाश से असंयुक्त हो। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि आकाश असर्वगत नहीं है ॥ २१ ॥

अव्यूह (मिश्रित द्रव्य का अपरावर्तन), अविष्टम्भ (अन्य देश में गत्यभाव) तथा विभुत्व—ये आकाश के धर्म हैं ॥ २२ ॥

संसर्पता प्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते यथा काष्ठेनोदकम्। कस्मात्? निरवयवत्वात्। सर्पच्च प्रतिघाति न विष्टभ्नाति—नास्य क्रियाहेतुं गुणं प्रतिबध्नाति, कस्मात्? अस्पर्शत्वात्, विपर्यये हि विष्टम्भो दृष्ट इति स भवान् सावयवे स्पर्शवति द्रव्ये दृष्टं धर्मं विपरीते नाशङ्कितुमर्हति।

अण्ववयवस्याणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेधः।

सावयवत्वे चाणोरण्ववयवोऽणुतर इति प्रसज्यते। कस्मात्? कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेददर्शनात्। तस्मादण्ववयवस्याणुतरत्वम्, यस्तु सावयवोऽणुकार्यं तदिति। तस्मादणुकार्यमिदं प्रतिषिध्यते इति।

कारणविभागाच्च कार्यस्यानित्यत्वम्; नाकाशव्यतिभेदात्। लोष्टस्यावयवविभागादनित्यत्वम्; नाकाशसमावेशादिति ॥ २२ ॥

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ? ॥ २३ ॥

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानम्—त्रिकोणं चतुरस्रं समं परिमण्डलमित्युपपद्यते, यत्तत् संस्थानं सोऽवयवसन्निवेशः। परिमण्डलाश्चाणवः, तस्मात् सावयवा इति ? ॥ २३ ॥

आकाश, निरवयव होने से, क्रियावान् द्रव्य द्वारा मिश्रित होकर वह रूपान्तर में परावृत्त नहीं किया जा सकता और क्रियावान् द्रव्य अभिमुख उपस्थित द्रव्य की तरह आकाश द्वारा प्रतिबद्ध नहीं होता, अर्थात् इस द्रव्य के क्रियाहेतुगुण को आकाश स्पर्शवान् न होने से प्रतिबद्ध नहीं कर पाता। क्योंकि निरवयव स्पर्शवान् से विष्टम्भ देखा गया है, इसलिये आप निरवयव तथा अस्पर्शवान् आकाश में भी उस विष्टम्भ की कल्पना करें—यह उचित नहीं!

अणु का भी अवयव मानने पर वह अवयव उससे भी छोटा होगा तथा उस अवयव का भी अन्य अवयव कल्पित किया जा सकता है—इस आनन्त्य-कल्पना से अनवस्था-दोष आने लगेगा—अतः हम अणु के कार्य (अवयव) नहीं मानते। तात्पर्य यह है कि अणु को सावयव मानने पर अणु का अवयव उससे भी लघ्वाकार होगा; क्योंकि कार्य-द्रव्य से कारणद्रव्य में परिमाणभेद हुआ ही करता है। अतः अण्वयव में अणुतरत्व आयेगा, वह अण्वयव ही अणुकार्य है। उपर्युक्त हेतु (अनवस्था-दोष) से हम इस अणु में कार्यत्व का प्रतिषेध करते हैं।

यह जो आप लोक में कार्य की अनित्यता देखते हैं वह कारण के विभाग से होती है, न कि आकाश का समावेश होने से। लोष्ट का नाश उसके अवयवों के विनाश से होता है, न कि आकाश के समावेश से ॥ २२ ॥

मूर्तिमान् द्रव्यों में आकारोपपत्ति देखी जाने से अणु के अवयव की सत्ता सिद्ध है ? ॥ २३ ॥

लोक में परिच्छिन्न (मूर्तिमान्) स्पर्शवान् द्रव्यों का त्रिकोण, चौकोर, गोल, चपटा—आदि परमाणु का आकार देखा जाता है। वह आकार अवयवों का मिश्रण है। अणु में ऐसा चौकोर आदि भेद उसकी सावयवता से देखा जाता है। अतः वे भी सावयव हैं ? ॥ २३ ॥

संयोगोपपत्तेश्च ? ॥ २४ ॥

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्याम् अणुभ्यां संयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते । व्यवधानेनानुमीयते—पूर्वभागेन पूर्वेणाणुना संयुज्यते परभागेन परेणाणुना संयुज्यते, यौ तौ पूर्वापरौ भागौ तावस्यावयवौ । एवं सर्वतः संयुज्यमानस्य सर्वतो भागा अवयवा इति ? ॥ २४ ॥

यत्तावत् 'मूर्तिमतां संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः' इति ? अत्रोक्तम् । किमुक्तम् ? विभागेऽल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्र निवृत्तेरण्ववयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति । १

यत् पुनरुच्यते—'संयोगोपपत्तेश्चेति स्पर्शवत्त्वाद्व्यवधानमाश्रयस्य चाव्याप्त्या भागभक्तिः' ? उक्तं चात्र स्पर्शवानणुः स्पर्शवतोरण्वोः प्रतिघातादव्यवधायकः; न सावयवत्वात् ।

स्पर्शवत्त्वाच्च व्यवधाने सत्यणुसंयोगो नाश्रयं व्याप्नोतीति भागभक्तिर्भवति

संयोग के उपपादन से भी अणु के अवयव की सत्ता सिद्ध है ? ॥ २४ ॥

अणु बीच में रहता हुआ, पूर्व तथा पर वाले अणुओं से संयुक्त है, वह उन दोनों को पृथक् किये हुए हैं—यह पार्थक्य ही सिद्ध करता है कि मध्य अणु अपने पूर्व भाग द्वारा पूर्व अणु से संयुक्त है, तथा अपर भाग द्वारा अपर अणु से संयुक्त है ! यहाँ ये अपर भाग वाले अणु से संयुक्त भाग उस मध्यस्थ अणु के अवयव हैं । यों सब ओर से संयुक्त उसके सभी ओर अवयव हैं ? ॥ २४ ॥

यह जो आपने कहा कि 'मूर्तिमान् द्रव्यों की आकारोपपत्ति से अवयव की सत्ता अनुमति होती है' ? (४.२४.२३) इसका उत्तर दिया जा चुका है । क्या दिया गया ? यह 'अवयव-क्रम वहाँ (अणु में) जाकर रुक जाता है जहां उससे लघु कोई अवयव न बन सके; क्योंकि अणु का अवयव मानने से अनवस्था होने लगेगी, अतः हम अणु का अवयव नहीं मानते ।'

यह आपने कहा कि 'संयोगोपपत्ति से अवयव की सत्ता सिद्ध होती है, परमाणुत्रय के संयोग से आरब्ध अवयवसमूह में मध्यस्थ परमाणु द्वारा पूर्व-पर का व्यवधान होता है, संयोग स्वाश्रय को व्याप्त नहीं करता, अतः संयोगवान् होने से उस अणु के भी अवयव हैं—यही सिद्ध होता हैं' ? इसका उत्तर यह है—आप अणु को स्पर्शवान् मानते हैं, मध्यस्थ अणु द्वारा स्पर्शवान् दो अणुओं में जो व्यवधान सिद्ध हो रहा है, वह उनके स्पर्शत्व होने से सिद्ध हो रहा है, न कि उसके सावयव होने से ।

अभी हमने कहा था कि संयोग स्वाश्रय को व्याप्त नहीं करता; परन्तु इसमें दो स्पर्शवान् अणुओं द्वारा व्यवधान से विभाग ज्ञात हो रहा है, अतः यह अणु सावयव है ?

---

१. अत्र वार्तिककृता वचनविरोधोऽप्युपात्तः, स तु तत्रैव ध्येयः ।

भागवानिवायमिति ? उक्तं चात्र विभागेऽल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्राव-स्थानात् तदवयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति ।

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेः संयोगोपपत्तेश्च परमाणूनां सावयवत्वम् ? इति हेत्वोः—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

यावन्मूर्तिमद्यावच्च संयुज्यते तत् सर्वं सावयवम्—इत्यनवस्थाकारिणाविमौ हेतू, सा चानवस्था नोपपद्यते । सत्यामनवस्थायां सत्यौ हेतू स्याताम्, तस्माद-प्रतिषेधोऽयं निरवयवत्वस्येति । विभागस्य च विभज्यमानहानिर्नोपपद्यते, तस्मात् प्रलयान्तता नोपपद्यते इति । अनवस्थायां च प्रत्यधिकरणं द्रव्यावयवानामा-नन्त्यात् परिमाणभेदानां गुरुत्वस्य चाग्रहणं समानपरिमाणत्वं चावयवावय-विनोः परमाण्ववयवविभागादूर्ध्वमिति ॥ २५ ॥

बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम् [२६-३७]

यदिदं भवान् बुद्धीराश्रित्य बुद्धिविषयाः सन्तीति मन्यते, मिथ्याबुद्धय एताः ।

इसका उत्तर भी हम दे चुके हैं कि अवयवक्रम वहाँ जा कर रुक जाता है जहाँ उससे आगे कोई लघुतर अवयव विभक्त न हो सके; क्योंकि अणु का अवयव मानने से पूर्वोक्त अनवस्था होने लगेगी (।२.४.२४) । अतः हम अणु का अवयव नहीं मानते ।

मूर्तिमान् द्रव्यों की आकारोपपत्ति तथा संयोगोपपत्ति से परमाणुओं की सावयवत्व सिद्धि होगी ?

अनवस्थाकारी होने से तथा अनवस्थानुपपादन से सिद्धि नहीं होती ॥ २५ ॥

जो भी मूर्तिमान् तथा संयुक्त है वह सब सावयव है—ये दोनों हेतु पूर्वोक्त अन-वस्था उपपन्न करने वाले हैं । वह अनवस्था लोक में नहीं देखी जाती । हाँ, यदि वह अनवस्था लोक में देखी गयी होती तो वे दोनों हेतु परमाणु को सावयव सिद्ध कर सकते थे !

'जिसको आप अन्तिम अवयव मानते हैं वह भी तो एक तरह से विभाग ही है ?' यह कथन भी उचित नहीं; क्योंकि जिसके विभाग होने मात्र से विभज्यमान का कोई नाश न होता हो वह विभाग होता रहे ! इसीलिये हमारे मत में आपके मत को व्याप्त करने वाला प्रलयदोष भी न आ पायेगा ।

यदि उक्त अनवस्था को स्वीकार किया जाय तो प्रतिद्रव्य में द्रव्यावयवों के आनन्त्य से परिमाणभेद तथा गुरुत्व का भी ग्रहण न होगा । यों परमाणु का भी अवयव मानने पर, मेरु तथा सर्षप (अवयव्यवयव) का समान परिमाण होने लगेगा—यह भयंकर अनवस्था आप का मत मानने पर होने लगेगी ! ॥ २५ ॥

प्रमेयत्व याथात्म्यव्याप्य है या नहीं ?—यह संशय होने पर विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि आप बुद्धियों का सहारा लेकर सबको बुद्धि-विषय मानते है, आपका यह मत

यदि हि तत्त्वबुद्धयः स्युः, बुद्धया विवेचने क्रियमाणे याथात्म्यं बुद्धिविषयाणामुपलभ्येत—

बुद्धया विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ? ॥ २६ ॥

यथाऽयं तन्तुरयं तन्तुरिति प्रत्येकं तन्तुषु विविच्यमानेषु नार्थान्तरं किञ्चिदुपलभ्यते यत्पटबुद्धेर्विषयः स्यात्, याथात्म्यानुपलब्धेरसति विषये पटबुद्धिर्भवन्ती मिथ्याबुद्धिर्भवति । एवं सर्वत्रेति ? ॥ २६ ॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

यदि बुद्धया विवेचनं भावानाम् न सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः । अथ सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः, न बुद्धया विवेचनं भावानाम् । बुद्धया विवेचनं याथात्म्यानुपलब्धिश्चेति व्याहन्यते । तदुक्तम्—'अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात्' (४.२.१५) इति[1] ॥ २७ ॥

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

मिथ्या है; क्योंकि यदि ये यथार्थ-बुद्धि होते तो बुद्धि से विवेचन किये जाने पर इन बुद्धिविषयों का याथात्म्य गृहीत होता ।

बुद्धि द्वारा विवेचन करने से भावों का याथात्म्य (स्वभाव) उपलब्ध नहीं होता, तन्तुओं के अपकर्षण से पटसत्ता के अनुपलम्भ की तरह उसकी अनुपलब्धि ही है ? ॥२६॥

जैसे पट के प्रत्येक तन्तु का यह तन्तु, यह तन्तु—यों विवेचन किये जाने पर तन्तुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता जो पटबुद्धि का विषय बन सके । यों स्वभाव (पटत्व) की अनुपलब्धि से विषय (पट) के न होने पर भी वहाँ पटबुद्धि होती हुई मिथ्याबुद्धि ही कहलायेगी ! इसी तरह सर्वत्र समझें ? ॥ २६ ॥

वचनविरोध होने से यह बुद्धिविवेचन हेतु अयुक्त है ॥ २७ ॥

यदि बुद्धि से विवेचन किया जाये तो भावों की याथात्म्यानुपलब्धि क्यों नहीं होगी ! यदि सभी भावों की याथात्म्यानुपलब्धि न हो पायी तो वह बुद्धि से विवेचन नहीं हुआ । भावों का बुद्धि से विवेचन हो और उनकी याथात्म्यानुपलब्धि न हो पाये—यह तो परस्पर विरुद्ध बात है । वस्तुस्वभाव के विना उसका विवेचन नहीं हो सकता, तथा जिस विविच्यमान की स्वभावानुपलब्धि को हेतुरूप से उपस्थित कर रहे हो वह बुद्धि से विवेचन नहीं माना जाता । इसीलिये हम पीछे (४. २. १५ में) कह आये हैं कि 'प्रलय-पर्यन्त अवयवावयविप्रसङ्ग होता चलेगा' ॥ २७ ॥

उस (पटकार्य) के आश्रित होने से वह पृथक् गृहीत नहीं होता ॥ २८ ॥

---

१. अत्र वार्तिककारः 'प्रमाणं पर्यनुयोज्यः' इत्यादिना दूषणान्तरमप्याह ।

कार्यद्रव्यं कारणद्रव्याश्रितं तत्कारणेभ्यः पृथङ् नोपलभ्यते, विपर्यये पृथग्ग्रहणात्, यत्राश्रयाश्रितभावो नास्ति तत्र पृथग्ग्रहणमिति। बुद्धया विवेचनात्तु भावानां पृथग्ग्रहणम्, अतीन्द्रियेष्वणुषु यदिन्द्रियेण गृह्यते तदेतया बुद्धया विविच्यमानमन्यदिति ॥ २८ ॥

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

बुद्धया विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिः। यदस्ति यथा च यत्रास्ति यथा च तत्सर्वं प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति, या च प्रमाणत उपलब्धिस्तद् बुद्धया विवेचनं भावानाम्, तेन सर्वशास्त्राणि सर्वकर्माणि सर्वे च शरीरिणां व्यवहारा व्याप्ताः। परीक्षमाणो हि बुद्धयाऽध्यवस्यति—इदमस्ति,इदं नास्तीति। तत्र न सर्वभावानुपपत्तिः ॥ २९ ॥

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

एवं च सति सर्वं नास्तीति नोपपद्यते, कस्मात्? प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्। यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते, सर्वं नास्तीत्येतद्व्याहन्यते! अथ प्रमाणं नोपपद्यते, सर्वं नास्तीत्यस्य कथं सिद्धिः! अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धिः, सर्वमस्तीत्यस्य कथं न सिद्धिः!॥ ३० ॥

कार्यद्रव्य कारणद्रव्याश्रित है, अतः वह उन कारणों से पृथक् गृहीत नहीं होता। जहाँ यह आश्रयाश्रित भाव न हो वहाँ पृथग् ग्रहण होता ही है! बुद्धि द्वारा विवेचनमात्र से स्थूल भावों का इन्द्रियों द्वारा पृथक् ज्ञान गृहीत होता है, जैसे अतीन्द्रिय परमाणुओं का पृथक् ग्रहण बुद्धि द्वारा होता ही है, अतः बुद्धि से विवेचित हुआ अवयवी परमाणु से पृथक् है ॥ २८ ॥

अर्थप्रतिपत्ति के प्रमाणाधीन होने से ॥ २९ ॥

बुद्धिविवेचन से भावों की याथात्म्योपलब्धि होती है। जो पटादि द्रव्य है तथा स्वावयवसमवेतत्व जैसा है, या जो शशविषाणादि कार्यकारणभाव से जैसा नहीं है—यह सब प्रमाण द्वारा उपलब्धि से सिद्ध होता है। प्रमाण द्वारा उपलब्धि ही 'भावों का बुद्धि से विवेचन' है। इस बुद्धिविवेचन के अन्तर्गत ही सब शास्त्र, सब कर्म तथा प्राणियों के सब व्यवहार आ जाते हैं। विवेचन करता हुआ जिज्ञासु—'यह है, यह नहीं है' ऐसा अध्यवसाय (यथार्थ निर्णय) करता है, अतः 'सर्वभावानुपपत्ति' सिद्धान्त युक्त नहीं ॥ २९ ॥

प्रमाणों की उपपत्ति, अनुपपत्ति से भी ॥ ३० ॥

इतना व्याख्यान होने के बाद, 'सब कुछ नहीं है' यह सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता; क्योंकि प्रमाणों की उपपत्ति तथा अनुपपत्ति उसका आधार है। जैसे—यदि 'सब कुछ नहीं है' इसमें कोई प्रमाण देते हैं तो उस प्रमाण के होने से तुम्हारी 'सब कुछ नहीं है' यह प्रतिज्ञा कैसे बनेगी! यदि प्रमाण न देते हो तो 'सब कुछ नहीं है' इसे कैसे सिद्ध करोगे! यदि प्रमाण के विना ही सिद्धि मानें तो 'सब कुछ है' यह क्यों न सिद्ध मान लिया जाये!॥ ३० ॥

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ? ॥ ३१ ॥

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ? ॥ ३२ ॥

यथा स्वप्ने न विषयाः सन्त्यथ चाभिमानो भवति, एवं न प्रमाणानि प्रमेयानि च सन्त्यथ च प्रमाणप्रमेयाभिमानो भवति ? ॥ ३१–३२ ॥

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

स्वप्नान्ते विषयाभिमानवत् प्रमाणप्रमेयाभिमानो न पुनर्जागरितान्ते विषयोपलब्धिवदित्यत्र हेतुर्नास्तीति हेत्वभावादसिद्धिः । स्वप्नान्ते चासन्तो विषया उपलभ्यन्ते इत्यत्रापि हेत्वभावः ।

प्रतिबोधेऽनुपलम्भादिति चेत् ? प्रतिबोधविषयोपलम्भादप्रतिषेधः । यदि प्रतिबोधेऽनुपलम्भात् स्वप्ने विषया न सन्तीति ? तर्हि य इमे प्रतिबुद्धेन विषया उपलभ्यन्ते उपलम्भात् सन्तीति ।

विपर्यये हि हेतुसामर्थ्यम् । उपलम्भात्सद्भावे सत्यनुपलम्भादभावः सिद्धयति, उभयथा त्वभावे नानुपलम्भस्य सामर्थ्यमस्ति, यथा–प्रदीपस्याभावाद्रूपस्यादर्शनमिति, तत्र भावेनाभावः समर्थ्यते इति ।

[विज्ञानवादी फिर दूसरे रूप से बात उठाते हैं—]

यह प्रमाण-प्रमेय का अभिमान (कल्पना) स्वप्नविषय के अभिमान (मिथ्या कल्पना) की तरह है ? ॥ ३१ ॥

या कल्पित गन्धर्वनगर या मृगतृष्णा की तरह (मिथ्या) है ? ॥ ३२ ॥

जैसे स्वप्न में विषय वास्तविक नहीं अपितु कल्पित ही होते हैं, उसी तरह ये प्रमाण तथा प्रमेय दोनों ही नहीं हैं, केवल इनकी कल्पना कर ली गयी है ? ॥ ३१-३२ ॥

उक्त अभिमानकल्पना में हेतु न होने से वह असिद्ध है ॥ ३३ ॥

यह प्रमाण-प्रमेयबुद्धि स्वप्नप्रत्ययसदृशी है, जाग्रत्प्रत्ययसदृशी नहीं है—इसमें कोई हेतु नहीं, अतः हेत्वभाव से आपकी बात अयुक्त ही है। स्वप्नावस्था में गृहीत होनेवाले विषय नहीं हैं—इसमें भी कोई हेतु नहीं ।

यदि यह कहो कि जागने पर वे उपलब्ध नहीं होते अतः वे नहीं हैं ? तो जाग्रदवस्था में तो वे उपलब्ध रहते ही हैं । तब 'जाग्रदवस्था में विषय नहीं हैं'—यह कैसे कहते हो !

हेतुसामर्थ्य से तभी कोई बात सिद्ध की जा सकती है कि जब वह कहीं अन्यत्र देखी गयी हो । अन्यत्र क्वचिद् उपलब्धि से सत्ता सिद्ध होने पर ही अनुपलब्धि से उसका अभाव सिद्ध हो सकता है । जब उभयथा अभाव ही है तो अनुपलब्धिसामर्थ्य से आप क्या सिद्ध करेंगे ! जैसे किसी जगह प्रदीप के अभाव में रूप (घटादि) का अदर्शन सिद्ध करना है तो प्रमाता को अन्यत्र कहीं रूपदर्शन हुआ रहना चाहिये, उसी सामर्थ्य से वह कह सकता है कि 'प्रदीप नहीं है, अतः रूपादर्शन है' ।

स्वप्नान्तविकल्पे च हेतुवचनम् । स्वप्नविषयाभिमानवदिति ब्रुवता स्वप्नान्तविकल्पे हेतुर्वाच्यः । कश्चित्स्वप्नो भयोपसंहितः, कश्चित्प्रमादोपसंहितः, कश्चिदुभयविपरीतः, कदाचित्स्वप्नमेव न पश्यतीति । निमित्तवतस्तु स्वप्नविषयाभिमानस्य निमित्तविकल्पाद्विकल्पोपपत्तिः ॥ ३३ ॥

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

पूर्वोपलब्धविषयः । यथा स्मृतिश्च सङ्कल्पश्च पूर्वोपलब्धविषयौ न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पेते, तथा स्वप्ने विषयग्रहणं पूर्वोपलब्धविषयं न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पते इति ।

एवं दृष्टाविषयश्च स्वप्नान्तो जागरितान्तेन । यः सुप्तः स्वप्नं पश्यति स एव जाग्रत्स्वप्नदर्शनानि प्रतिसन्धत्ते—इदमद्राक्षमिति । तत्र जाग्रद्बुद्धिवृत्तिवशात्स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति व्यवसायः । सति च प्रतिसन्धाने या जाग्रतो बुद्धिवृत्तिस्तद्वशादयं व्यवसायः स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति ।

उभयाविशेषे तु साधनानर्थक्यम् । यस्य स्वप्नान्तजागरितान्तयोरविशेषस्तस्य स्वप्नविषयाभिमानवदिति साधनमनर्थकम्; तदाश्रयप्रत्याख्यानात् ।

स्वप्नविकल्प में भी हेतु देना चाहिये ! पूर्वपक्षी को 'स्वप्नविषयाभिमानवत्' कहते हुए हेतु भी रखना चाहिये । कोई स्वप्न राग से, कोई भय से, कोई प्रमाद से तथा कोई इनके अभाव अर्थात् अदृष्ट से होता है, कोई पुरुष स्वप्न देखता ही नहीं । निमित्तवान् स्वप्नविषयाभिमान के निमित्तविकल्प से निमित्तविकल्प बन जायेगा ॥ ३३ ॥

स्वप्नविषयाभिमान भी स्मृति तथा सङ्कल्प के समान ॥ ३४ ॥

पूर्वोपलब्ध विषय वाला है । जैसे स्मृति और सङ्कल्प पूर्वोपलब्धविषयक ही होते हैं, उनका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता; उसी तरह स्वप्न में दिखायी देने वाला विषय भी पूर्वोपलब्ध है, उनका प्रत्याख्यान कैसे होगा ! इस तरह स्वप्न-ज्ञान जाग्रज्ज्ञान से दृष्टविषय है । सोया हुआ मनुष्य जो कुछ स्वप्न में देखता है, जगने पर वह उसका प्रतिसन्धान करता है कि 'ऐसा मैंने स्वप्न में देखा था' । यों जाग्रज्ज्ञान होने पर जाग्रत्पुरुष की ज्ञानवृत्ति के कारण यह निश्चय होता है कि स्वप्न में देखा गया विषय मिथ्या था; क्योंकि वह इस समय उपलब्ध नहीं है ।

यदि इन दोनों (स्वाप्न एवं जाग्रत) ज्ञानों को ही मिथ्या मानें तो साधनानर्थक्य होने लगेगा । यो, स्वाप्न तथा जाग्रत—दोनों ही ज्ञानों को मिथ्या मानता है, उसके लिये बाकी क्या रह जाता है कि उसे वह सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है; क्योंकि उसने तो उस मिथ्याज्ञान के आश्रय जाग्रज्ज्ञानाधीन वस्तु का ही प्रत्याख्यान (अपलाप) कर दिया ! अर्थात् जाग्रत् से स्वप्न या स्वप्न से जाग्रज्ज्ञान होता हैं—इसमें विनिगमन करना ही कठिन है ।

अतस्मिंस्तदिति च व्यवसायः प्रधानाश्रयः। अपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति व्यवसायः स प्रधानाश्रयः, न खलु पुरुषेऽनुपलब्धे 'पुरुषः' इत्यपुरुषे व्यवसायो भवति। एवं स्वप्नविषयस्य व्यवसायः—हस्तिनमद्राक्षं पर्वतमद्राक्षमिति प्रधानाश्रयो भवितुमर्हति ॥ ३४ ॥

एवं च सति—

मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

स्थाणौ पुरुषोऽयमिति व्यवसायो मिथ्योपलब्धिः, अतस्मिंस्तदिति ज्ञानम्; स्थाणौ स्थाणुरिति व्यवसायस्तत्त्वज्ञानम्, तत्वज्ञानेन च मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते, नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः। यथा प्रतिबोधे या ज्ञानवृत्तिस्तया स्वप्नविषयाभिमानो निवर्त्यते, नार्थो विषयसामान्यलक्षणः; तथा मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकाणामपि या बुद्धयोऽतस्मिंस्तदिति व्यवसायाः, तत्राप्यनेनैव कल्पेन मिथ्योपलब्धिर्विनाशस्तत्त्वज्ञानान्नार्थप्रतिषेध इति।

उपादानवच्च मायादिषु मिथ्याज्ञानम्। प्रज्ञापनीयसरूपं च द्रव्यमुपादाय

अभाव में सत्ता (तदभाववान् में तत्त्व) का व्यवसाय प्रधानाश्रित होता है। पुरुषाभावयुक्त स्थाणु में पुरुषव्यवसाय पुरुषाश्रित है। पुरुष यदि कहीं प्रमाता को अन्यत्र न उपलब्ध हुआ हो तो वह स्थाणु में पुरुषव्यवसाय कभी नहीं कर पायेगा। इसी तरह 'हाथी देखा था, पर्वत देखा था'—यह स्वप्नगत विषय का व्यवसाय भी जाग्रज्ज्ञानरूप प्रधान का आश्रय लेकर ही हो सकता है॥ ३४॥

ऐसा मानने पर—

जगने पर स्वप्नज्ञान के नाश की तरह तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञानोपलब्धि का विनाश हो जाता है॥ ३५॥

स्थाणु में 'यह पुरुष है'—ऐसा व्यवसाय मिथ्योपलब्धि है, यही में तदभाववान् 'तत्ता' ज्ञान कहलाता है। स्थाणु में 'यह स्थाणु है'—ऐसा ज्ञान तत्त्वज्ञान कहलाता है। तत्त्वज्ञान से मिथ्योपलब्धि निवृत्त हो जाती है, न कि स्थाणुपुरुष में उपलब्ध होने वाले सामान्य लक्षणों (स्थाणुत्व, पुरुषत्व) का-कोई अर्थ नहीं रह जाता, अर्थात् इस तत्त्वज्ञान से उन विषयों में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे जगने पर हुई ज्ञानवृत्ति से स्वप्नविषयक मिथ्याभिमान नष्ट हो जाता है, न कि जाग्रत्स्वप्न-विषयों में उपलब्ध होने वाले सामान्य लक्षणों का कोई अर्थ नहीं है। इसी तरह मायाकल्पित गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा आदि में तदभाववान् में तत्ता के ज्ञान का भी उक्त रीति से ही खण्डन समझ लेना चाहिये। वहाँ भी तत्त्वज्ञान से मिथ्योपलब्धि निवृत्त हो, जाती है विषय में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। यों यह मिथ्याज्ञान सत् के आश्रित है। माया या इन्द्रजाल में मिथ्याज्ञान होता है। मायिक जिस विषय का आभास उत्पन्न करना चाहता है तत्सदृश किसी सद् द्रव्य को स्मृति में लेकर ही वह दूसरे में सम्पादित सामग्रियों से मिथ्याध्यवसाय करता

साधनवान् परस्य मिथ्याध्यवसायं करोति, सा माया। नीहारप्रभृतीनां नगरसरूपसन्निवेशे दूरान्नगरबुद्धिरुत्पद्यते; विपर्यये तदभावात्। सूर्यमरीचिषु भौमेनोष्मणा संसृष्टेषु स्पन्दमानेषूदकबुद्धिर्भवति; सामान्यग्रहणात्, अन्तिकस्थस्य विपर्यये तदभावात्। क्वचित्-कदाचित् कस्यचिच्च भावान्नानिमित्तं मिथ्याज्ञानम्। दृष्टं च बुद्धिद्वैतं मायाप्रयोक्तुः. परस्य च दूरान्तिकस्थयोर्गन्धर्वनगरमृगतृष्णिकासु, सुप्तप्रतिबुद्धयोश्च स्वप्नविषये। तदेतत् सर्वस्याभावे निरुपाख्यतायां निरात्मकत्वे नोपपद्यते इति ॥ ३५ ॥

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

मिथ्याबुद्धेश्चार्थवदप्रतिषेधः। कस्मात्? निमित्तोपलम्भात्, सद्भावोपलम्भाच्च। उपलभ्यते मिथ्याबुद्धिनिमित्तम्, मिथ्याबुद्धिश्च प्रत्यात्ममुत्पन्ना गृह्यते; संवेद्यत्वात्। तस्मान्मिथ्याबुद्धिरप्यस्तीति ।। ३६ ॥

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः[1] ॥ ३७ ॥

है, वही माया है। जैसे दूर से नगरादि की भ्रान्ति भी तभी होती है जब उसका कारण नक्षत्र या मेघादि से नगररूपाकार बन जाये। यहाँ मिथ्या ज्ञान का कारण दूरत्व है, पास में जाने पर वह बाधित होता है। मरुप्रदेश में सूर्यकिरणें भूमि से निर्गत उत्कट उष्ण तेज से संसृष्ट हो चिलचिलाती हैं, तब जल का सामान्य धर्म गृहीत होने से उसमें उदक का मिथ्या ज्ञान होता है। वह मिथ्याज्ञान समीप जानेपर नष्ट हो जाता है। कहीं कुछ तो कहीं कुछ भाव मिथ्याज्ञान से पूर्व है ही, न कि मिथ्याज्ञान अनिमित्तक है। लोक में यह बुद्धिद्वैत मायाप्रयोक्ता के कार्य में या दूसरे के कार्य में या गन्धर्वनगर-मृगतृष्णा आदि में देखते ही हैं। इसी तरह यह द्वैत सुप्त तथा प्रतिबुद्ध के स्वाप्न तथा जाग्रत ज्ञानों में भी समझना चाहिये। यदि आत्यन्तिक निरात्मक एवं सत् के सर्वथा अभाव में ही इस संसार को व्याप्त करके रहता तो यह बुद्धिद्वैत कैसे होता! अतः बाह्यार्थ का अपलाप करना अयुक्त है ॥ ३५ ॥

यों, कारण तथा सत्ता की उपलब्धि से मिथ्याज्ञान का अस्तित्व मानना ही उचित है ॥ ३६ ॥

जैसे (मिथ्याज्ञानों के) विषय का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, उसी तरह मिथ्याज्ञान का प्रतिषेध भी उचित नहीं; क्योंकि उसका कारण तथा उसकी सत्ता उपलब्ध होती है। जब मिथ्याबुद्धि के कारण उपलब्ध होते हैं, तथा मिथ्याज्ञान सर्वजनानुभवसिद्ध है तो शून्यवादी (माध्यमिक बौद्ध) को भी मिथ्याज्ञान की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिये ॥ ३६ ॥

तत्त्व (धर्मिस्वरूप) तथा प्रधान (आरोप्य) में भेद होने से मिथ्याबुद्धि के निमित्त में द्वैविध्य बन सकता है ॥ ३७ ॥

---

१. 'मिथ्याबुद्धिद्वैविध्योपपत्तिः'—इति पाठा०। 'मिथ्याबुद्धिनिमित्तस्य द्वैविध्यमित्यर्थः'—इति तात्पर्याचार्याः।

तत्त्वं स्थाणुरिति, प्रधानं पुरुष इति—तत्त्वप्रधानयोरलोपाद् = भेदात्, स्थाणौ 'पुरुषः' इति मिथ्याबुद्धिरुत्पद्यते; सामान्यग्रहणात्। एवं पताकायां बलाकेति, लोष्टे कपोत इति। तत्र समाने विषये मिथ्याबुद्धीनां समावेशः, सामान्यग्रहणव्यस्थानात्। यस्य तु निरात्मकं निरुपाख्यम्, सर्वं तस्यासमावेशः प्रसज्यते!

गन्धादौ च प्रमेये गन्धादिबुद्धयो मिथ्याभिमतास्तत्त्वप्रधानयोः सामान्यग्रहणस्य चाभावात् तत्त्वबुद्धय एव भवन्ति। तस्मादयुक्तमेतत्—'प्रमाणप्रमेयबुद्धयो मिथ्या' इति ॥ ३७ ॥

तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् [३८-४९]

'दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः' (४. २. १) इत्युक्तम्। अथ कथ तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति ?

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः। सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते, तदभ्यासवशात् तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते ॥ ३८ ॥

तत्त्व अर्थात् स्थाणु (धर्मी), प्रधान अर्थात् पुरुष (आरोप्य)—इनके भिन्न-भिन्न होने से स्थाणु में 'पुरुष है' यह मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है; उनके सामान्य लक्षण समान होने के कारण। इसी तरह ध्वजा में वक पक्षी तथा ढेले में कबूतर का भी समान लक्षणों से मिथ्याज्ञान हो जाया करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि समान विषयों में मिथ्याबुद्धियों का समावेश समान लक्षणों से हो जाता है। परन्तु जो इस संसार को निर्धमक और सदभाव हो मानता है उसके मत में यह समावेश कैसे और क्या करने के लिये होगा !

गन्धादि प्रमेय में गन्धविज्ञान को भी ये शून्यवादी मिथ्या ही मानते हैं; परन्तु वहाँ उक्त तत्त्व तथा प्रधान का भेद न होने से तथा समानलक्षण गृहीत न होने से हमारे मत में वह गन्धज्ञान तत्त्वज्ञान ही है, अर्थात् धर्मवत् धर्मिस्वरूप का यह यथार्थ ज्ञान ही है। अतः यह कहना अयुक्त ही है कि—प्रमाणप्रमेयबुद्धि मिथ्या है ॥ ३७ ॥

'दोष-कारणों के तत्त्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति होती है' यह आप पहले (४.२.१ में) कह चुके हैं, पर यह तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता कैसे है—यह तो बताइये !

समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ३८ ॥

समाधि क्या है ? तत्त्वज्ञान की इच्छा से इन्द्रियों से मन को हटा कर धारक प्रयत्न द्वारा धार्यमाण मन का आत्मा से संयोग ही 'समाधि' है। उस समाधि के होने पर, बुद्धि इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं दौड़ती। ऐसा अभ्यास करते-करते कि इन्द्रियाँ विषयों की तरफ न जाने पावें, एक दिन तत्त्वज्ञान हो ही जाता है ॥ ३८ ॥

यदुक्तम्—'सति हि तस्मिन् इन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते' इत्येतत्—

न; अर्थविशेषप्राबल्यात् ? ॥ ३९ ॥

अनिच्छतोऽपि बुद्धयुत्पत्तेर्नैतद् युक्तम् । कस्मात् ? अर्थविशेषप्राबल्याद् अबुभुत्समानस्यापि बुद्धयुत्पत्तिर्दृष्टा, यथा—स्तनयित्नुशब्दप्रभृतिषु । तत्र समाधिविशेषो नोपपद्यते ? ॥ ३९ ॥

क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ? ॥ ४० ॥

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतोऽपि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते । तस्मादैकाग्र्यानुपपत्तिरिति ॥ ४० ॥

अस्त्वेतत् समाधिं विहाय व्युत्थानम्, व्युत्थाननिमित्तं समाधिप्रत्यनीकं च, सति त्वेतस्मिन्—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः[1] फलानुबन्धो योगा-

---

शङ्का—

आपका यह कहना कि 'उस समाधि के होने पर बुद्धि इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं दौड़ती' यह अयुक्त है; क्योंकि—

वह समाधि अर्थविशेष के प्राबल्य से नहीं हो पायेगी ? ॥ ३९ ॥

समाधिस्थ पुरुष के न चाहने पर भी विषय की प्रबलता से इन्द्रियाँ उधर प्रवृत्त होंगी ही, तब वैसा ज्ञान भी होगा ही। जैसे न जानना चाहते हुए की भी मेघगर्जन-शब्द की तरफ इन्द्रियप्रवृत्ति देखी जाती है, तथा उसका श्रावण ज्ञान भी देखा जाता है, अतः हम तो यही मानना चाहेंगे कि आपका वह समाधिविशेष उत्पन्न नहीं होता ? ॥ ३९ ॥

भूख आदि की प्रवृत्ति से भी यही मानना उचित है ? ॥ ४० ॥

अनिच्छुक पुरुष की भी क्षुत्पिपासा, शीतातप, तथा व्याधि आदि की तरफ बुद्धि दौड़ती रहती है, अतः यही मानें कि वह समाधिविशेष उत्पन्न हो नहीं पाता ? ॥४०॥

उत्तर—हम कब कहते हैं कि समाधि-च्युति नहीं होती, या उसमें अन्तराय नहीं आता; परन्तु पुनः पुनः समाधिच्युति या उसमें अन्तराय आने पर भी

पूर्वशरीराभ्यस्त समाधि के धर्माख्य संस्कारविशेष की स्थिरता से इस समाधि की पुन. उत्पत्ति हो जाती है ॥ ४१ ॥

सूत्रस्थ 'पूर्वकृत' पद से तात्पर्य है—पूर्व जन्म में संचित हुआ तत्त्वज्ञान-निमित्तक धर्माख्य प्रकृष्ट संस्कार (अदृष्ट)। 'फलानुबन्ध से तात्पर्य है योगाभ्यास का सामर्थ्य।

---

१. 'प्रविविच्यते विशिष्यते इति प्रविवेकः, धर्मश्चासौ प्रविवेकः' इति तात्पर्यकृतः।

भ्याससामर्थ्यम्, निष्फले ह्यभ्यासे नाभ्यासमाद्रियेरन् । दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम् ॥ ४१ ॥

प्रत्यनीकपरिहारार्थं च

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते। प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञानहेतौ धर्मे प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इति । दृष्टश्च समाधिनाऽर्थविशेषप्राबल्याभिभवः—'नाहमेतदश्रौषं नाहमेतदज्ञासिषम्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्' इत्याह लौकिक इति ॥ ४२ ॥

यद्यर्थविशेषप्राबल्यादनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तिरनुज्ञायते,

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ? ॥ ४३ ॥

मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पद्येरन्निति ? ॥ ४३ ॥

न; निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

इन दोनों हेतुओं से समाधि की उत्पत्ति होगी । 'फलानुबन्ध' इसलिये लगाया है कि निष्फल अभ्यास में प्रेक्षावान् पुरुषों का आदर न होगा । लोक में भी देखा जाता है, जैसे मनुष्य यदि कुछ समय पहले कोई कार्य थोड़ा-बहुत सीखा रहता है तो समय पाकर, साधन मिलने पर अभ्यास से वही उस कार्य में कुशल हो जाता है ॥ ४१ ॥

विघ्नों के परिहार के लिये

आचार्यों ने अरण्य, गुफा, तथा (समुद्र या नदी के) तट आदि एकान्त स्थानों में बैठ कर योगाभ्यास का उपदेश किया है ॥ ४२ ॥

योगाभ्यासजनित अदृष्ट जन्मान्तर में भी अनुवृत्त होता है । जब यह तत्त्वज्ञानहेतु अदृष्ट प्रचय (वृद्धि) की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है तो समाधि की पूर्णता से उस समय तत्त्वज्ञान हो जाता है । लोक में भी समाधि से अर्थविशेष के प्राबल्य का अभिभव देखा जाता है, जैसे कोई कहे—'अरे भाई ! मैं आपकी बात सुन नहीं सका, अतः समझ नहीं पाया, मेरा ध्यान (मन) दूसरी ओर था'—इत्यादि ॥ ४२ ॥

शङ्का—

यदि आप हमारी इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'अनिच्छुक का भी मन अर्थविशेषप्राबल्य से उधर खिंच ही जाता है' तो—

अपवर्ग में भी बाह्य विषयों की ओर बुद्धि प्रसक्त होगी ? ॥ ४३ ॥

मुक्त पुरुष की बुद्धि भी विषयविशेष के प्राबल्य से उसकी तरफ प्रवृत्त होगी ? ॥ ४३ ॥

उत्तर—

उस बुद्धि के निष्पन्न (शरीर) में ही अवश्यम्भावी होने से अपवर्ग-स्थिति में यह सब कुछ नहीं होता ॥ ४४ ॥

कर्मवशान्निष्पन्ने शरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तभावादवश्यम्भावी बुद्धीना-मुत्पादः, न च प्रबलोऽपि सन् बाह्योऽर्थं आत्मनो बुद्धयुत्पादे समर्थो भवति, तस्येन्द्रियेण संयोगाद् बुद्धयुत्पादे सामर्थ्यं दृष्टमिति ॥ ४४ ॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गे । तत्र यदुक्तम्–'अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः' इति तदयुक्तम् । तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः । यस्मात् सर्वदुःखबीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गे विच्छिद्यते, तस्मात् सर्वेण दुःखेन विमुक्तिरपवर्गः; न निर्बीजं निरायतनं च दुःखमुत्पद्यत इति ॥ ४५ ॥

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥

तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः । यमः[1] समानमाश्र-मिणां धर्मसाधनम्, [2]नियमस्तु विशिष्टम् । आत्मसंस्कारः पुनरधर्महानं धर्मो-

---

आत्मा के प्राक्तन कर्मवश जब यह शरीर निष्पन्न होता है, तब वह चेष्टा, इन्द्रिय, तथा विषयों का आश्रय होता है। इस प्रकार उस बुद्धि का निमित्त होने से इस शरीर में भी वैषयिक बुद्धि का उत्पाद अवश्यम्भावी है, परन्तु मोक्षावस्था में (इन्द्रिय से दूर होने के कारण) प्रबल बाह्य विषय भी आत्मा में बुद्धयुत्पाद नहीं कर सकता; क्योंकि इन्द्रियों के संयोग से ही उस वैषयिकबुद्धि की उत्पत्तिशक्ति देखी जाती है ॥ ४४ ॥

तथा उस बुद्धिकारण शरीर का अपवर्गदशा में अभाव है ॥ ४५ ॥

बुद्धिनिमित्त के आश्रय शरीरेन्द्रियोत्पत्ति के कारण धर्माधर्म हैं, पर अपवर्ग में धर्माधर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः वहाँ कारण (धर्माधर्मादि) के अभाव में तत्कार्य (शरीरेन्द्रियादि) का अभाव ही रहेगा। इसलिए आपका यह कहना कि 'अपवर्ग में भी बाह्य विषयों की ओर बुद्धि प्रवृत्त होगी'—अयुक्त ही है। यहाँ सब दुःखों से छुट-कारा पा जाना ही मोक्ष है, यही 'अपवर्ग' है। तात्पर्य यह है कि सब दुःखों के कारण तथा आश्रय का अपवर्ग में विच्छेद हो जाता है, अतः सब दुःखों से विमुक्ति ही 'अपवर्ग' है। इस दशा में निष्कारण तथा निराश्रय दुःख उत्पन्न ही कैसे होंगे ! ॥ ४५ ॥

उसके लिये यम-नियम, योग तथा अध्यात्मशास्त्रोक्त उपायों से आत्मा का संस्कार करना चाहिये ॥ ४६ ॥

उस अपवर्ग की प्राप्ति के लिये यम-नियम से आत्म-संस्कार करना चाहिये। यम कहते हैं—आश्रमियों का समान धर्मसाधन, जैसे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि धर्म का पालन। नियम—जिज्ञासु पुरुषों के विशिष्ट धर्मसाधन को

---

१. 'अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'—(योगसूत्रम्, २. ३०.)

२. 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'—(योगसूत्रम्, २. ३२.)

पचयश्च, योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनस्तपः, प्राणायामः, प्रत्याहारः, ध्यानम्, धारणेति। इन्द्रियविषयेषु प्रसंख्यानाभ्यासो रागद्वेषप्रहाणार्थः। उपायस्तु योगाचारविधानमिति ॥ ४६ ॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

तदर्थमिति प्रकृतम्। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् = आत्मविद्याशास्त्रम्, तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे। अभ्यासः = सततक्रियाध्ययनश्रवणचिन्तनानि। तद्विद्यैश्च सह संवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थम्। परिपाकस्तु संशयच्छेदनम्, अविज्ञातार्थबोधः, अध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति। समाय वादः = संवादः ॥ ४७ ॥

'तद्विद्यैश्च सह संवादः' इत्यविभक्तार्थं वचनं विभज्यते—

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥

कहते हैं, जैसे—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। उक्त उपायों द्वारा अधर्मनाश तथा धर्मोपचय से आत्मसंस्कार समझना चाहिये। अध्यात्मविधि योगशास्त्र से ग्रहण करनी चाहिये। वह विधि योगशास्त्र में—तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा आदि उपायों से बतायी गयी है। इन्द्रियार्थों के बारे में निवृत्ति (त्याग) का अभ्यास रागद्वेष के क्षय के लिये किया जाता है। योग तथा आचारशास्त्र में मुमुक्षु के लिये बतायी गयी विधियाँ ही 'उपाय' है। जैसे—एकाकिता, आहार में संयम तथा एक स्थान पर अधिक काल न रहना आदि ॥ ४६ ॥

[यदि अपवर्ग उक्त समाधि से ही निष्पन्न होता है तो इस न्यायशास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ ?—] इस पर सूत्रकार कहते हैं—

विद्याओं का अध्ययन तथा उसका अभ्यास और उसके मर्मज्ञों के साथ संवाद ॥४७॥

उस अपवर्ग के लिए करना चाहिये। 'जिससे जाना जाये'—इस करणव्युत्पत्ति से आत्मविद्याशास्त्र को 'ज्ञान' कहते है, उसे प्राप्त करना ही अध्ययन एवं धारणा है। निरन्तर शास्त्रोक्त क्रिया, शास्त्रों का अध्ययन एवं चिन्तन करना अभ्यास कहलाता है। तथा प्रज्ञावैशद्य के लिए उस विद्या के विद्वानों के सामने जिज्ञासुभाव से श्रद्धा के साथ परिप्रश्न कर संवाद करते रहने से प्रज्ञापरिपाक होता है। यह प्रज्ञावैशद्य तब समझना चाहिये जब जिज्ञासु को संशयनिवृत्ति, अविज्ञात (विशेषेण अज्ञात) अर्थ का बोध, तथा प्रमाण से सामान्यतः ज्ञात का तर्कयुक्त अभ्युपगम हो जाये। समस्थिति के लिये किये गये वाद को 'संवाद' कहते हैं। अर्थात् तत्त्वबुभुत्सा के लिये विहित कथाप्रवर्तन संवाद कहलाता है ॥ ४७ ॥

पूर्वसूत्रोक्त 'उन उन विद्वानों के साथ होनेवाला संवाद'—इस वाक्यावयव को और स्पष्ट करते हैं—

संवाद को शिष्य, गुरु, सहाध्यायी तथा किसी तत्त्वज्ञानी के साथ जो कि उस जिज्ञासु का कल्याण चाहते हों तथा उससे ईर्ष्या न करते हों, प्राप्त करे ॥ ४८ ॥

एतन्निगदेनैव नीतार्थमिति ॥ ४८ ॥

यदिदं मन्येत—पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति ?

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥

तमभ्युपेयादिति वर्तते। परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति ॥ ४९ ॥

तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् [५०-५१]

अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि, स्वपक्षरागेण चैके न्यायमतिवर्तन्ते, तत्र—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥

अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति ॥ ५० ॥

यह सूत्र अपने सरल पदों से स्वयं स्पष्ट है, अतः इसका अधिक व्याख्यान अपेक्षित नहीं ॥ ४८ ॥

यदि संवाद में पक्ष तथा प्रतिपक्ष होने से वह दूसरों (उक्त शिष्य, गुरु, सब्रह्मचारी) के लिये प्रतिकूल ही होगा—ऐसा समझा जाय तो ?

तत्त्वज्ञान को इच्छा होने पर तत्त्वनिर्णय के लिये प्रतिकूलपक्षहीन ॥ ४९ ॥

वह संवाद करे। दूसरे से ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा तत्त्वज्ञान की इच्छा प्रकट कर, अपना कोई पक्ष न रखता हुआ अपने ज्ञान का परिष्कार करे ॥ ४९ ॥

[यदि तत्त्वज्ञान के लिये ऐसा सात्त्विक संवाद ही अपेक्षित है तो जल्प-वितण्डा को हाथ जोड़ लें, संवाद में उनकी क्या जरूरत पड़ेगी ? इस पर कहते हैं—]

एक बात और, विभिन्न दार्शनिकों के आत्मविद्या के बारे में अपने-अपने मत हैं जो कि परस्पर विरुद्ध हैं, उनमें अपने को न उलझाते हुए तथा उनमें से अयुक्त को छोड़कर युक्त के परिग्रह से अपने ज्ञान का परिष्कार करे। हाँ, उक्त प्रकार के वादियों को छोड़ कर अन्य प्रकार के वादी भी हैं जो अपने पक्ष में दुराग्रह रखते हुए न्याय का अतिक्रमण करते रहते हैं, उन पर—

जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिये जल्प-वितण्डा का भी प्रयोग करना चाहिये, जैसे अन्यत्र अनपेक्षित कण्टकशाखा का आवरण (कांटों का घेरा) भी क्षेत्ररक्षण के लिये कभी-कभी अत्यावश्यक होता है ॥ ५० ॥

सूत्रकार का यह आदेश उन जिज्ञासुओं के लिये हैं जिनको तत्त्वज्ञान न हुआ हो, जिनके दोष प्रहीण न हुए हों, परन्तु जो उनके प्रहाण के लिये प्रयास कर रहे हों ॥५०॥

विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य—

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ ५१ ॥

विगृह्य इति विजिगीषया, न तत्त्वबुभुत्सयेति । तदेतद् विद्यापालनार्थम्, न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति ॥ ५१ ॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थाध्याये द्वितीयमाह्निकं समाप्तम्

❀ समाप्तश्च चतुर्थोऽध्यायः ❀

या जो प्रतिवादी मिथ्याज्ञानावलेपदुर्विदग्धता से जिज्ञासु की अवज्ञा करने को तत्पर हो, उस समय जिज्ञासु

जल्प-वितण्डा से संवाद करता हुआ विजिगीषा से तत्त्वकथन करे ॥ ५१ ॥

'विगृह्य' पद का तात्पर्य है विजिगीषा से, न कि तत्त्वबुभुत्सा से । जल्प-वितण्डा का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि वे उक्त दुर्विदग्ध वादी अपना दृढ प्रतिपक्षी न न पाकर साधारण जनता के हृदय से धार्मिक भावनाओं का विलोप ही न कर दें । वहाँ जिज्ञासु को यह कभी न सोचना चाहिये कि इस जल्प-वितण्डा के प्रयोग से सत्कार, या धन का लाभ होगा, अपितु वह विद्या की रक्षा के लिये जल्प-वितण्डा का आश्रयण लेता रहे ॥ ५१ ॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन)में चतुर्थ अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त

❀ चतुर्थ अध्याय भी समाप्त ❀

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथममाह्निकम् [१-३]

सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम् [१-३]

'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम्' (१.२.१८), इति संक्षेपेणोक्तम्, तद्विस्तरेण विभज्यते। ताः खल्विमा जातयः, स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते, चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतवः—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः। अविशेषं तत्र तत्रोदाहरिष्यामः। एवं वैधर्म्यसमप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्याः ॥ १ ॥

[इस न्यायशास्त्र के प्रथमाध्यायस्थ प्रथम सूत्र में शस्त्रान्तःपाति विषयों का परिगणन कर, तदनन्तर गत चारों अध्यायों में क्रमशः उन सबके उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा की जा चुकी, अब क्या बाकी रह गया कि जिसके लिए यह पञ्चम अध्याय प्रारम्भ किया जा रहा है ?—इस पर भाष्यकार प्रसंग उठाते हैं—] "साधर्म्य तथा विरुद्ध धर्म से किये जाने वाले खण्डन को 'जाति' (असत् उत्तर) कहते हैं, तथा उसके भेद से जाति के बहुत भेद हैं"—ऐसा हम संक्षेप से पीछे (१.२.१८) कह चुके हैं। अब उसी का विस्तरशः निरूपण किया जा रहा है। ये जातियाँ, जो कि वादी द्वारा स्थापनाहेतु उपस्थित किये जाने पर प्रतिवादी द्वारा उसके खण्डन के लिए काम में लायी जाती हैं, चौवीस प्रकार की होती हैं, जैसे—

१. साधर्म्यसम, २. वैधर्म्यसम, ३. उत्कर्षसम, ४ अपकर्षसम, ५. वर्ण्यसम, ६. अवर्ण्यसम, ७. विकल्पसम, ८. साध्यसम, ९. प्राप्तिसम, १०. अप्राप्तिसम, ११. प्रसङ्गसम, १२. प्रतिदृष्टान्तसम, १३, अनुत्पत्तिसम, १४. संशयसम, १५. प्रकरणसम, १६. हेतुसम, १७. अर्थापत्तिसम, १८. अविशेषसम, १९. उपपत्तिसम, २०. उपलब्धिसम, २१. अनुपलब्धिसम, २२. नित्यसम, २३. अनित्यसम, तथा २४. कार्यसम ॥ १ ॥

साधर्म्य ही से जिसका निषेध किया जा सकता हो, अर्थात् दोनों पक्ष के लिए समान हो, किसी एक पक्ष में प्रवल युक्ति न मिलती हो उसे 'साधर्म्यसम' कहते हैं। यह 'अविशेष' (समानता) आगे के उस उस जाति के उदाहरण में ही बताया जायेगा कि कहाँ क्या समानता है !

इसी तरह 'वैधर्म्यसम' आदि अवशिष्ट शब्दों का भी निर्वचन कर लेना चाहिये ॥१॥

लक्षणं तु—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

साधर्म्येणोपसंहारे—साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः। निदर्शनम्—'क्रियावानात्मा, द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात्; द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान्, तथा चात्मा, तस्मात् क्रियावान्' इति। एवमुपसंहृते, परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते—'निष्क्रिय आत्मा; विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वाद्, विभु चाकाशं निष्क्रियं च, तथा चात्मा, तस्मान्निष्क्रिय.' इति। न चास्ति विशेषहेतुः—क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यम्, न पुनरक्रियसाधर्म्याद् निष्क्रियेणेति। विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति।

अथ वैधर्म्यसमः—'क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टः, न च तथाऽऽत्मा, तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावान्' इति। न चास्ति विशेषहेतुः—क्रिया-

---

'साधर्म्यसम' तथा 'वैधर्म्यसम' का लक्षण हैं—

साधर्म्य तथा वैधर्म्य से वादी द्वारा साध्य का उपसंहार करने पर, प्रतिवादी द्वारा उस साध्यधर्म के व्यतिरेक का (व्याप्त्यनपेक्ष) केवल साधर्म्य वैधर्म्य से उपपादन करना 'साधर्म्यसम' तथा 'वैधर्म्यसम' जाति कहलाती हैं ॥ २ ॥

साधर्म्य द्वारा उपसंहार किये जाने पर, साध्यधर्म के अभाव का उपपादन न कर प्रतिवादी व्याप्त्यनपेक्ष केवल साधर्म्य से स्थापनाहेतु के समान ही प्रतिषेध उपस्थित कर दे उसे 'साधर्म्यसम' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'आत्मा क्रियावान् है, द्रव्य के क्रियाहेतुगुणयुक्त होने से; लोष्टद्रव्य जैसे क्रियाहेतुगुणयुक्त है अतः क्रियावान् है, वैसे ही आत्मा भी द्रव्य है, अतः वह भी क्रियावान् है'—ऐसा वादी द्वारा साध्य का उपसंहार किये जानेपर, प्रतिवादी उदाहरणान्तर के साधर्म्य (व्याप्त्यनपेक्ष) से ही प्रतिषेधात्मक प्रयोग करता है—'आत्मा निष्क्रिय है, विभु द्रव्य के निष्क्रिय होने से जैसे आकाश विभु तथा निष्क्रिय है, वैसे ही आत्मा भी विभु है, अतः वह निष्क्रिय है।' यहाँ वादी के उपसंहार तथा प्रतिवादी के प्रत्यवस्थान में कोई विशेष अर्थात् हेतु व्याप्तिविशिष्ट नहीं है कि जिससे किसी को प्रमाण माना जा सके। अतः यह कैसे निश्चय किया जाये कि क्रियावत्साधर्म्य से क्रियावान् ही सिद्ध हो; अक्रिय साधर्म्य से निष्क्रिय सिद्ध न हो। यों विशेष हेतु न होने से यह 'साधर्म्य' प्रतिषेध है।

इसी में 'वैधर्म्यसम' का उदाहरण सुनिये—'क्रियाहेतुगुणयुक्त लोष्ट परिच्छिन्न देखा जाता है ऐसा आत्मा नहीं देखा जाता, अतः वह लोष्ट की तरह क्रियावान् नहीं हैं'—इस प्रयोग में भी ऐसा कोई विशेष हेतु नहीं दिखाया गया कि जिससे यह सिद्ध हो सके कि क्रियावत्साधर्म्य से क्रियावान् ही सिद्ध हो, तथा क्रियावद्वैधर्म्य से निष्क्रिय न

वत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यम्, न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेणेति । विशेषहेत्वभावाद् वैधर्म्यसमः ।

वैधर्म्येण चोपसंहारे–'निष्क्रिय आत्मा, विभुत्वात्; क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टम्—यथा, लोष्टः, न च तथाऽऽत्मा, तस्मान्निष्क्रियः' इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्–'निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टम्, न तथाऽऽत्मा, तस्मान्न निष्क्रियः' इति । न चास्ति विशेषहेतुः—क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियेण भवितव्यम्, न पुनरक्रियवैधर्म्यात् क्रियावतेति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः ।

अथ साधर्म्यसमः–'क्रियावान् लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तो दृष्टः, तथा चाऽऽत्मा, तस्मात् क्रियावान्' इति । न चास्ति विशेषहेतुः–क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियः, न पुनः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावानिति । विशेषहेत्वभावात् साधर्म्यसमः ॥ २ ॥

अनयोरुत्तरम्—

गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था,

---

हो । विशेष हेतु न होने से यह 'वैधर्म्यसम' प्रतिषेध है । (साधर्म्यसम के प्रतिषेध में आकाश के साथ निष्क्रियत्वरूप साधर्म्य से आत्मा का निष्क्रियत्व सिद्ध किया था, यहाँ इस प्रतिषेध में परिच्छिन्न लोष्ट के साथ अपरिच्छिन्नत्वरूप वैधर्म्य से ही आत्मा का निष्क्रियत्व सिद्ध किया जा रहा है, अतः यह वैधर्म्यसमप्रतिषेध का उदाहरण उचित ही है ।)

वैधर्म्य से उपसंहार में दूसरा उदाहरण देते हैं—हेतु का उदाहरण में वैधर्म्य से यों उपसंहार करने पर कि 'आत्मा निष्क्रिय है, विभु होने से, जब कि क्रियावान् द्रव्य अविभु देखा गया है, जैसे लोष्ट; वैसा आत्मा नहीं है, अतः वह निष्क्रिय है' ! इस प्रयोग का वैधर्म्य से ही प्रतिषेध करते हैं—'निष्क्रिय द्रव्य आकाश क्रियाहेतुगुणरहित देखा गया है, आत्मा वैसा नहीं है, (अर्थात् क्रियाहेतुगुणसहित है) अतः वह निष्क्रिय नहीं है ।' यहाँ कोई विशेष हेतु नहीं दिखाया गया, जिससे हम माने कि क्रियावद्वैधर्म्य से निष्क्रिय ही होना चाहिये, न कि अक्रिय वैधर्म्य से क्रियावान् ! विशेष हेतु न होने से यह 'वैधर्म्यसम' है ।

इसी में साधर्म्यसम का का उदाहरण देते हैं–'क्रियावान् लोष्ट क्रियाहेतुगुणयुक्त देखा गया है, आत्मा भी वैसा ही है, अतः वह भी क्रियावान् है ।' यहाँ कोई विशेष हेतु नहीं दिखाया गया कि हम समझें—क्रियावद्वैधर्म्य से ही निष्क्रिय सिद्ध हो तथा क्रियावत्साधर्म्य से क्रियावान् सिद्ध न हो । विशेष हेतु न होने से यह प्रयोग 'साध्यसम' है ॥ २ ॥

इन साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम के असदुत्तरत्व में हेतु (=खण्डन) बतलाते हैं—

गोत्व से गोसिद्धि की तरह उसकी सिद्धि है ॥ ३ ॥

केवल साधर्म्य या वैधर्म्य से साध्यसिद्धि की प्रतिज्ञा में तो अव्यवस्था हो जायगी ।

सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते, गोसाधर्म्याद् गोत्वाज्जातिविशेषाद् गौः सिद्ध्यति, न तु सास्नादिसम्बन्धात्[१]। अश्वादिवैधर्म्याद् गोत्वादेव च गौः सिद्ध्यति, न गुणादिभेदात्। तच्चैतत् कृतव्याख्यानमवयवप्रकरणे—'प्रमाणानामभिसम्बन्धाच्चैकार्थकारित्वं समानं वाक्ये' इति (१.१.३९)। हेत्वाभासाश्रया खल्वियमव्यवस्थेति ॥ ३ ॥

उत्कर्षसमादिजातिषट्कप्रकरणम् [४-६]

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासजतः उत्कर्षसमः। यदि क्रियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा, लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवान्, लोष्टवत् क्रियावानपि न प्राप्नोति। विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति।

साध्ये धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसजतोऽपकर्षसमः। लोष्टः खलु क्रियावान् विभुर्दृष्टः, काममात्माऽपि क्रियावान् विभुरस्तु, विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति।

ख्यापनीयो वर्ण्यः, विपर्ययादवर्ण्यः। तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो

किन्तु यह अव्यवस्था धर्मविशेष (स्वाभाविक व्याप्तिसम्वन्ध) में नहीं बनेगी। गौ की सिद्धि गोसाधर्म्य द्वारा गोत्वजातिविशेष से होती है, न कि केवल सास्नादि सम्वन्ध से। इसी तरह अश्वादि वैधर्म्य द्वारा गोत्व से ही गौ सिद्ध होती है न कि गुणादिभेद से। इन सव वातों का हम पीछे 'अवयवप्रकरण' (१. १. ३९) में विस्तृत व्याख्यान कर चुके हैं कि 'प्रमाणों के अभिसम्वन्ध से वाक्य में एकार्थकारित्व समान ही है'। इस जात्युद्भावन से की जानेवाली अव्यवस्था का प्रयोग असत् साधनों (हेत्वाभासों) में करना चाहिये, न कि सत्साधनों (हेतुओं) में ॥ ३ ॥

साध्य तथा दृष्टान्त के धर्मविकल्प से दोनों के ही सिद्ध होने से उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम तथा साध्यसम—ये ६ प्रतिषेध बनते हैं ॥४॥

दृष्टान्त में अन्य दृष्ट धर्म का साध्य में वर्तमान धर्म के साथ आपादन 'उत्कर्षसम' प्रतिषेध कहलाता है। जैसे—यदि क्रियाहेतुगुणयोग से लोष्ट की तरह आत्मा क्रियावान् है तो वह लोष्ट की तरह स्पर्शवान् भी होना चाहिये, यदि स्पर्शवान् नहीं है तो लोष्ट की तरह क्रियावान् भी नहीं हो सकता। विपर्यय में विशेष हेतु वतलाना होगा।

दृष्टान्त में दृष्ट धर्माभाव को साध्य में आपादन करना 'अपकर्षसम' कहलाता है; जैसे—'लोष्ट क्रियावान् तथा अविभु देखा गया है, क्यों न आत्मा को भी ऐसा ही मान लें, विपरीत में विशेष हेतु देना होगा।

पक्ष एवं दृष्टान्त में साधर्म्यमात्र से पक्षधर्मत्व का निर्णय करना 'वर्ण्यसम' कहलाता है।

---

१. 'सास्नादीत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, तेन व्यभिचारिणः भृङ्गादयो गृह्यन्ते' इति तात्पर्याचार्याः।

वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः ।

साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्मविकल्पं प्रसजतो विकल्पसमः । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिद् गुरु यथा लोष्टः, किञ्चिल्लघु यथा वायुः । एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चित्क्रियावत् स्यात् यथा लोष्टः, किञ्चिदक्रियं यथा आत्मा । विशेषो वा वाच्य इति ।

हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यः, तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः । 'यदि यथा लोष्टस्तथाऽऽत्मा'; प्राप्तस्तर्हि 'यथाऽऽत्मा तथा लोष्टः' इति । साध्यश्चायमात्मा क्रियावानिति कामं लोष्टोऽपि साध्यः । अथ नैवम्, न तर्हि 'यथा लोष्टः तथाऽऽत्मा' ॥ ४ ॥

एतेषामुत्तरम्—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

अलभ्यः सिद्धस्य निह्नवः, सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्यादुपमानम्—'यथा गौस्तथा गवयः' इति । तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुम् । एवं साधके धर्मे दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते न लभ्यः साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पाद् वैधर्म्यात् प्रतिषेधो वक्तुमिति ॥ ५ ॥

दृष्टान्त के सादृश्यमात्र से पक्ष में साध्याभाव का आपादन 'अवर्ण्यसम' कहलाता है ।

साधनधर्मयुक्त दृष्टान्त में धर्मान्तरविकल्प से साध्यधर्मविकल्प का आपादन करना 'विकल्पसम' कहलाता है । जैसे—'क्रियाहेतुगुणयुक्त कोई गुरु होता है, जैसे लोष्ट, कोई लघु होता है जैसे वायु; इसी तरह क्रियाहेतुगुण-युक्त कोई क्रियावान् होगा, जैसे—लोष्ट, कोई अक्रिय भी होगा जैसे—आत्मा' । अन्यथा विशेष में कोई हेतु बतावें ।

हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्म साध्य होता है, उसका दृष्टान्त में आपादन करना 'साध्यसम' कहलाता है । जैसे—'यदि जैसा लोष्ट है वैसा ही आत्मा है तो जैसा आत्मा है वैसा ही लोष्ट भी होना चाहिये, अभी तो आत्मा साध्य है, तो लोष्ट भी वैसा ही होना चाहिये, यदि ऐसा नहीं है तो जैसा लोष्ट है वैसा आत्मा नहीं है' ॥ ४ ॥

इन छहों जातिप्रतिषेधों का उत्तर है—

किञ्चित्साधर्म्य से उपसंहारसिद्धि द्वारा वैधर्म्य से प्रतिषेध नहीं होता ॥ ५ ॥

सिद्ध को छिपाया नहीं जा सकता, उसे जैसा है वैसा स्वीकार करना पड़ेगा । वे ही सिद्ध कुछ सादृश्य लेकर ही उपमान बनते हैं, जैसे—'जैसी गौ वैसा गवय होता है'—यहाँ गौ तथा गवय के पूर्णसादृश्य (सास्नादिमत्त्वेन) के लिये आप आग्रह नहीं कर सकते । कुछ न कुछ असमानता तो होगी ही । इस प्रकार साधक धर्म में दृष्टान्त के सभी धर्म न मिलें तो साध्य तथा दृष्टान्त के धर्मविकल्प से प्रश्न तथा प्रतिषेध—दोनों ही अनुचित हैं ॥ ५ ॥

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं तेनाविपरीतोऽर्थोऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थम्। एवं साध्यातिदेशाद् दृष्टान्ते उपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति ॥ ६ ॥

प्राप्त्यप्राप्तिसमजातिद्वयप्रकरणम् [७-८]

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

हेतुः प्राप्य वा साधयेत्, अप्राप्य वा ? न तावत् प्राप्य; प्राप्त्यामविशिष्टत्वादसाधकः। द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा ! अप्राप्य साधकं न भवति, नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति। प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः, अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः ॥ ७ ॥

अनयोरुत्तरम्—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

साध्य के अतिदेश (सादृश्य) से दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है ॥ ६ ॥

जहाँ साधारण तथा परीक्षक जनों का बुद्धिसाम्य हो उससे अनुकूल अर्थ अतिदिष्ट होता है। क्योंकि लोगों को समझना है। परन्तु साध्यसादृश्य से दृष्टान्त के उपपन्न किये जाने पर 'साध्यत्व' ही उसका क्या रहेगा ! ॥ ६ ॥

[अब 'प्राप्तिसम' तथा 'अप्राप्तिसम' का लक्षण करते हैं—]

प्राप्ति में विशेषता न होने से, हेतु से साध्य को प्राप्त कर या न प्राप्त कर प्राप्ति या अप्राप्ति द्वारा असाधक होने से 'प्राप्तिसम' तथा 'अप्राप्तिसम' दोष कहलाते हैं ॥ ७ ॥

हेतु साध्य से मिलकर (संयुक्त होकर) उसको सिद्ध करता है ? अथवा विना मिले ? यदि मिल कर सिद्ध करता है तो दोनों में किसी एक की विशेषता न होने से कौन सिद्ध करता है, तथा कौन सिद्ध होता है—इसकी कुछ व्यवस्था न रहेगी ! अर्थात् प्राप्ति से उनमें साध्यसाधकभाव नहीं रह सकता। यदि विना संयुक्त हुए सिद्ध करता है—यह मानोगे, तो भी साध्यसिद्धि न हो सकेगी। दीपक उसी वस्तु को प्रकाशित करता है, जिससे वह संयुक्त हो। जिस वस्तु का उसके प्रकाश से संयोग न हो उसे सिद्ध नहीं कर पाता। यों प्राप्ति से प्रतिषेध को 'प्राप्तिसम' तथा अप्राप्ति से प्रतिषेध को 'अप्राप्तिसम' कहते हैं ॥ ७ ॥

इन दोनों का समाधान यह है—

घटादि की निष्पत्ति तथा पीड़न में अभिचार देखे जाने से उक्त प्रतिषेध युक्त नहीं ॥ ८ ॥

उभयथा खल्वयुक्तः प्रतिषेधः । कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादि-कार्यं निष्पादयन्ति, अभिचाराच्च पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ॥ ८ ॥

प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम् [९-११]

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥ ९ ॥

साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः । 'क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्टः' इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति ।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः । 'क्रियावानात्मा; क्रियाहेतुगुण-योगाद्, लोष्टवत्' इत्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते—'क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं निष्क्रियं दृष्टम्' इति । कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुगुणः ? वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः, वायुवनस्पतिसंयोगवदिति ॥ ९ ॥

उक्त दोनों ही प्रकार का प्रतिषेध युक्त नहीं; क्योंकि घटादि का निष्पादन कर्ता (कुम्भकार) करण (दण्ड-चक्र आदि) तथा अधिकरण (भूतलादि) इन सबके साथ मृत्पिण्ड मिलने पर ही होता है । तो क्या साधकत्व उनका अनुपपन्न है ? और उधर शत्रु के पीड़न के लिये जो अभिचार (मारण) क्रियाएँ की जाती हैं उनमें क्रियाकारक के साथ शत्रु का सम्मेलन आवश्यक नहीं, फिर भी उन क्रियाओं से शत्रुपीडन देखा जाता है । यों प्राप्ति या अप्राप्ति से साध्यसाधनभाव का प्रतिषेध नहीं हो पाता ॥ ८ ॥

[अब 'प्रसङ्गसम' तथा 'प्रतिदृष्टान्तसम' का लक्षण करते हैं—]

दृष्टान्त के कारणानभिधान से तथा प्रतिदृष्टान्त के प्रतिषेध से क्रमशः 'प्रसङ्गसम' तथा 'प्रतिदृष्टान्तसम' प्रतिषेध कहलाते हैं ॥ ९ ॥

यद्यपि दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं हुआ करता, परन्तु वाद में जब दृष्टान्त का दृष्टान्त पूछा जाये तो उनके भी हेतु तथा दृष्टान्त का प्रसंग आ पड़ेगा, इसे 'प्रसंगसम' प्रतिषेध कहते हैं । जैसे 'क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् होता है, जैसे लोष्ट', यहाँ हेतु नहीं कहा गया, हेतु के बिना सिद्धि होती नहीं । अतः इस दृष्टान्त में प्रतिवादी पूछता है कि 'यह क्रियावान् क्यों है' । यही 'प्रसङ्गसम' है ।

विरोधी प्रतिदृष्टान्त से प्रतिषेध 'प्रतिदृष्टान्तसम' कहलाता है । उसमें भी साधन करना जैसे—'आत्मा क्रियावान् है, क्रियाहेतुगुणयोग से, लोष्ट की तरह'—ऐसा कहने पर प्रतिवादी प्रतिदृष्टान्त दे सकता है—'क्रियाहेतुगुणयुक्त आकाश निष्क्रिय देखा गया है, अतः आत्मा निष्क्रिय है', यों प्रतिदृष्टान्त से वह वादी की बात का खण्डन करता है । फिर वादी पूछता है—'आकाश में क्रियाहेतुगुण क्या है' ? प्रतिवादी उत्तर देता है–'उसका वायु के साथ संस्कारापेक्ष संयोग, वायु-वनस्पतिसंयोग की तरह' ॥ ९ ॥

अनयोरुत्तरम्—

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

इदं तावदयं पृष्टो वक्तुमर्हति–अथ के प्रदीपमुपाददते ? किमर्थं वेति ? दिदृक्षमाणा दृश्यदर्शनार्थमिति। अथ प्रदीपं दिदृक्षमाणाः प्रदीपान्तरं कस्मान्नोपाददते ? अन्तरेणापि प्रदीपान्तरं दृश्यते प्रदीपः, तत्र प्रदीपदर्शनार्थं प्रदीपोपादानं निरर्थकम्। अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यत इति ? अप्रज्ञातस्य ज्ञापनार्थमिति। अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं मृग्यते ? यदि प्रज्ञापनार्थम्, प्रज्ञातो दृष्टान्तः। स खलु 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' इति। तत्प्रज्ञापनार्थः कारणापदेशो निरर्थक इति प्रसङ्गसमस्योत्तरम् ॥ १० ॥

अथ प्रतिदृष्टान्तसमस्योत्तरम्—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवता न विशेषहेतुरपदिश्यते–'अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधकः, न दृष्टान्तः' इति। एवम् 'प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे नाहेतुर्दृष्टान्तः' इत्युपपद्यते। स च कथं हेतुर्न स्याद् ? यद्यप्रतिषिद्धः साधकः स्यादिति ॥ ११ ॥

इन दोनों में से 'प्रसङ्गसम' का समाधान यह है—

दीपक के ग्रहण में प्रसङ्गनिवृत्ति की तरह इस प्रसङ्गसम की निवृत्ति है ॥ १० ॥

वादी, प्रतिवादी द्वारा उक्त प्रतिषेध करने पर, उससे यह पूछे–'प्रदीप को कौन तथा क्यों चाहते हैं'? वह कहेगा—'देखना चाहने वाले, दृश्य विषय को देखने के लिये'। तब उससे पूछिये—'वे देखना चाहनेवाले उस प्रदीप को देखने के लिये दूसरा प्रदीप क्यों नहीं चाहते ?' वह कहेगा 'दूसरे प्रदीप के विना भी यह प्रदीप दीखता है अतः वहाँ प्रदीप को देखने के लिये दूसरे प्रदीप का ग्रहण निरर्थक है। तब फिर उससे पूछें कि 'दृष्टान्त किस लिये दिया जाता है' ? वह कहेगा 'अप्रज्ञात के ज्ञापन के लिये'। 'फिर दृष्टान्त में कारणाभिधान क्यों चाहते हो ? यदि प्रज्ञापन के लिये, तो दृष्टान्त तो जाना हुआ है। दृष्टान्त इसे ही न कहते हो कि जहाँ लौकिक तथा परीक्षक–दोनों का बुद्धिसाम्य हो जाये (१.१.२५)। अब उस दृष्टान्त को बतलाने के लिये कारणाभिधान निरर्थक ही है'। यह उक्त 'प्रसङ्गसम' का समाधान है ॥ १० ॥

अब 'प्रतिदृष्टान्तसम' का समाधान सुनिये—

प्रतिदृष्टान्त के समाधानसामर्थ्य में दृष्टान्त असाधन नहीं है ॥ ११ ॥

प्रतिदृष्टान्त उपस्थित करने वाले प्रतिवादी द्वारा किसी विशेष हेतु का अभिधान नहीं किया जाता कि इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त साध्य का साधक है, अपितु दृष्टान्त नहीं। यों, प्रतिदृष्टान्त का साधकत्व मानने वाले को दृष्टान्त का भी साधकत्व मानना ही पड़ेगा। वह प्रतिदृष्टान्त दृष्टान्तहेतु क्यों नहीं होगा ? जब कि दृष्टान्त किसी बलवत्तर प्रमाण से बाधित न हो। अतः प्रतिदृष्टान्त के रहते हुए भी दृष्टान्त का साधकत्व अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा ॥ ११ ॥

अनुत्पत्तिसमप्रकरणम् [१२-१३]

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते, अपर आह— प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणं नास्ति, तदभावाद् नित्यत्वं प्राप्तम्, नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति। अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥

अस्योत्तरम्—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

तथाभावादुत्पन्नस्येति—उत्पन्नः खल्वयम् 'शब्दः' इति भवति, प्रागुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति। उत्पन्नस्य शब्दभावाच्छब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणमुपपद्यते, कारणोपपत्तेरयुक्तोऽयं दोषः—'प्रागुत्पत्तेः कारणाभावात्' इति ॥ १३ ॥

संशयसमप्रकरणम् [१४-१५]

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥

'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते, हेतौ संशयेन

अब 'अनुत्पत्तिसम' का लक्षण करते हैं—

उत्पत्ति से पूर्व कारण के अभाव से 'अनुत्पत्तिसम' प्रतिषेध होता है ॥ १२ ॥

जैसे—'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् होने से, घट की तरह'—यह कहने पर प्रतिवादी कहता है—'उत्पत्ति से पूर्व उसमें शब्द अनुत्पन्न है, प्रयत्न के पश्चात् होना अनित्यता का कारण नहीं है, उक्त कारण के अभाव से शब्द में नित्यत्व आ जायेगा, नित्य की उत्पत्ति हुआ नहीं करती'। यों अनुत्पत्ति से प्रतिषेध 'अनुत्पत्तिसम' कहलाता है ॥ १२ ॥

इसका समाधान है—

उत्पन्न के पश्चात् 'शब्द' कहलाने से तथा तभी कारणोपपत्ति से यह कारणाभाव प्रतिषेध नहीं बनेगा ॥ १३ ॥

उत्पन्न होने पर ही यह 'शब्द' कहलाता है; क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व वह 'शब्द' था ही नहीं ! उत्पन्न होने से शब्द का प्रयत्न के पश्चात् होना अनित्यत्वकारण बनता है। इस कारणोपपादन से आपका उत्पत्ति से पूर्व कारणाभाव वाला प्रतिषेध अयुक्त है ॥ १३ ॥

'संशयसम' का लक्षण—

सामान्य और दृष्टान्त में ऐन्द्रियकत्व समान होने से नित्यानित्य सादृश्य से 'संशयसम' प्रतिषेध होता है ॥ १४ ॥

'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण, घट की तरह' ऐसा प्रयोग

प्रत्यवतिष्ठते—सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वम्, अस्ति च घटेनानित्येन। अतो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय इति ॥ १४ ॥

अस्योत्तरम्—

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

विशेषाद् वैधर्म्यादवधार्यमाणेऽर्थे 'पुरुषः' इति, न स्थाणपुरुषसाधर्म्यात् संशयोऽवकाशं लभते। एवं वैधर्म्याद्विशेषात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयोऽवकाशं न लभते। यदि वै लभेत, ततः स्थाणुपुरुषसाधर्म्यानुच्छेदादत्यन्तं संशयः स्यात्। गृह्यमाणे च विशेषे नित्यं साधर्म्यं संशयहेतुरिति नाभ्युपगम्यते। न हि गृह्यमाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुसाधर्म्यं संशयहेतुर्भवति ॥ १५ ॥

देने पर उसमें संशय करके उसका प्रतिषेध किया जा सकता है कि इसके प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने पर भी, जैसे गोत्वादि जाति इन्द्रियगोचर होने पर भी नित्य है, तथा घटादि इन्द्रियगोचर होने पर भी अनित्य है, अतः नित्य सामान्य तथा अनित्य घट में ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य हैं। यों नित्यानित्यसाधर्म्य से इसमें संशय वना ही रह गया ? ॥ १४ ॥

इसका समाधान यह है—

साधर्म्य से संशय होने पर उसे वैधर्म्य से मिटाया जा सकता हैं, दोनों ही तरह से संशय मानने पर कभी संशय मिटेगा ही नहीं; अपि च, नित्यत्व के अनभ्युपगम के पश्चात् साधर्म्य से उक्त प्रतिषेध युक्त नहीं ॥ १५ ॥

विभेदक वैधर्म्य (असमानता) से निश्चित किये अर्थ में पुनः 'पुरुष' इस ज्ञान में स्थाणु-पुरुष के सादृश्यमात्र से संशय का अवसर नहीं होता। इसी तरह वैधर्म्य से जैसे प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण शब्द में अनित्यत्व निश्चित हो जाने पर नित्यानित्य-सादृश्यमात्र से संशय को अवसर नहीं मिल पाता। यदि तब भी संशय होता रहेगा तो स्थाणुपुरुष का साधारण सादृश्य कभी नष्ट होगा ही नहीं, यों संशय भी सदा बना रहेगा—यह एक अनिष्ट अनवस्था पैदा हो जायेगी। भेद के गृहीत हो जाने पर भी नित्यसादृश्य संशयहेतु बना रहे—यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि लोक में यह नहीं देखा जाता कि पुरुष का विशेष (भेदक) से विशेष धर्म का ज्ञान हो जाने पर भी स्थाणु-पुरुषसाधर्म्य संशयहेतु रूप में उपस्थित रहे ॥ १५ ॥

अब 'प्रकरणसम' का लक्षण करते हैं—

प्रकरणसमप्रकरणम् [१६-१७]

उभयसाधर्म्यात्[1] प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

'उभयेन नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात् पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः = प्रक्रिया। 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्येकः पक्षं प्रवर्त्तयति, द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्। एवं च सति 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानो न प्रकरणमतिवर्त्तते। प्रकरणानतिवृत्तेर्निर्णयानतिवर्तनम्। समानं चैतन्नित्यसाधर्म्येणोच्यमाने हेतौ। तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः। समानं चैतद्वैधर्म्येऽपि, उभयवैधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति ॥१६॥

अस्योत्तरम्—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धि ब्रुवता प्रतिपक्षात् प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति, यद्युभयसाधर्म्यम्, तत्र एकतरः प्रतिपक्ष इत्येवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति। प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधः। यदि प्रतिपक्षोपपत्तिः, प्रतिषेधो नोपपद्यते। अथ प्रतिषेधोपपत्तिः, प्रतिपक्षो नोपपद्यते; यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः, प्रतिषे-

---

दोनों के साधर्म्य से प्रक्रियासिद्धि होने पर 'प्रकरणसम' प्रतिषेध होता है ॥१६॥

उभय—नित्य तथा अनित्य के साथ सादृश्य होने से पक्ष तथा प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति 'प्रक्रिया' कहलाती है। जैसे—'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से, घट की तरह' यह एक पक्ष कहता है। तथा दूसरा (प्रतिपक्षी) पूर्वोक्त नित्यसाधर्म्य से उसे 'नित्य' कहता है। इस प्रकार 'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से' यह हेतु अनित्यसाधर्म्य से कहा जाता हुआ प्रकरण प्रक्रिया को अतिक्रान्त नहीं करता। अतिक्रम न होने से निर्णय अतिक्रमण नहीं कर सकता; क्योंकि यह बात नित्यसाधर्म्य से कहे गये हेतु में भी तुल्य ही पड़ेगी। यों, प्रकरणानतिक्रम से प्रतिषेध करना 'प्रकरणसम' कहलाता है।

यह सब प्रक्रिया वैधर्म्य में भी समझ लेनी चाहिये। नित्य तथा अनित्य के वैधर्म्य से प्रक्रियासिद्धि होने पर भी 'प्रकरणसम' प्रतिषेध होता है ॥ १६ ॥

इसका उत्तर है—

प्रतिपक्ष से प्रकरणसिद्धि होने पर प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से प्रतिषेध का उपपादन नहीं होता ॥ १७ ॥

उभयसादृश्य से प्रक्रियासिद्धि कहने वाले के द्वारा प्रतिपक्ष (स्थापनावादी) से ही प्रक्रियासिद्धि कही जाती है। जब उभयसादृश्य है तो उनमें से किसी में बाध अवश्य होगा, तब एक प्रतिपक्ष होगा (एक की पराजय होगी) ही, वही वास्तविक प्रतिपक्ष है। जब प्रतिपक्ष बन गया तो 'प्रकरणसम' दोष कहाँ रहा! यदि 'प्रकरणसम' है तो

---

१. 'साधर्म्यादित्युपलक्षणम्, उभयवैधर्म्यादित्यपि द्रष्टव्यम्' इति तात्पर्यकृतः।

धोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति। तत्त्वानवधारणाच्च प्रक्रियासिद्धिः; विपर्यये प्रकरणावसानात्। तत्त्वावधारणे ह्यवसितं प्रकरणं भवतीति ॥ १७ ॥

अहेतुसमप्रकरणम् [१८-२०]

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

हेतुः = साधनम्, तत् साध्यात् पूर्वं पश्चात् सह वा भवेत्? यदि पूर्वं साधनम्, असति साध्ये कस्य साधनम्? अथ पश्चाद्, असति साधने कस्येदं साध्यम्? अथ युगपत् साध्यसाधने, द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेतुरहेतुना न विशिष्यते! अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानम् – अहेतुसमः ॥ १८ ॥

अस्योत्तरम्—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

न त्रैकाल्यासिद्धिः; कस्मात्? हेतुतः साध्यसिद्धेः। निर्वर्तनीयस्य निर्वृत्तिः, विज्ञेयस्य विज्ञानम्–उभयं कारणतो दृश्यते, सोऽयं महान् प्रत्यक्षविषय उदाहरणमिति। यत्तु खलूक्तम्–असति साध्ये कस्य साधनमिति? यत्तु निर्वर्त्यते यच्च विज्ञाप्यते तस्येति ॥ १९ ॥

प्रतिपक्ष कहाँ बना! बाध होने के कारण प्रतिपक्ष भी बने और प्रकरणसमप्रयुक्त प्रतिषेध भी रह जाये—ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। प्रमाता जब तक अनुसन्धान से तत्त्व का अवधारण नहीं कर सकता, तभी तक प्रक्रिया रहती है। इस प्रकरणसम में प्रतिषेध नहीं बनता। तत्त्व का निश्चय हो जाने पर प्रक्रिया (प्रकरण) कैसी! ॥ १७ ॥

'अहेतुसम' का लक्षण करते हैं—

हेतु साध्य के तीनों कालों में सिद्ध न होने के कारण 'अहेतुसम' दोष कहलाता है ॥ १८ ॥

हेतु अर्थात् साधन। वह साध्य से पहले, बाद में, या साथ में—कहाँ रहे? यदि पहले साधन (ज्ञापक) तथा साध्य (ज्ञाप्य) बाद में. तो साध्य के बिना साधन किसका! यदि बाद में है तो साधन के न रहते यह साध्य किसका! यदि साध्य साधन एक साथ हैं तो दोनों के विद्यमान रहते कौन किसका साधन तथा कौन किसका साध्य है—इसका निर्णय कौन करेगा; क्योंकि हेतु अहेतु से विभेद्य नहीं होता। यों, अहेतु के साथ साधर्म्य से प्रतिषेध 'अहेतुसम' है ॥ १८ ॥

इसका समाधान है—

हेतु से साध्यसिद्धि हो जाने से त्रैकाल्यसिद्धि नहीं है ॥ १९ ॥

त्रैकाल्यासिद्धि नहीं है; क्योंकि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है। कार्य का कारण तथा ज्ञाप्य का ज्ञापन दोनों ही अपने-अपने कारणों से देखे जाते हैं—यह लोकप्रत्यक्षसिद्ध बात है। यह जो कहा कि—'साध्य के न होने पर साधन किसका?' तो हम कहते हैं जो उत्पन्न किया जाता है तथा जो विज्ञापित किया जाता है उसका! ॥ १९ ॥

प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

पूर्वं पश्चाद्युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते। प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ॥ २० ॥

अर्थापत्तिसमप्रकरणम् [२१-२२]

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः। यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्य-साधर्म्यात् 'अनित्यः शब्दः' इत्यर्थादापद्यते—नित्यसाधर्म्यात् 'नित्यः' इति, अस्ति त्वस्य नित्येन साधर्म्यम्—अस्पर्शत्वमिति ॥ २१ ॥

अस्योत्तरम्—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥

अनुपपाद्य सामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यते इति ब्रुवतः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात्, अनित्यपक्षसिद्धावर्थापन्नं नित्यपक्षस्य हानिरिति। अनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः।

और प्रतिषेध की अनुपपत्ति से प्रतिषेद्धव्य का प्रतिषेध नहीं बनता ॥ २० ॥

जैसे आपके कथनानुसार साध्य तथा साधन का साध्यत्व और साधनत्व पूर्व-पश्चात्-सहभाव में नहीं बनता तो 'पहले, बाद में या साथ में प्रतिषेध' वाली बात उपपन्न कैसे करोगे ? प्रतिषेध उपपन्न न होने से स्थापनाहेतु सिद्ध हो गया ॥ २० ॥

'अर्थापत्तिसम' का लक्षण करते हैं—

अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि 'अर्थापत्तिसम' प्रतिषेध कहलाता है ॥ २१ ॥

'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से, घट की तरह'—यों पक्ष स्थापित करने पर अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष स्थापित करने वाले का 'अर्थापत्तिसम' प्रतिषेध कहलाता है। यदि प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने में अनित्यसादृश्य से शब्द अनित्य है तो यह भी अर्थादापन्न होता है कि नित्यसादृश्य से वह नित्य भी हो सकता है; क्योंकि इसका नित्य के साथ भी अस्पर्शत्वरूप सादृश्य तो है ही ॥ २१ ॥

इसका समाधान यह है—

अनुक्त को अर्थादापन्न कहा जाने से तथा अनैकान्तिक होने से अर्थापत्ति से पक्षहानि ही बनती है ॥ २२ ॥

अर्थापत्ति द्वारा सामर्थ्य का उपपादन करते हुए अनुक्त का भी अर्थादापादन मानने वाले को अपने पक्ष की हानि ही उठानी पड़ेगी; क्योंकि उसके पक्ष में भी अनुक्त का आपादन किया जा सकता है। अतः 'उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है' इसका अर्थापत्ति से 'अस्पृष्ट होने से वह नित्य है'—ऐसे पक्ष की हानि अर्थादेव सिद्ध हो जाती है।

उभयपक्षसमा चेयमर्थापत्तिः—यदि नित्यसाधर्म्यादस्पर्शत्वादाकाशवच्च नित्यः शब्दः, अर्थादापन्नम्—'नित्यसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीकत्वादनित्यः' इति। न चेयं विपर्ययमात्रादेकान्तेनार्थापत्तिः, न खलु वै 'घनस्य ग्राव्णः पतनम्' इति अर्थादापद्यते—'द्रवाणामपां पतनाभावः' इति ॥ २२ ॥

अविशेषसमप्रकरणम् [२३-२४]

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥

एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते। कथम् ? सद्भावोपपत्तेः। एको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते, सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानम्—अविशेषसमः ॥ २३ ॥

अस्योत्तरम्—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४ ॥

यथा साध्यदृष्टान्तयोरेकधर्मस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वं

अर्थापत्ति के अनैकान्तिक होने से भी उसे स्वपक्षहानि उठानी पड़ सकती है। ऐसी अर्थापत्ति दोनों पक्षों में समान रूप से उठायी जा सकती है। यदि नित्यसाधर्म्य तथा अस्पर्शत्व से आकाशवत् शब्द का नित्यत्व अर्थादापन्न किया जा सकता है तो प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से वहाँ अनित्यत्व भी अर्थादापन्न किया जा सकता है। यह अर्थापत्ति विपर्ययमात्र का सहारा लेकर सर्वत्र नहीं उठायी जा सकती। उदाहरण के लिये—ठोस शिला का पतन देख कर अर्थापत्ति से हम यह विपरीत कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि द्रवद्रव्य (जल) का पतन नहीं होता ! ॥ २२ ॥

अब 'अविशेषसम' का लक्षण करते हैं—

सामान्य में एक धर्म की उपपत्ति से अविशेषतया सम्पूर्ण में प्रसङ्ग से सद्भाव की उपपत्ति होना 'अविशेषसम' प्रतिषेध कहलाता है ॥ २३ ॥

'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना'—यह एक धर्म शब्द तथा घट में सामान्य है, इस अनुगत सामान्य धर्म से दोनों के अनित्यत्व होने पर सबका सामान्य धर्म अनित्यत्व उपपन्न होता है; क्योंकि वह सामान्य सर्वत्र 'सत्' जातिसदृश है। अतः एक धर्म 'सत्' होता हुआ इस सद्भावोपपत्ति में सबका सद्भाव उपपन्न करने लगेगा। यों सर्वसामान्य प्रसङ्ग में प्रतिषेध करना 'अविशेषसम' कहलाता है ॥ २३ ॥

इसका समाधान है—

उस एक धर्म की कहीं उपपत्ति, कहीं अनुपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं बनता ॥२४॥

जैसे साध्य तथा दृष्टान्त में 'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना' इस धर्म की उपपत्ति

धर्मान्तरमविशेषेण, नैवं सर्वभावानां सद्भावोपपत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति येनाविशेषः स्यात् ।

अथ मतम् 'अनित्यत्वमेव धर्मान्तरं सद्भावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्वत्र स्यात्'–इति ? एवं खलु वै कल्प्यमाने अनित्याः सर्वे भावाः सद्भावोपपत्तेरिति पक्षः प्राप्नोति, तत्र प्रतिज्ञार्थव्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं नास्ति, अनुदाहरणश्च हेतुर्नास्तीति । प्रतिज्ञैकदेशस्य चोदाहरणत्वमनुपपन्नम्—न हि साध्यमुदाहरणं भवति । सतश्च नित्यानित्यभावादनित्यत्वानुपपत्तिः । तस्मात् 'सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गः' इति निरभिधेयमेतद्वाक्यमिति । सर्वभावानां सद्भावोपपत्तेर-नित्यत्वमिति ब्रुवताऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम्, तत्रानुपपन्नः प्रतिषेध इति ॥२४॥

उपपत्तिसमप्रकरणम् [२५-२६]

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्दः, नित्यत्वकारण-मप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते । उभयस्यानित्यत्वस्य नित्य-त्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानम् उपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

अस्योत्तरम्—

से अनित्यत्व धर्मान्तर अविशेषतया माना गया है, इस प्रकार सभी भावों का सद्भावो-पपत्तिमात्र से धर्मान्तर कल्पित नहीं होता, जो कि 'अविशेष' हो सके । यदि यह मान लें कि सभं भावों का सद्भावोपपत्तिनिमित्तक धर्मान्तर अनित्यत्व ही है ? इस मत के मानने पर 'सभी भाव सद्भावोपपत्ति से अनित्य हैं' यह पक्ष बनेगा, यहाँ प्रतिज्ञावाक्यार्थ के अतिरिक्त और कोई उदाहरण नहीं है, उदाहरण के विना हेतु नहीं बनता । दूसरे, प्रतिज्ञा का एकदेशवाक्य उदाहरण के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता; क्योंकि साध्य उदाहरण नहीं हुआ करता । यहाँ साध्य सत् कहीं नित्य है, कहीं अनित्य, अतः वह एकान्ततः अनित्य नहीं वन सकता । अतः 'सद्भाव से सभी अनित्य होने लगेंगे'—यह मत अर्थशून्य ही है । सभी भावों में सद्भावोपपत्ति द्वारा अनित्यत्व मानने से शब्द का अनित्यत्व भी सिद्ध होता है, अतः उसके लिये उक्त प्रतिषेध करना कठिन होगा ॥ २४ ॥

अब 'उपपत्तिसम' का लक्षण करते हैं—

दोनों कारणों की उपपत्ति से 'उपपत्तिसम' दोष कहलाता है ॥ २५ ॥

यदि शब्द का अनित्यत्व कारण उपपन्न होने से वह अनित्य है तो उसका अस्पर्श होने से नित्यत्व कारण भी उपपन्न हो सकता है, यों दोनों कारणों—नित्यत्व, अनित्यत्व—की उपपत्ति से एकतर पक्ष सिद्ध नहीं होता, यह प्रतिषेध 'उपपत्तिसम' कह-लाता है ॥ २५ ॥

इसका समाधान—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

'उभयकारणोपपत्तेः' इति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते, यदि प्रतिषिध्यते, नोभयकारणोपपत्तिः स्यात्। उभयकारणोपपत्तिवचनादनित्यकारणोपपत्तिरभ्यनुज्ञायते, अभ्यनुज्ञानादनुपपन्नः प्रतिषेधः।

व्याघातात् प्रतिषेध इति चेत्? समानो व्याघातः। एकस्य नित्यत्वानित्यत्वप्रसङ्गं व्याहतं ब्रुवतोक्तः प्रतिषेध इति चेत्? स्वपक्षपरपक्षयोः समानो व्याघातः। स च नैकतरस्य साधक इति ॥ २६॥

उपलब्धिसमप्रकरणम् [२७-२८]

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

निर्दिष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद् वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते। निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानम्—अनुपलब्धिसमः ॥ २७॥

अस्योत्तरम्—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्'—इति ब्रुवता कारणत उत्पत्तिरभिधीयते, न कार्यस्य

उपपत्तिकारण की स्वीकृति से उक्त प्रतिषेध नहीं बनता ॥ २६ ॥

'दोनों कारणों की उपपत्ति से' ऐसा कहनेवाले का अनित्यत्वकारणोपपत्ति की मान्यता से अनित्यत्व प्रतिषिद्ध नहीं होता। यदि प्रतिषिद्ध होता है तो 'उभयकारणोपपत्ति' नहीं बनेगी; क्योंकि उभयकारणोपपत्ति से आप अनित्यत्वकारणोपपत्ति स्वीकार करते ही हैं, इस स्वीकृति से प्रतिषेध नहीं बनता। एक ही में नित्यत्व तथा अनित्यत्व बताकर वचनविरोध द्वारा उक्त प्रतिषेध किया जा रहा है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि उक्त वचनविरोध स्वपक्ष-परपक्ष में समान ही है, वह किसी एक पक्ष का साधक नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

अब 'उपलब्धिसम' का लक्षण करते हैं—

निर्दिष्ट कारण का अभाव होने पर भी उपलब्धि से 'उपलब्धिसम' प्रतिषेध कहलाता है ॥ २७ ॥

शब्द में प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप निर्दिष्ट अनित्यत्वकारण का अभाव होने पर भी वायुप्रेरित वृक्ष की शाखा के टूटने से जो शब्द होता है उसकी तरह उसका अनित्यत्व उपलब्ध होता है, अतः निर्दिष्ट साधन के अभाव में भी साध्यधर्मोपलब्धि से प्रतिषेध 'उपलब्धिसम' कहलाता है ॥ २७ ॥

इसका उत्तर है—

कारणान्तर द्वारा उस धर्म की उपपत्ति होने से (उसी की सिद्धि होती है, अतः उक्त) प्रतिषेध नहीं बनता ॥ २८ ॥

शब्दानित्यत्वप्रसंग में 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु से जो सिद्ध किया है उसमें कारण

कारणनियमः। यदि च कारणान्तरादप्युपपद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते, किमत्र प्रतिषिध्यत इति !॥ २८॥

अनुपलब्धिसमप्रकरणम् [२९-३१]

न प्रागुच्चारणाद् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः, कस्मात् ? आवरणाद्यनुपलब्धेः। यथा विद्यमानस्योदकादेरर्थस्याऽऽवरणादेरनुपलब्धिः, नैवं शब्दस्याग्रहणकारणेनाऽऽवरणादिनाऽनुपलब्धिः, गृह्येत चैतदस्याग्रहणकारणमुदकादिवत्, न गृह्यते, तस्मादुदकादिविपरीतः शब्दोऽनुपलभ्यमान इति।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः॥ २९॥

तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते, अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिद्ध्यति। अभावसिद्धौ हेत्वभावात् तद्विपरीतमस्तित्वमावरणादीनामवधार्यते, तद्विपरीतोपपत्तेर्यत्प्रतिज्ञातम्—'न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः' इति, एतन्न सिद्ध्यति। सोऽयं हेतुरावणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणादिषु चाऽऽवरणाद्यनुपलब्धौ च समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति॥ २९॥

अस्योत्तरम्—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः॥ ३०॥

से कार्य की उत्पत्ति कही गयी है, न कि कार्यकारणविशेषनियम बतलाया गया है। यदि वहाँ किसी अन्य हेतु से उत्पन्न उस शब्द में अनित्यत्व सिद्ध हो जाये तो किसका प्रतिषेध किया जाता है !॥ २८॥

अब 'अनुपलब्धिसम' का लक्षण कर रहे हैं—

उच्चारण से पूर्व भी शब्द विद्यमान ही है तो उसकी अनुपलब्धि नहीं होगी; क्योंकि उसके आवरण की उपलब्धि नहीं होती। जैसे विद्यमान उदक की आवरण से अनुपलब्धि होती है, ऐसे शब्द का अग्रहणकारण आवरणप्रयुक्त उपलब्ध्यभाव नहीं है। यदि होता तो उसका भी उदकादि के आवरण की तरह अग्रहणकारण आवरण गृहीत होता, गृहीत होता नहीं, अतः मानना पड़ेगा कि उदकादि की अनुपलब्धि से विपरीत (असत् होने से) शब्द को अनुपलब्धि है।

आवरण की अनुपलब्धि के अनुपलम्भ से उसके अभाव की सिद्धि होने पर तद्विपरीतोपपादन से 'अनुपलब्धिसम' होता है॥ २९॥

उन आवरणादिकों की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती, उपलब्ध न होने से इस अनुपलब्धि का अभाव सिद्ध होता है। अभाव सिद्ध होने पर हेत्वभाव से तद्विपरीत आवरणादि का अस्तित्व निश्चित होता है। यों इस तद्विपरीतोपपादन से आपका पूर्व प्रतिज्ञात 'उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं होगी'—यह मत सिद्ध नहीं होता। यों यह 'अनुपलब्धि' हेतु आवरणादि तथा आवरणाद्यनुपलब्धि—दोनों को सिद्ध करने में निश्चय करने दे रहा है, अतः यहाँ 'अनुपलब्धिसम' प्रतिषेध है॥ २९॥

इसका उत्तर है—

अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक होने से वह अहेतु है॥ ३०॥

आवरणाद्यनुपलब्धिर्नास्ति; अनुपलम्भादित्यहेतुः। कस्मात्? अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः। उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः। यदस्ति तदुपलब्धेर्विषयः, 'उपलब्ध्या तदस्ति' इति प्रतिज्ञायते। यन्नास्ति तदनुपलब्धेर्विषयः, 'अनुपलभ्यमानं नास्ति' इति प्रतिज्ञायते। सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरनुपलम्भ उपलब्ध्यभावेऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्तमानो न स्वं विषयं प्रतिषेधयति। अप्रतिषिद्धा चावरणाद्यनुपलब्धिर्हेतुत्वाय कल्पते। आवरणादीनि तु विद्यमानत्वादुपलब्धेर्विषयाः, तेषामुपलब्ध्या भवितव्यम्। यत्तानि नोपलभ्यन्ते तदुपलब्धेः स्वविषयप्रतिपादिकाया अभावादनुपलम्भादनुपलब्धेर्विषयो गम्यते--न सन्त्यावरणादीनि शब्दस्याग्रहणकारणनीति। अनुपलम्भादनुपलब्धिः सिद्धयति[1], विषयः स तस्येति[2] ॥ ३० ॥

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

अहेतुरिति वर्त्तते। शरीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ

'आवरणाद्यनुपलब्धि अनुपलम्भ होने से नहीं है'—यह अहेतु है; क्योंकि अनुपलब्धि अनुपलम्भस्वरूप है। अर्थात् अनुपलब्धि उपलम्भाभावमात्र है। हम इतनी प्रतिज्ञा करते हैं कि यहाँ जो उपलब्धि का विषय है 'उपलब्धि से वह है'; जो नहीं है वह अनुपलब्धि का विषय है। 'अनुपलभ्यमान वह नहीं है'। अतः यह आवरणादि का अनुपलम्भ उपलब्ध्यभावरूप स्वविषय अनुपलब्धि में प्रवृत्त होता हुआ अपने विषय (अनुपलब्धि) का प्रतिषेध नहीं कर ा। यों आवरणाद्यनुपलब्धि अप्रतिषिद्ध होती हुई हेतु बन सकती है। आवरणादि तो विद्यमान होने के कारण उपलब्धि के विषय हैं, न कि अनुपलब्धि के। अतः उनकी उपलब्धि ही होनी चाहिए। जब वे उपलब्ध नहीं होते तब उनकी अनुपलब्धि अभावव्यवस्थापिका बन जाती है, यों अनुपलब्धि नहीं; अपितु स्वविषय की प्रतिपादक उपलब्धि का अभाव अर्थात् योग्यानुपलब्धि ही अभाव को बोधित करती है। तात्पर्य यह है कि स्वविषयप्रतिपादक उपलब्धि के अभाव से आवरणादि की उपलब्धि नहीं होती अतः उनका अभाव कैसे हो पायेगा? इस पर कहते हैं—अनुपलम्भ से अनुपलब्धि का विषय गृहीत होता है। अतः ज्ञात होता है कि अनुपलब्धि में आवरणादि शब्द के अग्रहणकारण हो सकते हैं। उपलब्धिनिषेधक अनुपलम्भ प्रमाण से आवरण की अनुपलब्धि होती हुई अपने अनुपलम्भ का विषय सिद्ध होती है ॥ ३० ॥

ज्ञानविकल्पों के भाव (सत्ता) तथा अभाव के आत्मा में अनुभव से भी ॥ ३१ ॥

यह हेतु नहीं हो सकता। प्राणियों के मन द्वारा आत्मा में ज्ञानविकल्पों के भावाभाव

---

१. अनुपलम्भात्तूपलब्धिनिषेधकात् 'प्रमाणात्नुपलब्धिरावरणस्य सिध्यति' इति तात्पर्यकृतः।

२. 'विषयः स तस्य। उपलब्धिनिषेधकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धिः, ततश्च आवरणाद्यभाव इति द्रष्टव्यम्' इति तात्पर्यकृतः।

संवेदनीयौ—'अस्ति मे संशयज्ञानम्, नास्ति मे संशयज्ञानम्' इति। एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिज्ञानेषु। सेयमावरणाद्यनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावः स्वसंवेद्यः—'नास्ति मे शब्दस्याऽऽवरणाद्युपलब्धिः' इति, नोपलभ्यन्ते शब्दस्याग्रहणकारणान्यावरणादीनीति। तत्र यदुक्तम्—'तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धिः' इति, एतन्नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

अनित्यसमप्रकरणम् [३२-३४]

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥ ३२ ॥

अनित्येन घटेन साधर्म्यात्—'अनित्यः शब्दः' इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यमनिष्टं सम्पद्यते। सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानात्—अनित्यसम इति ॥ ३२ ॥

अस्योत्तरम्—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥ ३३ ॥

प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिर्वर्तकम्, प्रतिपक्षलक्षणं प्रतिषेधः, तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोगः। तद्यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वस्या-

---

अनुभूत होते रहते हैं, जैसे—'यहाँ मुझे संशयज्ञान है' 'यहाँ नहीं है'। इसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा स्मृति में मी ज्ञानविकल्प समझ लेने चाहिये। आवरणद्यनुपलब्धि के रूप में उपलब्ध्यभावस्वरूप से स्वसंवेद्य किया जाता है, जैसे—'मुझे शब्द की आवरणाद्युपलब्धि नहीं हो रही है।' शब्द के रूप में अग्रहणकारण आवरणादि उपलब्ध नहीं होते ! अतः आपका यह कहना कि उसकी अनुपलब्धि के अनुलम्भ से उसका अभाव सिद्ध होता है—उचित नहीं ॥ ३१ ॥

अब 'अनित्यसम' का लक्षण कर रहे हैं—

सादृश्य से तुल्यधर्म की उपपत्ति द्वारा सब में अनित्यत्व के प्रसंग से 'अनित्यसम' प्रतिषेध बनता है ॥ ३२ ॥

जैसे—'अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द अनित्य है'—ऐसा कहने पर प्रतिवादी यह कहें कि 'घट भी एक पदार्थ है, उसके साथ पदार्थत्वेन साधर्म्य होने से सब पदार्थ अनित्य होंगे। उसका यह अनित्यत्व से प्रतिषेध 'अनित्यसम' कहलाता है ॥ ३२ ॥

इसका उत्तर—

साधर्म्य से असिद्धि मानने पर प्रतिषेध्यसाधर्म्य से प्रतिषेध की भी असिद्धि होने लगेगी ॥ ३३ ॥

प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्त वाक्य पक्ष स्थापित करता है। प्रतिषेधवाक्य प्रतिषेधस्थापक है, उसका प्रतिषेध्य पक्ष के साथ प्रतिज्ञाद्यवयव से साधर्म्य है, अब आप यदि अनित्यसाधर्म्य

सिद्धिः ? साधर्म्यादसिद्धः प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः; प्रतिषेध्येन साधर्म्यादिति ॥३३॥

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्ते यः खलु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते, स हेतुत्वेनाभिधीयते। स चोभयथा भवति—केनचित् समानः, कुतश्चिद्विशिष्टः। सामान्यात्साधर्म्यम्, विशेषाच्च वैधर्म्यम्। एवं साधर्म्यविशेषो हेतुर्नाविशेषेण साधर्म्यमात्रम्, वैधर्म्यमात्रं वा। साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं चाऽऽश्रित्य भवानाह—'साधर्म्यात् तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः' इति, एतदयुक्तमिति।

अविशेषसमप्रतिषेधे (५. १. २४) च यदुक्तं तदपि वेदितव्यम् ॥ ३४ ॥

नित्यसमप्रकरणम् [३५-३६]

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥ ३५ ॥

'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञायते, तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यम् ? यदि तावत् सर्वदा भवति, धर्मस्य सदा भावाद्धर्मिणोऽपि सदा भाव इति नित्यः

से अनित्यत्वासिद्धि मानोगे तो साधर्म्य से भी प्रतिषेध की असिद्धि होगी, कारण उसमें प्रतिषेध्यसाधर्म्य भी है।

अथ च—

दृष्टान्त में साध्य साधन भाव से प्रज्ञात धर्म के हेतुत्व से तथा उसके उभयथा रहने से भी प्रतिषेध नहीं बनता ॥ ३४ ॥

दृष्टान्त में जो धर्म साध्यसाधनभाव से प्रज्ञात होता है, वह 'हेतु' कहलाता है। वह उभयथा होता है—किसी के साथ वह उनमें सामान्य रूप साधर्म्य से होता है, किसी के साथ विशिष्ट (भेदक), अर्थात् वह दोनों में नहीं रहता है। सामान्य से वह 'साधर्म्य' तथा विशेष से 'वैधर्म्य' कहलाता है। इस प्रकार, साधर्म्यविशेष से कहा जानेवाला हेतु सामान्यतया सर्वत्र साधर्म्य या वैधर्म्य नहीं होता। अतः आप का केवल साधर्म्य तथा वैधर्म्य को लेकर यह कहना कि—"साधर्म्य से समानधर्मोपादन द्वारा सब कुछ की अनित्यत्वप्रसक्ति से 'अनित्यसम' होता है"—अयुक्त ही है।

पूर्वोक्त (५.१.२४) 'अविशेषसम' जाति का प्रतिषेध करते समय हमने जो कुछ कहा है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

'नित्यसम' का लक्षण करते हैं—

अनित्यत्व के नित्य रहने तथा अनित्य में नित्यत्व उपपन्न होने से 'नित्यसम' प्रतिषेध होता है ॥ ३५ ॥

'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा की जा रही है, यहाँ यह अनित्यत्व शब्द में नित्य रहता है या अनित्य ? यदि नित्य रहता है तो इस धर्म के सदा अपेक्षित होने से

शब्द इति। अथ न सर्वदा भवति, अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः। एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानात्—नित्यसमः ॥ ३५ ॥

अस्योत्तरम्—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

प्रतिषेध्ये शब्दे नित्यमनित्यत्वस्य भावादित्युच्यमाने, अनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम्। अनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते। अथ नाभ्युपगम्यते नित्यमनित्यत्वस्य भावादिति हेतुर्न भवतीति हेत्वभावात् प्रतिषेधानुपपत्तिरिति।

उत्पन्नस्य निरोधादभावः—शब्दस्यानित्यत्वम्, तत्र परिप्रश्नानुपपत्तिः। सोऽयं प्रश्नः–'तदनित्यत्वं किं शब्दे सर्वदा भवति, अथ न?' इत्यनुपपन्नः, कस्मात्? उत्पन्नस्य यो निरोधादभावः शब्दस्य तदनित्यत्वम्, एवं च सत्यधिकरणाधेयविभागो व्याघातान्नास्तीति।

नित्यानित्यत्वविरोधाच्च। नित्यत्वमनित्यत्वं च एकस्य धर्मिणो धर्माविति विरुध्येते, न सम्भवतः। तत्र यदुक्तम्–नित्यमनित्यत्वस्य भावाद् नित्य एव, तदवर्तमानार्थमुक्तमिति ॥ ३६ ॥

तद्वान् धर्मी भी नित्य रहेगा तो अनित्य शब्द नित्य हो गया ! यदि सदा नहीं रहता तो अनित्यत्व के अभाव से पुनः शब्द नित्य हो गया। यों नित्यत्व से प्रतिषेध 'नित्यसम' कहलाता है ॥ ३५ ॥

इसका उत्तर—

'प्रतिषेध्य में अनित्यभाव सर्वदा रहने से अनित्य में भी अनित्यत्वोपपत्ति बन जाने से प्रतिषेध नहीं होगा ॥ ३६ ॥

'प्रतिषेध्य शब्द में अनित्यत्व के नित्य रहने से' ऐसा कहने पर शब्द का अनित्यत्व स्वीकार कर लिया गया, इस प्रकार अनित्य शब्द में अनित्यत्वोपपत्ति से 'शब्द अनित्य नहीं है' यह प्रतिषेध नहीं बनता। यदि ऐसा नहीं मानते तो अनित्यत्व के नित्य होने से वह हेतु नहीं बनेगा, यों हेत्वभाव से प्रतिषेध नहीं बनेगा।

शब्द के अनित्यत्व से तात्पर्य है उत्पन्न के निरोध से अभाव। इस स्थिति में प्रश्न ही नहीं बनता कि क्या 'शब्द में अनित्यत्व सर्वदा रहता है या नहीं?' क्योंकि उत्पन्न के निरोध से अभाव रूप शब्द में अनित्यत्व रहेगा कैसे? वह है नहीं। इस प्रकार परस्पर विरोध से आधाराधेयविभाग नहीं है।

नित्यानित्यविरोध से भी। एक धर्मी में नित्यत्व अनित्यत्व—ये दो धर्म विरुद्ध होने से असम्भव हैं। अतः वह कहना कि 'अनित्यत्व के नित्य रहने से वह नित्य ही है'—अर्थशून्य है ॥ ३६ ॥

कार्यसमप्रकरणम् [३७-३८]

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः ॥ ३७ ॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति—यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत् खल्वभूत्वा भवति, यथा घटादिकार्यम्, अनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद् विज्ञायते। एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते। प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनाम्, व्यवधानापोहाच्चाभिव्यक्तिर्व्यवहितानाम्, तत्किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्य, आहोऽभिव्यक्तिरिति ?—विशेषो नास्ति। कार्याविशेषेण प्रत्यवस्थानम्—कार्यसमः ॥ ३७ ॥

अस्योत्तरम्—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः[1] ॥ ३८॥

सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्तौ। यत्र प्रयत्नान्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति। न तु शब्दस्यानुपलब्धिकारणं किञ्चिदुपपद्यते, यस्य प्रयत्नानन्तर-

---

'कार्यसम' का लक्षण करते हैं—

प्रयत्न से उत्पादित कार्यों के अनेक होने से भी शब्द अनित्य है ॥ ३७ ॥

'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है'—यह स्थापनावाक्य है। जिसकी प्रयत्न के बाद सत्ता होती है, वह पहले न होता हुआ होता है, जैसे—घटादि। 'अनित्य' उसे कहते हैं जो होकर न हो। ऐसा मानने पर, प्रयत्न के अनेक कार्य होने से सूत्रोक्त प्रतिषेध कहा जाता है। जैसे एक प्रयत्नानन्तर आत्मलाभ तो घटादि का देखा जाता है। दूसरा प्रयत्नानन्तर व्यवधान के अपोह से व्यवहितों की 'अभिव्यक्ति' देखी जाती है। इनमें से प्रयत्नानन्तर शब्द का आत्मलाभ है या अभिव्यक्ति—इसमें कोई निश्चायक हेतु नहीं दिया। यों कार्यसामान्य से प्रतिषेध 'कार्यसम' कहलाता है ॥ ३७ ॥

इसका उत्तर है—

कार्यद्वैविध्य होने पर भी प्रयत्न का अहेतुत्व ही है; अनुपलब्धिकारणोपपादन होने से ॥ ३८ ॥

कार्यद्वैविध्य होने पर भी, अनुपलब्धिकारणोपपादन पहले हो चुका है, अतः शब्द की अभिव्यक्ति में प्रयत्न का अहेतुत्व ही है। जहाँ अभिव्यक्ति प्रयत्नानन्तर है, वहाँ अनुपलब्धिकारण व्यवधानरूप होने से उपपन्न होता है। वहाँ व्यवधानापोह से प्रयत्नान्तरभावी अर्थ की उपलब्धिलक्षण अभिव्यक्ति होती है, शब्द का अनुपलब्धिकारण ऐसा कोई व्यवधान उपपन्न नहीं होता है, जिससे प्रयत्नानन्तर व्यवधान के अपोह से

---

१. 'अनुपलब्धिकारणानुपपत्तेः'—इति पाठा०।

मपोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति । तस्मात् 'उत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यते' इति ॥ ३८ ॥

षट्पक्षीप्रकरणम् [३९-४०]

हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपाद्यते, अनैकान्तिकत्वादसाधकः स्याद् इति । यदि चानैकान्तिकत्वादसाधकत्वम्;

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः । किञ्चित् प्रतिषेधति, किञ्चिन्नेति—अनैकान्तिकत्वादसाधक इति । अथ वा—शब्दस्यानित्यत्वपक्षे प्रयत्नानन्तरमुत्पादो नाभिव्यक्तिरिति विशेषहेत्वभावः । नित्यत्वपक्षेऽपि प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिर्नोत्पाद इति विशेषहेत्वभावः । सोऽयमुभयपक्षसमो विशेषहेत्वभाव इत्युभयमप्यनैकान्तिकमिति ॥ ३९ ॥

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

शब्द की उपलब्धिलक्षण अभिव्यक्ति होती हो । अतः यही मानना चाहिये कि 'शब्द उत्पन्न होता है न कि अभिव्यक्त' ॥ ३८ ॥

[इस प्रकार चौवीस जातियों का क्रमशः लक्षण तथा प्रत्याख्यानोपाय बताते हुए, शब्दानित्यत्व भी साथ-साथ सिद्ध कर दिया गया । अब षट्पक्षीरूप कथाभास का प्रसंग उठा रहे हैं—]

'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण, घट की तरह'—यह स्थापनावादी का **प्रथम** पक्ष है । यहाँ हेतु में व्यभिचार दोष दिखाकर 'व्यभिचार होने से प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु शब्दानित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकता' यह **द्वितीय** पक्ष प्रतिवादी का है । यदि व्यभिचार होने से हेतु साध्य का असाधक है तो

प्रतिषेध में भी समानदोष है ॥ ३९ ॥

प्रतिषेध भी व्यभिचरित है; क्योंकि वह किसी में नित्यत्व का प्रतिषेध करता है, किसी में नहीं । यों अनैकान्तिक होने से प्रतिषेध भी असाधक है । यह **तीसरा** पक्ष है ।

अथवा—शब्द के अनित्यत्वपक्ष में प्रयत्न के पश्चात् उत्पाद है, अभिव्यक्ति नहीं'—इसमें कोई विशेष हेतु नहीं दिया गया । उधर नित्यत्वपक्ष में 'प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति है, उत्पाद नहीं'—इसमें भी कोई विशेष हेतु नहीं दिया गया । इस प्रकार, दोनों ही पक्षों में विशेषहेत्वभाव समान है, अतः यहाँ अनैकान्तिक दोष है ॥ ३९ ॥

[प्रसङ्गोपात्त एक बात बीच में ही कह रहे हैं—]

सर्वत्र ऐसा ही है ॥ ४० ॥

सर्वेषु साधर्म्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र यत्राविशेषो दृश्यते, तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यत इति ॥ ४० ॥

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद् दोषः ॥ ४१ ॥

योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः—अनैकान्तिकत्वमापद्यते, सोऽयं प्रतिषेधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः । तत्र 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इति साधनवादिनः स्थापना, प्रथमः पक्षः । 'प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः' इति दूषणवादिनः प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः, स च 'प्रतिषेधः' इत्युच्यते । तस्यास्य 'प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः' इति तृतीयः पक्षो 'विप्रतिषेधः' उच्यते । तस्मिन् प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वं चतुर्थः पक्षः ॥ ४१ ॥

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥४२॥

प्रतिषेधं द्वितीय पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुक्त्वाऽनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे तृतीयपक्षे समानमनैकान्तिकत्वमिति समानं दूषणं प्रसजतो दूषणवादिनो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति पञ्चमः पक्षः ॥ ४२ ॥

सभी 'साधर्म्यसम' प्रभृति प्रतिषेधहेतुओं (जातियों) में, जहाँ जहाँ विशेष नहीं दिखायी देता, वहाँ दोनों ही पक्षों में समान दोष आता है ।। ४० ॥

[पुनः प्रकृत में आते हैं—]

प्रतिषेध के विप्रतिषेध (खण्डन) में प्रतिषेध के समान ही दोष हैं ॥ ४१ ॥

यह जो प्रतिषेध में सर्वत्र समान दोष—व्यभिचार—बतलाया था, वह प्रतिषेध के खण्डन में भी समान ही है । यह चतुर्थ पक्ष हुआ ।

यहाँ क्रमशः—१. 'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है'—यह प्रथमपक्ष है । २. 'प्रयत्न के अनेक कार्य होने से यहाँ कार्यसम दोष है'—यह हेतुपुरस्सर प्रतिषेधात्मक द्वितीयपक्ष है । ३. 'दोनों पक्षों में व्यभिचारदोष समानरूप से है'—यह विप्रतिषेधात्मक तृतीयपक्ष है । तथा ४. 'प्रतिषेध का खण्डन करने में भी व्यभिचाररूप समान दोष है'—यह चतुर्थपक्ष है ॥ ४१ ॥

अब पञ्चमपक्ष कहते हैं—

दोषयुक्त को प्रतिषेध मानकर प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समानदोष प्रसङ्ग उठाना 'मतानुज्ञा' (निग्रहस्थान या स्वीकृति) है ॥ ४२ ॥

प्रतिषेधपरक द्वितीय पक्ष को दोषयुक्त मानकर उसका खण्डन न कह कर, अपितु स्वीकार करके प्रतिषेधके खण्डनपरक तृतीय पक्ष में समान अनैकान्तिकत्व है, अतः ऐसा कहनेवाले को दूषण प्रसक्त होने की दशा में दोषवादी की 'मतानुज्ञा' प्रसक्त हुई । यह पञ्चम पक्ष है ॥ ४२ ॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोष इति ॥ ४३ ॥

स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति दोषः स्थापनाहेतुवादिनः स्वपक्षलक्षणो भवति। कस्मात्? स्वपक्षसमुत्थत्वात्। सोऽयं स्वपक्षलक्षणं दोषमपेक्षमाणोऽनुद्धृत्यानुज्ञाय प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्युपपद्यमानं दोषं परपक्षे उपसंहरति। इत्थं चानैकान्तिकः प्रतिषेध इति हेतुं निर्दिशति। तत्र स्वपक्षलक्षणापेक्षयोपपद्यमानदोषोपसंहारे हेतुनिर्देशे च सत्यनेन परपक्षोऽभ्युपगतो भवति। कथं कृत्वा? यः परेण प्रयत्नकार्यानेकत्वादित्यादिनाऽनैकान्तिकदोष उक्तः, तमनुद्धृत्य 'प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः' इत्याह। एवं स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोषं प्रसजतः परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोषो भवति। यथा परस्य प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति, तथाऽस्यापि स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोषं प्रसजतो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति। स खल्वयं षष्ठः पक्षः।

तत्र खलु स्थापनाहेतुवादिनः प्रथमतृतीयपञ्चमपक्षाः, प्रतिषेधहेतुवादिनः द्वितीयचतुर्थषष्ठपक्षाः। तेषां साध्वसाधुतायां मीमांस्यमानायां चतुर्थषष्ठयोरर्था-

---

अपने पक्ष में दोष के लक्षण की अपेक्षा से हेतु के निर्देश में, परपक्ष में दोष मानने से अथवा उपपादन के उपसंहार से, दोष देखने में समान दोष है ॥ ४३ ॥

'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है'—इस स्थापनापक्ष में प्रयत्नकार्यानेकत्वहेतु से दोषोद्भावन स्थापनाहेतुवादी (प्रतिपक्षी) का स्वपक्षलक्षण है; क्योंकि वह इसी हेतु से अपना पक्ष समुपस्थापित कर रहा है। वह स्थापनावादी स्वपक्षलक्षण दोष को समझता हुआ भी उसे न हटाकर, यों उसे स्वीकार करता हुआ 'प्रतिषेध में भी समान दोष है' ऐसा कहकर, उपपन्न दोष को परपक्ष में उपसंहृत करता है, और इस तरह प्रतिषेध अनैकान्तिक हेतुदोष का निर्देश करता है। वहाँ स्वपक्षलक्षण की अपेक्षा से उपपद्यमान दोष का उपसंहार तथा हेतु का निर्देश होने पर परपक्ष में दोष स्वीकृत होता है। कैसे? वह प्रतिपक्षी द्वारा कहा गया 'प्रयत्नकार्यों के अनेक होने से' इत्यादि हेतु में अनैकान्तिक दोष का खण्डन किये विना, 'प्रतिषेध में भी समान दोष है'—ऐसा कहता है। इसी तरह प्रतिपक्षी की सदोष स्थापना को स्वीकार कर प्रतिषेध में भी समान दोष देते हुए परपक्ष को स्वीकार करता है, अतः उक्त मत में भी समान दोष आता है। अतः जैसे प्रतिपक्षी के प्रतिषेध को सदोष समझकर प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समान दोष 'मतानुज्ञा' प्रसक्त होता है, उसी तरह इसके स्थापनापक्ष को भी सदोष मानकर प्रतिषेध में समान दोष प्रसक्त करने वाले को 'मतानुज्ञा' प्रसक्त होगी। यह षष्ठ पक्ष है।

यहाँ—प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम पक्ष स्थापनाहेतुवादी के हैं; तथा द्वितीय, चतुर्थ एवं षष्ठ पक्ष प्रतिषेधहेतुवादी के हैं। इन पक्षों को साधुता, असाधुता का विचार करने

विशेषात् पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः। चतुर्थपक्षे समानदोषत्वं परस्योच्यते–प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोष इति; षष्ठेऽपि परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोष इति समानदोषत्वमेवोच्यते, नार्थविशेषः कश्चिदस्ति। समानस्तृतीयपञ्चमयोः पुरुक्तदोषप्रसङ्गः। तृतीयपक्षेऽपि 'प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः' इति समानत्वमभ्युपगम्यते। पञ्चमपक्षेऽपि प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गोऽभ्युगम्यते, नार्थविशेषः कश्चिदुच्यत इति। तत्र पञ्चमषष्ठपक्षयोः अर्थाविशेषात् पुनरुक्तदोषः, तृतीयचतुर्थयोर्मतानुज्ञा, प्रथमद्वितीययोर्विशेषहेत्वभाव इति—षट्पक्ष्यामुभयोरसिद्धिः।

कदा षट्पक्षी ? यदा 'प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः' इत्येवं प्रवर्त्तते, तदोभयोः पक्षयोरसिद्धिः। यदा तु 'कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः' इत्यनेन तृतीयपक्षो युज्यते, तदा विशेषहेतुवचनात् 'प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्य नाभिव्यक्तिः' इति सिद्धः प्रथमपक्षः, न षट्पक्षी प्रवर्तत इति॥ ४३॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

●

पर चतुर्थ तथा पष्ठ पक्ष में अर्थ भिन्न न होने से पुनरुक्त दोष हैं; क्योंकि चतुर्थ पक्ष में प्रतिषेध के खण्डन में 'प्रतिषेध दोष की तरह दोष ही हैं'—ऐसा कहकर दूसरे को समानदोष दिया जाता है, तथा षष्ठ पक्ष में भी 'परपक्ष की स्वीकृति से समान दोष ही ही है'—ऐसा कहने से समानदोषत्व के अतिरिक्त कोई नयी बात नहीं कही गयी। इसी प्रकार तृतीय तथा पञ्चम पक्ष में भी पुनरुक्त दोष ही है। तृतीय पक्ष में 'प्रतिषेध में भी समान दोष हैं' ऐसा कहने से समानत्व ही कहा जा रहा है, तथा पञ्चमपक्ष में भी प्रतिषेध के खण्डन में समानदोष-प्रसङ्ग स्वीकार किया जा रहा है, कोई नयी बात नहीं कही जा रही। इस प्रकार पञ्चम तथा षष्ठ पक्ष में भिन्न अर्थ न होने से पुनरुक्त दोष है, तृतीय तथा चतुर्थ में मतानुज्ञा है, प्रथम तथा द्वितीय में विशेषहेत्वभाव है—यों इस षट्पक्षी में वादी, प्रतिवादी दोनों में से किसी के भी पक्ष की सिद्धि (तत्त्वनिर्णय) नहीं होगी।

यह षट्पक्षी कब होती है ? जब 'प्रतिषेध में समान दोष हैं'—ऐसा कहा जाता हैं, तब दोनों ही पक्षों की असिद्धि है। किन्तु जब 'कार्यान्यत्व में प्रयत्नाहेतुत्व अनुपलब्धिकारणोपपादन से सिद्ध हैं'—ऐसा तीसरा पक्ष रखा जाता है तब विशेषहेतु-वचन से शब्द का प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है, न कि अभिव्यक्ति। यों प्रथम पक्ष ही सिद्ध है—ऐसा तत्त्वनिर्णय हो जाता है। तब यह षट्पक्षी प्रवृत्त नहीं होती॥ ४३॥

वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन) में पञ्चमाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त

●

[द्वितीयमाह्निकम्]

विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वमिति सङ्क्षेपेणोक्तम् (१.२.२०), तदिदानीं विभजनीयम्। निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनं चाभिसम्प्लवन्ते। तेषां विभागः—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

तानीमानि द्वाविंशतिधा विभज्य लक्ष्यन्ते ॥ १ ॥

निग्रहस्थानपञ्चकप्रकरणम् [२–६]

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥

साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति 'प्रतिज्ञाहानिः'। निदर्शनम्–'ऐन्द्रियकत्वादनित्यः

'विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विकल्प से वहुत से निग्रहस्थान हैं' ऐसा हम पीछे (१. २. २०) संक्षेप से वता आये हैं। उसका अब विस्तार से वर्णन करना चाहिये। निग्रहस्थान वे होते हैं जिनमें जकड़े जाने से वादी या प्रतिवादी पराजय पा सकते हैं। ये निग्रहस्थान पराजयाधिकरण हैं तथा प्रतिज्ञादि अवयवों का आश्रय लिये रहते हैं। और वादी प्रतिवादी को किङ्कर्तव्यविमूढ बनाते है, अतः इनका ज्ञान भी होना आवश्यक है। उन निग्रहस्थानों का विभाग (परिगणन) यह है—

१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त तथा २२. हेत्वाभास—ये निग्रहस्थान हैं ॥ १ ॥

इन बाईस प्रकार से विभक्त निग्रहस्थानों का वक्ष्यमाण सूत्रों में लक्षण करेंगे ॥१॥

उनमें प्रथम 'प्रतिज्ञाहानि' निग्रहस्थान का लक्षण कर रहे हैं—

परपक्ष के धर्म को मानना अपने पक्ष में 'प्रतिज्ञाहानि' कहलाता है ॥ २ ॥

वादी स्थापनापक्ष उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी वादिसाध्यरूप धर्म का विरुद्ध धर्म से प्रत्याख्यान करता है, और प्रतिदृष्टान्त भी कहता है। अब यदि वादी प्रतिवाद्युक्त प्रतिदृष्टान्तधर्म (साध्यविरुद्ध धर्म) को (स्वदृष्टान्त में) स्वीकार कर लेता हो तो प्रतिज्ञा को छोड़ बैठता है यह उसकी प्रतिज्ञाहानि है। उदाहरण के लिये—'ऐन्द्रियक

शब्दो घटवत्' इति कृते, अपर आह—'दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये, कस्मान्न तथा शब्दः' इति प्रत्यवस्थिते, इदमाह—'यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्तु' इति। स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति, पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते; प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति ॥ २ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञातार्थः अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात् घटवत्' इत्युक्ते योऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः'सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्' इति,तस्मिश्च प्रतिज्ञातार्थ-प्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोःसाधर्म्ययोगे धर्मभेदात्'सामान्य-मैन्द्रियकं सर्वगतम्, ऐन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घटः' इति धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थम्, कथम् ? यथा घटोऽसर्वगतः, एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवा-नित्य इति। 'तत्रानित्यः शब्द' इति पूर्वा प्रतिज्ञा, 'असर्वगतः' इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरम्। तत्कथं निग्रहस्थानमिति ? न प्रतिज्ञायाः साधनं प्रतिज्ञान्तरम्, किन्तु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः, तदेतदसाधनोपादान-मनर्थकमिति। आनर्थक्यान्निग्रहस्थानमिति ॥ ३ ॥

होने से शब्द अनित्य है, घट की तरह'—ऐसा प्रयोग करने पर प्रतिवादी कहे—'यह ऐन्द्रियकत्व सामान्य नित्य में भी देखा गया है, तो शब्द भी नित्य क्यों न मान लिया जाये', इसे सुनकर वादी कहे कि 'यदि ऐन्द्रियकसामान्य नित्य है तो क्यों न घट भी नित्य मान लिया जाये !' यों यह वादी प्रतिवाद्युक्त ऐन्द्रियकत्व हेतु से नित्यत्व स्वीकार कर अपने पक्ष को निगमनान्त तक सिद्ध न कर सका। यों पक्ष को छोड़ता हुआ वह अपनी प्रतिज्ञा से भी च्युत हो गया; क्योंकि प्रतिज्ञा पक्षाश्रित ही होती है ॥ २ ॥

प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध होने पर धर्मविकल्प से उस अर्थ के निर्देश को 'प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान कहते हैं ॥ ३ ॥

वादी (वैशेषिक) द्वारा 'शब्द अनित्य है, ऐन्द्रियक होने से, घट की तरह' यह प्रतिज्ञातार्थ कहने पर, इसका 'सामान्य ऐन्द्रियक नित्य होता है' इस प्रकार प्रतिदृष्टान्त से प्रतिवादी (मीमांसक ने) प्रतिषेध किया, इस ऐन्द्रियक में अनित्यत्व के प्रतिषेध में प्रति-वादी द्वारा 'सामान्य ऐन्द्रियक सर्वगत होता है, यह दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त में साधर्म्य होते हुए भी धर्मविकल्प है, जैसे सामान्य सर्वगत है। घट असर्वगत इस दशा में असर्व-गतत्व मान कर 'घट असर्वगत होने से अनित्य है तो शब्द भी असर्वगत है, वह भी घट की तरह अनित्य है'। इसके पूर्व 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा थी, अभी 'शब्द असर्वगत है' यह दूसरी प्रतिज्ञा हुई। इसे ही 'प्रतिज्ञान्तर' कह देते हैं। यह निग्रहस्थान कैसे हुआ ? प्रतिज्ञा का साधन 'प्रतिज्ञान्तर' नहीं, अपितु हेतु दृष्टान्त होते हैं, वह न देकर प्रतिज्ञा का साधन करना 'प्रतिज्ञान्तर' है। यों साधन प्रकट न करने से प्रतिज्ञा निरर्थक हो गयी और वादी पराजित हो गया। अतः यह 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रहस्थान है ॥ ३ ॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः। कथम् ? यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यम्, रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते। अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, 'गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यम्' इति नोपपद्यते, गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते = व्याहन्यते, न सम्भवतीति ॥ ४ ॥

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥

'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वात्' इत्युक्ते परो ब्रूयात्—'सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्यः' इति। एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात्—'कः पुनराह अनित्यः शब्दः' इति ! सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिह्नवः प्रतिज्ञासंन्यास इति ॥ ५ ॥

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥

निदर्शनम्—'एकप्रकृतीदं व्यक्तम्' इति प्रतिज्ञा, कस्माद्धेतोः ? एकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात्। मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणम्। यावान् प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान् विकार इति, दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम्।

प्रतिज्ञा तथा हेतु का परस्पर विरोध 'प्रतिज्ञाविरोध' कहलाता है ॥ ४ ॥

'द्रव्य गुणव्यतिरिक्त है'—यह प्रतिज्ञा हुई। 'रूपादि से अर्थान्तर की उपलब्धि न होने से'—यह हेतु है। यहाँ प्रतिज्ञा-हेतु का विरोध है। कैसे ? यदि द्रव्य गुणव्यतिरिक्त है तो रूपादि से अर्थान्तर की अनुपलब्धि उपपन्न नहीं होती। तथा यदि रूपादि से अर्थान्तर की अनुपलब्धि है तो 'द्रव्य गुणव्यतिरिक्त है'—यह उपपन्न नहीं होता। द्रव्य गुणव्यतिरिक्त हो तथा रूपादि से अर्थान्तर की अनुपलब्धि भी हो ये दोनों विषय परस्पर विरुद्ध हैं, यों विरुद्ध होने से ये दोनों बातें (प्रतिज्ञा और हेतु) एक साथ सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

स्वपक्षप्रतिषेध होने पर प्रतिज्ञातार्थ को छिपाना 'प्रतिज्ञा-संन्यास' कहलाता है ॥ ५ ॥

'शब्द अनित्य है, ऐन्द्रियक होने से' ऐसा कहने पर प्रतिवादी कहे—'सामान्य ऐन्द्रियक है, पर अनित्य नहीं है; इसी तरह शब्द भी ऐन्द्रियक है; वह भी अनित्य नहीं'। यों प्रतिषिद्ध होने पर वादी यदि यह कहें—'हमने कब कहा कि शब्द अनित्य है !' यह प्रतिज्ञातार्थनिह्नव (उसको छिपाना या उससे हट जाना) 'प्रतिज्ञासंन्यास' कहलाता हैं ॥५॥

सामान्य रूप से उक्त हेतु के प्रतिषिद्ध होने पर उसमें कुछ 'विशेष' लगाकर सिद्धि चाहने वाले का 'हेत्वन्तर' निग्रहस्थान होता है ॥ ६ ॥

उदाहरण—वादी (साङ्ख्यमतानुयायी) की प्रतिज्ञा है—'व्यक्त एकप्रकृति है', किस हेतु से ? 'एकप्रकृतिक विकारों के परिमाण होने से'। मृत्तिका से बने शरावादि में परिमाण देखा जाता है, जितने प्रकार की प्रकृति का संस्थान होता है उन सभी का विकार देखा जाता है। प्रत्येक विकार में परिमाण भी देखा जाता है। यह परिमाण

अस्ति चेदं परिमाणं प्रतिव्यक्तम्, तदेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात्पश्यामः—व्यक्तमिदमेकप्रकृतीति ।

अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम्—नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति । एवं प्रत्यवस्थिते आह—एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावादिविकाराणां परिमाणदर्शनात्, सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं परिमित्तं गृह्यते, तत्र प्रकृत्यन्तररूपसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति ।

तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति । सति च हेत्वन्तरभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानम्, हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते ? नेदं व्यक्तमेकप्रकृति भवति; प्रकृत्यन्तरोपादानात् । अथ नोपादीयते ? दृष्टान्ते हेत्वर्थस्यानिर्दशितस्य साधकाभावानुपपत्तेरानर्थक्याद्धेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति ॥ ६ ॥

निग्रहस्थानचतुष्कप्रकरणम् [७–१०]

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयात् नित्यः शब्दो ऽस्पर्शत्वादिति हेतोः । हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदम्,

---

प्रत्येक में व्यक्त है । यों एकप्रकृतिक विकारों के परिमाण से सांख्यानुयायी मानते हैं—'यह व्यक्त एकप्रकृति है' ।

प्रतिवादी ईसका व्यभिचार से निषेध करता है—'नानाप्रकृतिक तथा एकप्रकृतिक ऐसे दोनों तरह के विकारों का परिमाण लोक में देखा जाता है' । यों, प्रतिषेध किये जाने पर वादी फिर कहता है—'एकप्रकृतिसमन्वय होने की अवस्था में शरावादि विकारों में परिमाण देखा जाने से, सुख-दुःख-मोह-समन्वित यह व्यक्त विशिष्टतया ही गृहीत होता है, तात्पर्य यह है कि इस हेतु में प्रकृत्यन्तररूप समन्वय के अभाव होने पर एकप्रकृतित्व है' ।

यों यह, सामान्यरूपेण उक्त हेतु के प्रतिषिद्ध होने पर, हेतुविशेष का निवेश करने पर वादी का हेत्वन्तर हो जाता है । हेत्वन्तरत्व हो जाने पर हेतु के असाधक हो जाने से वह निग्रहस्थान हो गया । हेत्वन्तरवचन होने पर भी, यदि हेत्वर्थनिदर्शन (साध्य-साधनभाव का व्याप्यव्यापकभाव से निदर्शन) के लिये दृष्टान्त का उपादान किया जाता है तो प्रकृत्यन्तरोपादान की संभावना से यह व्यक्त का एकप्रकृतित्व नहीं सिद्ध होता । तथा यदि उपादान नहीं किया जाता तो अनिर्दर्शित हेत्वर्थ में साधकत्व का उपपादन न होने से दृष्टान्त का हेतु निग्रहस्थान रह ही गया ॥ ६ ॥

प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ कहना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान है ॥ ७ ॥

यथोक्तलक्षण पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह में हेतु से साध्य-सिद्धि करना चाहने पर कोई कहे—'शब्द नित्य है' । इस में 'अस्पर्शत्व होने से'—हेतु दे । यहाँ 'हेतु' शब्द 'हि गतौ वृद्धौ च'

पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपाताः, अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम[1], क्रियाकारकसमुदायः, कारकसंख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातम्, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टम्, प्रयोगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि—तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ॥ ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

यथा 'नित्यः शब्दः कचटतपाः, जबगडदशत्वात्, झभञ्घढधषवत्' इति। एवम्प्रकारं निरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद् वर्णा एवं क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ॥ ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्ट-

---

(स्वा. ११, पाणिनीय धातु[2]) इस धातु से 'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च' इस कृदन्त (उणादि) सूत्र से 'तु' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। पद चार प्रकार के होते हैं—१. नाम, २. आख्यात (तिङन्त), ३. उपसर्ग, तथा ४. निपात। अभिधेय के क्रियान्तर-सम्वन्ध होने पर विशिष्यमाण रूप 'शब्द' नाम कहलाता है। क्रियाकारक समुदाय या कारक एवं संख्याविशिष्ट क्रिया-कालसम्बन्ध को वतलाने वाला 'आख्यात' कहलाता है। उसमें केवल धात्वर्थ कालाभिधानविशिष्ट होता है। 'निपात' प्रयोगों में अर्थों से अभिद्यमान रूप होते हैं। धातु के समीप में पहले प्रयुक्त होनेवाले 'उपसर्ग' कहलाते हैं। इत्यादि अर्थान्तर जानना चाहिये। यह अर्थान्तरनिग्रहस्थान—वादी, प्रतिवादी—दोनों को ही हो सकता है ॥ ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देश की तरह अवाचक-प्रयोग 'निरर्थक' कहलाता है ॥ ८ ॥

जैसे—'कचटतप शब्द नित्य है, ज ब ग ड द श होने से, झ भ ञ घ ढ ध ष की तरह, इस प्रकार का अवाचक प्रयोग 'निरर्थक' कहलाता है। अभिधानाभिधेय की अनुपत्ति होने से अर्थबोध नहीं होगा—ऐसा मानकर यहाँ वर्ण का ही क्रमशः निर्देश गया है।

इसी तरह भाषानभिज्ञ वादी को अपनी भाषा में हेतु देना भी 'निरर्थक' निग्रह-स्थान है ॥ ८ ॥

परिषत् तथा प्रतिवादी द्वारा तीन बार कहने पर भी यदि न समझ पावे तो उसे 'अविज्ञातार्थ' निग्रहस्थान कहते हैं ॥ ९ ॥

जो वाक्य परिषत् तथा प्रतिवादी द्वारा तीन वार बोलने पर भी न समझ में आवे. क्योंकि या तो वह वाक्य श्लिष्टपद हो, जैसे—श्वेत दौड़ता है'; या अप्रतीत प्रयोग हो,

---

१. 'यथा वृक्षस्तिष्ठति, वृक्षं छिनत्तीति भिन्नक्रियायोगादिशिष्यमाणरूपो वृक्ष-शब्दः'—इति तात्पर्याचार्याः। २. द्र०—माधवीया धातुवृत्तिः अस्मत्सम्पादिता।

शब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातम्—अविज्ञातार्थम्। असामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति ॥ ९ ॥

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥

यत्रानेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम्। यथा—दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अथ रोरुकमेतत्, कुमार्याः पाय्यम्, तस्याः पिता अप्रतिशीन इति ॥ १० ॥

निग्रहस्थानत्रिकप्रकरणम् [११–१३]

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यसेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति ॥ ११ ॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥

प्रतिज्ञादीनामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानम्; साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति ॥ १२ ॥

जैसे 'जर्फरीतु, तुर्फरीतु' आदि; या बहुत शीघ्रता में बोला जाता हो। इन अवस्थाओं में वह अविज्ञातवाक्य 'अविज्ञातार्थ' कहलाता है। ऐसा प्रयोग अपना असामर्थ्य छिपाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है ॥ ९ ॥

पौर्वापर्य सम्बन्ध से असम्बद्धार्थक को 'अपार्थक' कहते हैं ॥ १० ॥

जहाँ अनेक पदों या वाक्यों का पौर्वापर्य से अन्वयसम्बन्ध न बनता हो उसे असम्बद्धार्थ (परस्परसाकांक्षत्वरहित) कहते हैं। उस समुदाय का कोई अर्थ न लगने से वह 'अपार्थक' निग्रहस्थान है। जैसे—'दस अनार, छह पूए, कुण्ड, अज की चर्म, पललपिण्ड, यह रौरुक है, कुमारी का पेय, उसका पिता अप्रतिशीन (वृद्ध) है'—इत्यादि क्लिष्ट (असम्बद्ध) शब्दप्रयोग से एक वाक्य बोल दिया जाये जो कि अपार्थक (परस्परासम्बद्धार्थक) है ॥ १० ॥

अवयवों का विपर्यस्त वचन 'अप्राप्तकाल' कहलाता है ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञादि पांचों अवयवों का लक्षणनिर्देशानुसार अर्थ की आकांक्षावश क्रम नियत है। वहाँ अवयव-विपर्यास से बोलना असम्बद्धार्थक होता है अतः वह 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ ११ ॥

किसी एक अवयव से हीन को 'न्यून' निग्रहस्थान कहते हैं ॥ १२ ॥

प्रतिज्ञादि अवयवों में से किसी एक अवयव से हीन प्रयोग को 'न्यून' निग्रहस्थान कहते हैं; क्योंकि अवयवन्यूनता में साधनोपपादन न होने से साध्य की सिद्धि नहीं बनेगी ॥ १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

एकेन कृतत्वाद् अन्यतरस्यानर्थक्यमिति तदेतन्नियमाभ्युपगमे वेदितव्यमिति ॥ १३ ॥

पुनरुक्तनिग्रहस्थानप्रकरणम् [१४–१५]

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥

अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम् । अर्थपुरुक्तम्–अनित्यः शब्दो निरोधधर्मको ध्वनिरिति ॥ १४ ॥

अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः[1] **॥ १५ ॥**

यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति ॥ १५ ॥

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥

पुनरुक्तमिति प्रकृतम् । निदर्शनम्—उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यमित्युक्त्वा अर्थादापन्नस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयाद्—अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम् इति, तच्च पुनरुक्तं वेदितव्यम् । अर्थसम्प्रत्ययार्थे शब्दप्रयोगे प्रतीतः सोऽर्थोऽर्थापत्त्येति ॥ १६ ॥

हेतु तथा उदाहरणों की अधिकता से 'अधिक' निग्रहस्थान कहलाता हैं ॥ १३ ॥

एक ही हेतु तथा उदाहरण से काम चल जाने पर भी पुनः हेतु आदि का प्रयोग 'अधिक' निग्रहस्थान कहलाता है। परन्तु परिषद् या प्रतिवादी की जिज्ञासा हो तो अधिक हेतु या उदाहरण दिये जा सकते हैं, तब निग्रहस्थान नहीं होता ॥ १३ ॥

शब्द या अर्थ का पुनर्वचन 'पुनरुक्त' कहलाता है; अनुवाद को छोड़ कर ॥ १४ ॥

अनुवाद को छोड़कर, पुनरुक्त निग्रहस्थान 'शब्द पुनरुक्त' तथा 'अर्थ-पुनरुक्त'—यों दो प्रकार का है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है'—यह 'शब्दपुनरुक्त' हुआ। 'शब्द अनित्य है, ध्वनि निरोधधर्मक है'—यह 'अर्थपुनरुक्त' हुआ ॥ १४ ॥

अनुवाद में दो बार बोलना 'पुनरुक्त' नहीं होता, क्योंकि वहाँ शब्द के दुहराने से अर्थविशेष का बोध होता है ॥ १५ ॥

जैसे हेतुकथन के अनन्तर प्रतिज्ञा का पुनः दुहराना 'निगमन' कहलाता है ॥ १५ ॥

अर्थादापन्न (अर्थ से गृहीत) का स्वशब्द से पुनर्वचन भी ॥ १६ ॥

'पुनरुक्त' कहलाता है। उदाहरण है जैसे—'उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य है'—कहकर अर्थादापन्न वस्तु के बोधक शब्द को पुनः कहना कि 'अनुत्पत्तिधर्मक अनित्य होता है।' यह अर्थादापन्न का पुनर्वचन 'पुनरुक्त' समझना चाहिये। अर्थज्ञान के लिए शब्द-प्रयोग होने पर जिस अर्थ को अवगत कराता है वह अर्थ अर्थापत्ति से भी गृहीत हो सकता है। अतः उसका पुनर्वचन निग्रहस्थान माना गया है ॥ १६ ॥

---

१. न्यायसूचीनिबन्धेऽसंगृहीतमपीदं सूत्रं वार्तिकस्वारस्येनात्र गृहीतम्।

उत्तरविरोधिनिग्रहस्थानचतुष्कप्रकरणम् [१७-२०]

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥ १७ ॥

विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा, प्रतिवादिना वा त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति। अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात् ! ॥ १७ ॥

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १८ ॥

विज्ञातार्थस्य परिषदा, प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति ॥ १८ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥

परपक्षप्रतिषेध उत्तरम्, तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति ॥ १९ ॥

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ २० ॥

यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति—'इदं मे करणीयं विद्यते तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयामि' इति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्। एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं प्रतिपद्यत इति ॥ २० ॥

परिषद् द्वारा जाने हुए अर्थ का तीन बार कहे जाने पर भी उच्चारण न करना 'अननुभाषण' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ १७ ॥

परिषद् द्वारा जाने अर्थ को प्रतिवादी द्वारा तीन वार कहे जाने पर भी (ज्ञात वाक्यार्थ का) उच्चारण न करना 'अननुभाषण' निग्रहस्थान कहलाता है। (वादी) उच्चारण नहीं करता है तो किसका सहारा लेकर प्रतिवादी का खण्डन करेगा ! ॥१७॥

जिसे न समझ पाये वह 'अज्ञान' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ १८ ॥

प्रतिवादी द्वारा तीन वार उक्त तथा परिषद् द्वारा ज्ञात अर्थ को वादी जब न समझ पावे वह 'अज्ञान' निग्रहस्थान है । यह बिना जाने किसका खण्डन करेगा ! ॥ १८ ॥

उत्तर न देना 'अप्रतिभा' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ १९ ॥

परपक्ष का खण्डन 'उत्तर' कहलाता है, उसे जब नहीं समझता या वह नहीं स्फुरित होता है तो वादी निगृहीत हो जाता है ॥ १९ ॥

कार्य-व्यासक्तिव्याज से कथाविच्छेद करना 'विक्षेप' निग्रहस्थान कहलता है ॥२०॥

जहाँ अन्य कार्य में व्यासक्ति दिखाकर कथा (वाद) को रोक दे कि 'आज तो अब मुझे कुछ कार्य है, उसको पूरा कर उत्तर दे सकूँगा' यह 'विक्षेप' निग्रहस्थान कहलाता है। यद्यपि कार्यव्यासङ्ग से कथा रोक देने पर स्पष्टतः यह तो सिद्ध नहीं होता कि वादी को उत्तर नहीं आया, अतः कथा से उठ गया; क्योंकि हो सकता है कि कार्यावसान के वाद वह उचित उत्तर दे सके, परन्तु इस वर्तमान कथा में तो उत्तर न दे पाने से अभी तो उसका निग्रह हो ही गया। जब कार्यावसानान्तर उत्तर देगा तो वह प्रारम्भ दूसरी कथा का ही कहलायेगा ॥ २० ॥

मतानुज्ञादिनिग्रहस्थानत्रिकप्रकरणम् [२१-२३]

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २१ ॥

यः परेण चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति—भवत्पक्षेऽपि समानो दोष इति—स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषं प्रसञ्जयन् परमत-मनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यत इति ॥ २१ ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २२ ॥

पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्योपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीत्यननुयोगः । एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम्, न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति ॥ २२ ॥

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २३ ॥

निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति ॥ २३ ॥

कथकान्योक्तिनिरूप्यनिग्रहस्थानद्वयप्रकरणम् [२४-२५]

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २४ ॥

स्वपक्ष में दोषस्वीकृति से परपक्ष में दोष दिखाना 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है ॥२१॥

जो प्रतिवादी द्वारा उठाये गये दोष को अपने मत में स्वीकार करके उसको खंडित न कर कहे—'आपके पक्ष में यह दोष है', तों वह अपने पक्ष में दोष स्वीकार करता हुआ तथा परपक्ष में दोष दिखाता हुआ परपक्ष को स्वीकार करता है, यह 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है ॥ २१ ॥

निग्रहस्थानप्राप्त वादी का निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान हैं ॥२२॥

पर्यनुयोज्य का अर्थ है—निग्रहोपपादन से अभियोज्य (तिरस्करणीय)। उसकी उपेक्षा अर्थात् 'तुम निग्रहस्थान को प्राप्त हो गये हो' ऐसा न कहना यही अननुयोग है। यहाँ किसकी पराजय हुई यह परिषद् को ही निर्णय करना चाहिये । अन्यथा जो निगृहीत हो चुका, वह स्वयं अपना निगृहीतत्व क्यों स्वीकार करेगा ! ॥ २२ ॥

अनिग्रहस्थानप्राप्त को निगृहीत करना 'निरनुयोज्यानुप्रयोग' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ २३ ॥

निग्रहस्थानलक्षणक मिथ्याध्यवसाय से अनिग्रहस्थान में भी परपक्ष को 'तुम निग्रह-स्थान को प्राप्त हो चुके हो'—ऐसा कहनेवाला 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है ॥ २३ ॥

सिद्धान्त की प्रतिज्ञा करके उसमें नियम से न रह कर अन्य रीति से वाद उठाना 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान कहलाता है ॥ २४ ॥

कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययाद् अनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः। यथा 'न सदात्मानं जहाति, न सतो विनाशः, नासदात्मानं लभते, नासदुत्पद्यते' इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति– 'एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनात्। मृदन्वितानां शरावादीनां दृष्टमेकप्रकृतित्वम्, तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते, तस्मात् समन्वयदर्शनात् सुखादिभिरेकप्रकृतीदं शरीरम्' इति। एवमुक्तवाननुयुज्यते–'अथ प्रकृतिर्विकार इति कथं लक्षितव्यमिति'? यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्तते सा प्रकृतिः, यच्च धर्मान्तरं प्रवर्तते निवर्तते वा स विकार इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासादनियमात् कथां प्रसञ्जयति, प्रतिज्ञातं खल्वनेन- नासदाविर्भवति न सत्तिरोभवतीति। सदसतोश्च तिरोभावाविर्भावमन्तरेण न कस्यचित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति। मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरा-वादिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति, अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः, तदेतन्मृद्धर्मा-णमापि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चात्महानमसतश्चात्मलाभम-भ्युपैति तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति, अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिध्यति ॥ २४ ॥

किसी अर्थ के तथात्व (तद्वस्तुनिष्ठितत्व) को प्रतिज्ञात कर उस अर्थ से विपरीत अनियम से कथा-प्रसङ्ग करने वाले का 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान समझना चाहिये। जैसे कोई वादी 'सत् अपने स्वत्व को नहीं छोड़ता, सत् का नाश नहीं होता, असत् स्वरूप में नहीं रहता, असत् उत्पन्न नहीं होता।' इस सिद्धान्त को स्वीकार कर स्वपक्ष स्थापित करता है—'यह व्यक्त एक-प्रकृति है, विकारों में प्रकृति का सम्बन्ध देखा जाने से। मृत्तिकान्वित शरावादि लोक में एकप्रकृतिक देखे जाते हैं, तथा च—यह व्यक्तभेद (शरीर) सुखदुःखमोहान्वित देखा जाता है, अतः इस समन्वयदर्शन से यह शरीर-सुखादि के समन्वय से एकप्रकृति है।' ऐसा कहनेवाले इस वादी को पूछना चाहिये— 'यह प्रकृति है, यह विकार है ?'—यह भेद कैसे करें ? जिसके रहते धर्मान्तर की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर प्रवृत्त होता है वह 'प्रकृति' होती है तथा जो धर्मान्तर प्रवृत्त तथा निवृत्त होता रहता है, वह 'विकार' कहलाता है। यों, प्रतिज्ञातार्थ के विपर्यास द्वारा वादी नियम-भङ्ग कर कथा प्रारम्भ करता है। इसने प्रतिज्ञा की थी—असत् का आविर्भाव नहीं होता, सत् का तिरोभाव नहीं होता'। सत् असत् के तिरोभाव, आविर्भाव के विना किसी की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नहीं होती ! मृत्तिका के रहने पर ही शरा-वादिलक्षण धर्मान्तर होगा, अतः प्रवृत्ति हो जाती है, 'था' इस तरह विनाश हो जाता है। यह स्थिति मृत्तिका के विकारों में (उत्पाद-विनाश) नहीं हो पायेगी। इस तरह प्रतिषेध करने पर, यदि वादी सत् का नाश तथा असत् का उत्पाद स्वीकार करता है, तो यह उसका 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान हो जायेगा; यदि नहीं स्वीकार करता है तो उसका पक्ष सिद्ध नहीं होगा ॥ २४ ॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ॥

हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।

किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद् हेत्वाभासा निग्रहस्थानत्वमापन्नाः, यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वम् ? इत्यत आह—यथोक्ता इति । हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति ।

त इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः परीक्षिताश्चेति ॥ २५ ॥

योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत् ॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः

❀ समाप्तं चेदं न्यायदर्शनम् ❀

●

और यथोक्त हेत्वाभास भी ॥ २५ ॥

निग्रहस्थान है ।

क्या जैसे प्रमेयादि लक्षण के योग से प्रमाण कभी-कभी प्रमेय बन जाते हैं, उसी तरह हेत्वाभास भी किसी अन्य लक्षण के योग से निग्रहस्थान बनते हैं ? तो उनका लक्षण सूत्रकार को कहना चाहिये था ? इसी के समाधान के लिये सूत्र में 'यथोक्त' पद दिया है । अर्थात् पूर्वोक्त हेत्वाभास-लक्षणों से ही उनमें निग्रहस्थानत्व आ जायेगा ।

इस प्रकार ये प्रमाणादि पदार्थ क्रमशः गिना दिये गये, उनका लक्षण कर दिया गया, तथा तत्त्वजिज्ञासु जनों के हितार्थ उनकी यथातथ परीक्षा कर दी गयी ॥ २५ ॥

यह न्यायशास्त्र ऋषिश्रेष्ठ अक्षपाद (गौतम) को अलौकिक शक्ति द्वारा ज्ञानगोचर हुआ था, उसी न्यायशास्त्र के भाष्यरूप इस व्याख्यान की वात्स्यायन ने रचना की ॥

**वात्स्यायनीय न्यायभाष्य(सहित न्यायदर्शन)में पञ्चम अध्याय का
द्वितीय आह्निक समाप्त**

❀ पञ्चम अध्याय भी समाप्त ❀

●

❀ न्यायदर्शन समाप्त ❀

सूत्र-सूची

अस्मद्गृहीतो ग्रन्थेऽस्मिन् गौतमः सूत्रसंग्रहः ।
वाचस्पत्यनुकूलोऽयं दीयते साक्षरक्रमः ॥

प्रस्तुत भाषान्तर में अधोलिखित ग्रन्थों से सहयोग लिया गया—

न्यायवार्त्तिक	भा० उद्द्योतकरकृत
न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका	श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत
तात्पर्य-परिशुद्धि	उदयनाचार्यकृत
न्यायमञ्जरी	श्रीजयन्तभट्टकृत
न्यायसूत्रवृत्ति	श्रीविश्वनाथन्यायपञ्चाननकृत
भाष्यचन्द्रटीका	श्रीरघूत्तमनैयायिकविरचित
खद्योतटीका	डा० गंगानाथ झा विरचित
प्रसन्नपदा टीका	श्रीसुदर्शनाचार्यविरचित